

ਪੰਚਮ ਖਣਡ

रक्तवह स्रोतस् के रोग

रक्तवह स्त्रोतस् परिचय

रस-रक्तादि धातुओं का वहन करने वाले स्रोतस् उन-उन धातुओं का वहन करते हैं एवं उन स्रोतसों के दृष्ट होने पर उनमें बहने वाली धातुओं के दुष्टि के लक्षण (प्रदोषज विकार) उत्पन्न होते हैं। रक्त धातु का वहन करने वाले स्रोतस् को रक्तवह स्रोतस् कहते हैं। इसके दृष्ट होने पर रक्त प्रदोषज विकार उत्पन्न होते हैं।

रक्तवह स्रोतसु का मूल¹

रक्त वह स्रोतसु का मूल यकृत् एवं प्लीहा को माना गया है।

रक्तवह स्रोतों दुष्टि के हेतु आचार्य चरक ने रक्त वह स्रोतस के दुष्ट होने के निम्न कारण बतलाए हैं-

- विदाही अन्तराल का सेवन।
 - स्निग्ध, ऊष्ण एवं द्रव भोजन का सेवन।
 - अधिक धूप का सेवन।
 - अधिक बाय का सेवन।

रक्तवह स्नोतो दृष्टि के लक्षण³

रक्त वह स्रोतस् के दुष्ट होने पर कुष्ठ, विसर्प, पिड़िका, रक्तपित्त, रक्तप्रदर, गुदापाक, मेहूपाक, मुखपाक, प्लीयवृद्धि, गुल्म, विद्रधि, नीलिका, कामला, व्यङ्ग, पिष्टलु, तिलकालक, दहु, चर्मदल, शिवत्र, पामा, कोठ, रक्तमण्डल आदि रक्त प्रदोषज विकार उत्पन्न होते हैं।

रक्तवह स्नोतो दणि की चिकित्सा

रक्ष वह स्नोतसो के दृष्ट होने पर निम्न चिकित्सा करनी चाहिये-

- “शोणितवहनां स्रोतसां यकृ-ग्नूलं फ्लोहा च।” (च.वि. 5/8)
 - “विद्वाहीन्यतपानानि त्रिग्निपौष्णानि द्रवानि च। रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चातपानलौ॥”
(च.वि. 5/14)
 - “वृथयन्ते रक्तदोषजाः। कुछ विसर्पिष्ठिका रक्तपित्तमसृदः गुदमेत्रास्यपाकक्ष प्लीहा गुल्मोऽथ विद्रापिः। नीतिका कामला व्यञ्ज पित्तावस्ति-लकालकाः॥ दद्रुचर्मदलं खित्रं पापा कोठास्मण्डलम्॥”
(च.सू. 28/11-12)
 - “कुर्वत् शोणितरोगेषु रक्तपित्तहरी क्रियाम्। विरेकमुपवासं च स्नावणं शोणितस्य च॥”
(च.सू. 24/18)



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By

Avinash/Shashi

**[creator of
hinduism
server]**

इस रोग का नाम रक्तपित्त रखने के निम्न हेतु हैं—

1. संयोगाद्-इसमें पित्त रक्त के साथ संयुक्त रहता है तथा रक्त और पित्त एक दूसरे में मिल जाते हैं।
2. दूषणात्-इसमें पित्त के द्वारा रक्त की दुष्टि होती है।
3. गंधवर्णयोः सामान्यात्-रक्त एवं पित्त समान गंध एवं वर्ण के होते हैं अर्थात् दोप पित्त एवं दूष्टि रक्त समान गंध व वर्ण वाले होने से इसका नाम रक्त पित्त है।

प्रमुखसंदर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, निदान स्थान-अध्याय 2
2. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 4
3. सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र-अध्याय 45
4. आषाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 3
5. आषाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 2
6. माधव निदान-अध्याय 9

निदान¹

आचार्य चरक ने रक्त प्रकोपक समस्त कारणों एवं रक्तवह स्रोतों दुष्टि के हेतुओं को ही रक्तपित्त के निदान कहा है। जो निम्न प्रकार हैं—

1. ऊर्णा, तीक्ष्ण, क्षार, अम्ल, लवण एवं कटु पदार्थों का अति सेवन।
2. विदाही अन्नपान सेवन।
3. अति आतप सेवन।
4. अति वायु सेवन।
5. अति अच्वगमन।
6. अति व्यवाय।
7. शोक, भयादि मानसिक हेतु से रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है।
8. दूध के साथ लवण व क्षार युक्त शाक का सेवन।
9. मूली, सर्पण, लहसुन, सुरा, सौबीरक, का अति प्रयोग।

विप्रकृष्ट निदान

रक्तपित्त का विप्रकृष्ट निदान रुद्र का कोप है।

सम्प्राप्ति²

उपर्युक्त निदानों के सेवन से बढ़ा हुआ पित्त जब अपने स्थान से निकलकर रक्त धातु में प्राप्त होता है तो वह पित्त रक्त से ही उत्पन्न होने के कारण उस रक्त में जाकर अधिक रूप में बढ़ जाता है एवं उसे दूषित भी कर देता है। उस पित्त की ऊप्पा से मांस आदि धातुओं से द्रवधातु निकलती है जिससे रक्तवाहिनियों में रक्त की वृद्धि हो जाती है एवं रक्त

1. “महागंद महावेगमाग्निवच्छीप्रकारि च । हेतुलक्षणविच्छीप्र रक्तपित्तमुपाचरेत् ॥”
(च.चि. 4/5)
2. i) “संयोगात् दूषणात् ततु सामान्याद् गंधवर्णयोः । रक्तस्य पित्तमाल्यातं रक्तपित्तं मरीयिभिः ॥”
(च.चि. 4/8)
- ii) “संसर्गालोहितप्रदूषणालोहितगन्धवर्णानुविधानाज्ञ पित्तं लोहितपित्तमित्याचक्षते ॥”
(च.चि. 4/4)
1. “तस्योण्ण तीक्ष्णमस्तं च कटूनि लवणानि च । घर्षश्वानिवदाहीश्व हेतुः पूर्व निदारितः ॥”
(च.चि. 4/6)
2. “हेतुभिः समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते । तद्योनित्वाद् प्रपत्रं च वधते तत्-प्रदूषयन् ॥”
तस्योष्मणा द्रवो धातुर्धातोर्धातोः प्रसिद्ध्यते । स्विद्यतस्तेन संवृद्धि भूयस्तदिग्मच्छति ॥”
(च.चि. 4/7-8)

को प्रवृत्ति ऊर्ध्व या अधोमार्ग से या सम्पूर्ण रोमकूपों से होने लगती है।

सम्प्राप्ति चक्र-पित वर्धक व रक्तप्रकोपक निदान सेवन



पितप्रकोप



प्रकुपित पित द्वारा रक्त की दुष्टि



पित एवं रक्त का एक दूसरे में मिलना



मांसादि धातुओं का पित की ऊषा
से पिघलकर द्रव धातु का स्वण



रक्तवाहिनियों में रक्त की वृद्धि



रक्तपित-ऊर्ध्व मार्ग/अधः मार्ग

सम्प्राप्ति घटक

दोष - पित

दूष्य - रक्त

स्रोतस् - रक्तवह स्रोतस

अधिष्ठान - यकृत्, प्लीहा

स्रोतोदुष्टि - विमार्गमन

स्वभाव - आशुकारी

अग्नि - रस, रक्त धात्वनि

साध्यासाध्यता - कृच्छ्रसाध्य

भेद

रक्त पित के भेद निम्न आधार पर किए गए हैं-

1. स्वावित रक्त के गुणों के आधार पर-रक्त पित के सात भेद वर्णित किए गए हैं-

(i) वातिक

(ii) पैत्तिक

(iii) कफज

(iv) सन्त्रिपातज

(v, vi, vii) द्वन्द्वज (3)

1. "सान्द्रं सपाण्डु सस्तेहं पिच्छिलं कफान्तितम् । श्यावारुणं सफेनं च तनु रुक्षं च वातिकम् ॥
रक्तपितं कथायाप्तं कृच्छ्रं गोमूत्रसन्त्रिभ्यम् । भेचकागारधूमाभगडनाप्तं च पैतिकम् ॥
संसृष्टिलिङ्गं संसग्गात्तिलिङ्गं सन्त्रिपातिकम् ॥" (च.चि. 4/11-12)

2. रक्त स्ववण के मार्ग के आधार पर-रक्तपित के तीन भेद वर्णित किए गए हैं-

(i) ऊर्ध्वग्नि (कफनुवंधी)

(ii) अधोग (वातानुवंधी)

(iii) सर्वग (तिर्यक् या उभय मार्गी) (वात-कफनुवंधी)

पूर्वरूप

आचार्यों ने रक्तपित के निम्न पूर्वरूप वर्णित किये हैं-

1. अंगसाद (Malaise)

2. शीत सेवन की इच्छा (Desire to eat cold things)

3. कष्टसे धुआँ निकलने की प्रीति (Feeling of fumes coming out of throat)

4. वमन (Vomiting)

5. लोहगन्धि निः शास (Iron metal smell in Breadth)

आचार्य चरक एवं बागभट्ट ने "मत्स्यांधता" का वर्णन भी किया है। इसके अतिरिक्त निम्न पूर्वरूपों का उल्लेख भी मिलता है-

1. स्वरभेद (Hoarseness of voice)

2. भुकान का विदाह (Burning due to consumed cereals)

3. अनोरेप (Anorexia)

4. हाथ पैरों में जलन (Burning in palms & feet)

5. अंगमर्द (Bodyache)

6. स्वप्न में रक्त-नील-पीत-श्याव वर्ण तथा तेज प्रकाश वाली वस्तुएँ दिखाई देना। (To visualize Subjects of different colours in sleep)

7. शुक्ताम्ल उद्गार (Acid eructations)

लक्षण

रक्तपित के दोषानुसार विभिन्न भेदों के लक्षण निम्न प्रकार हैं-

वातिक रक्तपित के लक्षण

वातिक रक्तपित से पीड़ित रोगी के विभिन्न मार्गों से स्वित रक्त निम्न वर्ण का होता है-

(i) श्याम (Blackish Blood)

(ii) अरुण (Blackish Brown/Blood)

(iii) फेनयुक्त (Foamy Blood)

(iv) द्रव (Liquid or Dilute Blood)

(v) रुक्ष (Dry Blood)

1. "ऊर्ध्वं कफसंसृष्टपदोगं पवनानुगम् । द्विमार्ग कफवाताभ्यामुवाभ्यामनुव्यध्यते ॥"

(च.चि. 4/24)

2. "सदनं शीतकामित्वं कण्ठभूमायनं विमः । लोहगन्धिश निः शासो भवत्यस्मिन् भविष्यति ॥"

(सु.उ.त. 45/8)

3. "तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति-तद्यथा-अनन्त्राभिलापः, भुक्तस्य विदाहः शुक्ताम्लाग्न्यसउद्गारः, छर्देभीश्यमागमनं... लोहितपत्स्यामगभित्वमिव... स्वप्ने दर्शनमधीश्यमिति ॥"

(च.चि. 2/6)

2. पैतिक रक्तपित के लक्षण-पैतिक रक्तपित के रोगी के विभिन्न मार्गों से स्रवित रक्त निम्न वर्ण का होता है-

- कषायाभ (Blackish)
- कृष्ण (Blackish)
- गोमूत्र सन्त्रिभ (Cow's urine like blood)
- ग्रहधूमवत् (Smoke like blood)
- अंजनवत् (Dark black coloured blood)

3. कफज रक्तपित के लक्षण-कफज रक्तपित के रोगी के विभिन्न मार्गों से स्रवित रक्त निम्न वर्ण का होता है-

- कफ युक्त (Mucoid blood)
- सान्द्र (Viscous blood)
- पाण्डु वर्ण (Yellowish blood)
- स्निध (Greasy in touch)
- पिच्छिल (Sticky blood)

4. द्वन्द्वज रक्तपित के लक्षण-द्वन्द्वज रक्त पित से पॉडिट रोगी के विभिन्न मार्गों से स्रवित रक्त का वर्ण दो दोषों के मिश्रित लक्षणानुसार होता है।

5. सन्निपातिक रक्त पित के लक्षण-सन्निपातिक रक्त पित के रोगी में तीनों दोषों के सम्मिलित लक्षण मिलते हैं।

दोषों की गतियों के अनुसार रक्तपित के लक्षण

1. ऊर्ध्वरक्त पित के लक्षण-ऊर्ध्वरक्त पित कफ संसृष्ट होता है, अतः इसके लक्षण निम्न होते हैं-

- मुख, नासिका, नेत्र एवं कर्ण से रक्त प्रवृत्ति (Bleeding per mouth, nose, eyes & ears)
- स्रवित रक्त स्निध, पिच्छिल, सान्द्र, पाण्डु वर्ण एवं कफ युक्त होता है।

2. अधोग्र रक्तपित के लक्षण-अधोग्र रक्तपित वातानुबंधी होता है, अतः इसमें निम्न लक्षण मिलते हैं।

- गुद, मेढ़ एवं योनि मार्ग से रक्त प्रवृत्ति (Bleeding per anus, penis & vagina)
- स्रवित रक्त का वर्ण श्याव, अरुण, रुक्ष तनु एवं फेनिल होता है।

3. उभय मार्गी रक्तपित के लक्षण-उभयमार्गी रक्त पित में वात-कफ का सम्बन्ध होता है, अतः इसके निम्न लक्षण इस प्रकार हैं-

- ऊर्ध्व या अधोमार्ग से रक्त प्रवृत्ति (Bleeding per month, nose, eyes, ear, or per anus, penis & vagina)
- त्रियक्मार्ग अर्थात् रोमकूपों से रक्त प्रवृत्ति (Bleeding per hair follicles)
- स्रवित रक्त का वर्ण श्याम, स्निध, पिच्छिल तनु एवं फेनिल होता है।

रक्तपित की साध्यासाध्यता

रक्तपित की साध्यता एवं असाध्यता निम्न है-

साध्य रक्त पित

- एक दोषज रक्तपित साध्य है।
- ऊर्ध्वरक्तपित-चूंकि ऊर्ध्वरक्तपित में पित के साथ-साथ कफ का भी संसर्ग होता है एवं "प्रतिमार्ग च हरण रक्तपितं विधीयते" सिद्धान्तानुसार ऊर्ध्वरक्तपित में विरेचन कर्म से दोषों की गति प्रतिलोम की जाती है तथा "विरेचन पित हरणां श्रेष्ठम्" से विरेचन कर्म पित को निकालता है, अतः ऊर्ध्वरक्त पित का वेग शीघ्रता से रुक जाता है।
- ऊर्ध्वरक्तपित के शमनार्थ प्रयुक्त औषधियां भी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं, क्योंकि पित शामक तिक्त, कपाय मधुर रस वाली औषधियां पित के साथ-साथ कफ शामक भी होती हैं।
- यदि रोगी बलवान है तो रक्तपित साध्य होता है²।
- नवीन एवं अल्पवेग वाला रक्तपित साध्य है²।
- हेमन्त एवं शिशिर ऋतु में उत्पन्न रक्त पित भी साध्य होता है²।
- उपद्रव रहित रक्तपित साध्य है।

याप्य रक्तपित

- अधोग्र रक्तपित याप्य होता है³। क्योंकि इसमें वायु का सम्बन्ध होता है एवं अधोग्र रक्तपित में वमन कराया जाता है तथा वमन वायु का शमन करने में हितकारी नहीं है तथा पित्तशामक तिक्त कथाय एवं मधुर रस की औषधियों में केवल मधुर रस की वात शामक है। अतः औषधियां भी अल्प होने के कारण अधोग्र रक्तपित साध्य है⁴।
- द्विदोषज रक्तपित भी याप्य होता है।

-
- "साध्यं लोहितपितं तद्यदूर्धं प्रतिपद्यते। विरेचनं तु पित्तस्य जयार्थं परमोषधम्॥
यश तत्रान्वयः श्रूष्मा तस्य चानधमं स्मृतम्॥" (च.चि. 2/12)
 - "एकमानं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम्। रक्तपितं सुखे काले साध्यंस्यान्त्रिपद्रवम्॥"
(च.चि. 4/22)
 - "याप्यं त्वधोगं।" (च.चि. 4/15)
 - "अधोग्र त्वेक एव नधुरो वात-पित्तप्रशमनः, वमनं च प्रति मार्गवेन वेगमात्रविरोधि, न तु पित्तहरणम्॥"
(मधुकोश)

असाध्य रक्तपित्त

1. उभयमार्गी रक्तपित्त असाध्य होता है¹।
2. त्रिदोषज रक्तपित्त असाध्य होता है।
3. उभयमार्गी रक्तपित्त में विपरीत मार्ग की प्रवृत्ति तथा विपरीत दोष संसर्ग के कारण बमन व विरेचन दोनों विरुद्धोपक्रम होने से निषिद्ध हैं तथा ऐसे शामक औषधियां भी उपलब्ध नहीं हैं जो एक साथ तीनों दोषों को शांत कर सकें।
4. मंदाग्नि युक्त तथा अतिवेग युक्त त्रिदोषज रक्तपित्त असाध्य होता है²।
5. रोग से शरीर क्षीण होने पर, वृद्ध तथा अनशन करने वाले व्यक्ति का रक्तपित्त भी असाध्य होता है³।
6. मांस प्रक्षालित जल के समान रंग वाला, सड़ा हुआ दुर्गन्धि, कीचड़ मिश्रित जल के समान, वसा तथा पूय मिश्रित रक्त सम, यकृत व पक्ष जम्बू सम वर्ण युक्त रक्त का स्राव तथा इन्द्रधनुष के समान विविध वर्णों वाला रक्तपित्त भी असाध्य होता है⁴।
7. जो रक्तपित्त का रोगी सम्पूर्ण अदृश्य वस्तुओं तथा आकाश को रक्त वर्ण का देखता है वह भी असाध्य होता है।
8. अरिष्ट लक्षणों से युक्त तथा समस्त उपद्रव युक्त रक्तपित्त असाध्य होता है⁵।
9. क्षीण व्यक्ति से जब खांसते-खांसते रक्त निकल जाता हो उसका रक्तपित्त असाध्य होता है⁶।

उपद्रव⁷-आचार्य सुश्रुत ने रक्तपित्त के निम्न उपद्रव वर्णित किए हैं-

1. दौर्बल्य (Weakness)
2. श्वास (Dyspnoea)
3. कास (Cough)

1. “उभयमार्गं च विरुद्धोपक्रमत्वादेवासाध्यम्॥” (मधुकोश)
2. “यत्त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दाग्रेरतिवेगवत्॥”
3. “व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्रतश्य यत्॥” (च.चि. 4/14)
4. “तुल्यं कुणपग्न्येन रक्तं कृष्णमतीव च। संसृष्टं कफवाताभ्यां कण्ठे सज्जति चापि यत्॥ हारिद्रनीलाहरिताप्रैवर्वर्णरुपहृतम्॥” (च.चि. 4/19)
5. “यच्चाप्युपद्रवैः सर्वैर्थोक्तैः समभिद्वृतम्॥” (च.चि. 5/18)
6. “क्षीणस्य कासनानस्य यच्च तच्च न सिद्धयति।॥” (च.चि. 4/19)
7. “दौर्बल्य शासनाकासज्वरवमधुमदा... वमथुमदास्तन्द्रितादाहमूर्च्छा। भुक्ते चान्ने विदाहस्त्व घृतिरपि सदा हृद्य तुल्या च पीड़ा॥ तृष्णा कण्ठस्य भेदः शिरसि च दवनं पूर्तिनिष्ठावनं च। द्विषो भक्तेऽविपाको विरतिरपिते रक्तपित्तोपसर्गः॥” (सु.उ.त. 45/10)

4. ज्वर (Fever)
5. वमन (Vomiting)
6. मद (Mental Confusion)
7. पाण्डु (Anaemia)
8. दाह (Burning sensation)
9. मूर्च्छा (Fainting)
10. भोजनोत्तर तीव्र विदाह (Severe burning after meals)
11. अघृति (Mental illness)
12. हृदप्रदेश में पीड़ा (Pain in chest)
13. तृष्णा (Polydypsia)
14. अतिसार (Diarrhoea)
15. शिरोभिताप (Headache)
16. पूर्तिष्ठीवन (Suppurated sputum expectoration)
17. भक्तेष्व (Anorexia)
18. अविपाक (Indigestion)
19. क्षरित रक्तपित्त में विकृति (Defect in Discharged Blood)

चिकित्सा सिद्धान्त

आचार्यों ने रक्तपित्त की चिकित्सा के निम्न सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं-

1. जिस रोगी में मांस बल क्षीण न हो, उचित रूप से भोजन करता हो ऐसे व्यक्ति के दुष्ट उभड़े हुए रक्तपित्त को प्रारंभ में रोकना नहीं चाहिये। अर्थात् ब्रलवान रोगी में स्तम्भन नहीं करना चाहिये¹।
2. आमदोष बढ़ने से उभरा हुआ पित्त यदि रक्तपित्त उत्पन्न करे तब आमदोष पाचनार्थ प्रारंभ में लंघन कराना चाहिये²।
3. ऊर्ध्वग् रक्तपित्त में लंघन तथा अधोग रक्तपित्त में तर्पण कराना चाहिये³।
4. चूंकि ऊर्ध्वग् रक्तपित्त में कफानुबंध होता है एवं स्नाध, ऊष्ण निदानों के सेवन से उत्पन्न होता है अतः लंघन हितकर है।

1. “अशीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्रुतः। तददोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति॥” (च.चि. 4/25)
2. “प्रायेण हि समुत्क्लिष्टमामदोषाच्चरीरणाम्। वृद्धि प्रयाति पित्तासृक्तस्मात्लंघनमादितः॥” (च.चि. 4/29)
3. “मार्गोदोषानुबंधं च निदानं प्रसमीक्ष्य च। लंघनं रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत्॥” (च.चि. 4/30)

अधोग रक्षित में वातानुवंध होता है तथा रुक्ष एवं कृष्ण निदानों के सेवन से उत्पन्न होता है, अतः वृहंण या तर्पण हितकर है, क्योंकि लंघन से वात वृद्धि होती है।

5. लंघनीय रोगी में लंघन के पश्चात् ऊर्ध्वग रक्षित के रोगी में तर्पण तथा अधोग रक्षित में पेया हितकर होती है। तर्पणार्थ द्राक्षा, दुग्ध, मांसरस, दालें, अम्लपदार्थ, गंध द्रव्यादि का प्रयोग हितकर है²।
6. रक्षित में संशोधन का विचार³-संतर्पण से उत्पन्न रक्त पित्त एवं बलवान रोगी तथा निरुपद्रव रोगी में संशोधन कर्म हितकर है। ऊर्ध्वग रक्षित में विरेचन तथा अधोग रक्षित में वमन कर्म श्रेष्ठ है। ऊर्ध्वग एवं अधोग रक्षित में विपरीत मार्ग से संशोधन कराने से रक्तस्राव की प्रवृत्ति रुक्ष जाती है⁴।
7. रक्षित के रोगी में अम्ल द्रव्य हितकारी होते हैं⁵।
8. रक्षित के रोगी में यदि रक्त की गांठ पड़ गई हो तो कवूतर के बीट का चूर्ण मधु के साथ देने से ग्रंथि विलयित हो जाती है⁶।
9. रक्त पित्त का रोगी यदि क्षीण, गर्भिणी, बालक, वृद्ध, सूर्य संताप से पीड़ित तथा अतिश्रम से क्षीण हुआ हो तब उसमें संशोधन कर्म न कराकर संशमन औषियों का प्रयोग कराना चाहिये⁷।

चिकित्सा-रक्षित की संशोधन व संशमन चिकित्सा निम्नानुसार वर्णित है-

1. संशोधन चिकित्सा

- (i) वमन (अधोग)
- (ii) विरेचन (ऊर्ध्वग)
- (iii) स्तम्भन अवपीड़ नस्य

1. “ऊर्ध्वं शुद्धकोषस्य तर्पणादिः णादिक्रमो हितः। अधोगते यवाग्वादिर्न चेत्स्यान्मारतो वली॥” (च.चि. 4/61)
2. “ऊर्ध्वं तर्पणं पूर्वं पेयां पूर्वमधोगते। कालसात्यानुवन्यज्ञो दद्यात्रकृति मल्यवित्॥” (च.चि. 4/32)
3. “अक्षीणवल मांसस्य यस्य सन्तर्पणोत्थितम्। बहुदोषं बलवतो रक्षितं शरीरिणः॥ काले संशोधनार्हस्य तद्वेनिरुपद्रवम्। विरेचनेनोर्ध्वभागमधोगं वमनेन च॥” (च.चि. 4/55-56)
4. “प्रतिमार्गं च हरणं रक्षितं विधीयते।”
5. “मन्दाग्रेरम्लसात्याय तत् साम्लमपि कल्पयेत्॥” (च.चि. 4/35)
6. “सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते लिह्येत् पारावतं शकृत्॥” (च.चि. 4/72)
7. “बलमांसपरीक्षीणं शोकभाराध्वकर्पितम्। ज्वलनादित्यसंतसमन्वर्या क्षीणमाययैः॥ गर्भिणीं स्थविरं बालं रुक्षालपप्रमिताशिनम्। अवस्थमविरेच्यं वा यं पश्येद्रक्षपित्तिनम्॥ शोषणं सानुवंधं वा तस्य संशमनी क्रिया॥” (च.चि. 4/62-64)

2. संशमन चिकित्सा-रक्षित की चिकित्सा में प्रयुक्त प्रमुख शास्त्रोक्त संशमन योगों का वर्णन निम्नानुसार है-

1. रस/भस्म/पिटी- मात्रा - 125 - 250 मि.ग्रा.
अनुपान - शहद/जल

- (i) रक्षित कुलकाङ्कन रस- पारद, गंधक, प्रवालभस्म, म्वर्णभस्म, नागभस्म, वंग।
- (ii) रक्षितान्तक रस- अध्रकभस्म, तीक्ष्ण लौहभस्म, पारद, हमताल, गंधक।
- (iii) पित्तान्तक रस- अध्रक, लौह, जावित्री, जायफल, जट्यामांसी, कूट, तालीम पत्र।
- (iv) कर्पदको रस- रस मिन्दूर, कार्पास फूल व कर्पद।
- (v) बोल पर्षटी- बोल, पारद, गंधक।
- (vi) बोलबद्ध रस- बोल, पारद, गंधक, लोध्र, नागकेशर।
- (vii) गैरिक भस्म- स्वर्ण गैरिक।
- (viii) शंखभस्म- शंख।
- (ix) चन्द्रकलारस- पारद, ताम्रभस्म, अध्रकभस्म, गंधक एवं काष्ठीषधियां।
- (x) प्रवाल भस्म- प्रवाल।
- (xi) प्रवाल पिटी- प्रवाल।
- (xii) प्रवाल पंचामृत- प्रवाल, मुक्ता, शंख, शुक्लि, वराटिका।
- (xiii) तृणकान्त पिटी- तृणकान्त।

2. चटी-मात्रा - 250 - 500 मि.ग्रा.

अनुपान - जल

- (i) एलादि चटी- यक्षमोक्त।
- (ii) तीक्ष्णादि चटी- शुद्ध खर्पर, अध्रकभस्म, रससिन्दूर, तीक्ष्ण लौहभस्म, लाक्षा।

3. चूर्ण- मात्रा - 3 - 6 ग्राम

अनुपान - जल/दुग्ध

- (i) लाक्षा चूर्ण- लाक्षा।
- (ii) उशीरादि चूर्ण- खस, लोध्र, पद्मकाष्ठ, प्रियंगु।
- (iii) आटरुपादि चूर्ण- अदूसा, मुनक्का, हरड़।
- (iv) प्रियावादि चूर्ण- अदूसा, फिटकरी, प्रियंगु, रसाँत।

4. क्लाथ/आसव-अरिष्ट-मात्रा - 20 - 30 मि.ली.

अनुपान - जल

- (i) अटरुपादि क्लाथ- अदूसा, द्राक्षा, हरड़।
- (ii) वासकादि क्लाथ- वासा।
- (iii) पदाकादि क्लाथ- पदाकाष्ठ, कमलकेशर, लोध्र, नीलकमल, नागकेशर।

- (iv) द्राक्षारिष्ट- द्राक्षा, महुआ, धातकी, त्रिफला, आमलकी।
 (v) पत्रांगासव- पत्रांग, नागकेशर, मुस्तक, पद्मकाठ।
 (vi) लोधासव- लोध, मंजीठ, हरित्रा, प्रियंगु।
 (vii) उशीरासव- खस, लोध, नेत्रवाला, प्रियंगु, पद्माख।

5. घृत- मात्रा - 10 - 30 मि. ली.

अनुपान - ऊँण जल/दुग्ध

- (i) वासा घृत- वासा, गोदुग्ध, गोघृत।
 (ii) दूर्वाद्य घृत- दूर्वा, कमलकेशर, मंजीठ, खांड घृत।
 (iii) शतावरी घृत- शतावरी, जीभक, ऋषभक, पर्णद्वय।
 (iv) सतप्रस्त्य घृत- विदारीकन्द, शतावरी, द्राक्षा, आंवला, इक्षु रस।
 (v) कामदेव घृत- असगंध, शतावरी, विदारीकन्द, शालपर्णी, पीपल।

6. पाक/अवलेह/ खण्ड-मात्रा - 15 - 20 ग्राम

अनुपान - दुग्ध

- (i) खण्ड कूब्धाण्डावलेह- कूब्धाण्ड, आंवला।
 (ii) शर्कराद्य लौह- तिल, शर्करा, त्रिकटु, त्रिफला, त्रिमद, लौह।
 (iii) समशर्कर लौह- लौहभस्म, विंडग, शहद, गोघृत।
 (iv) वासाखण्ड- अदूसा, खांड, त्रिकटु, त्रिजात।
 (v) वासाखण्ड कूब्धाण्ड- वासा, त्रिकटु, त्रिजात, घृत, पेठा।

आदर्श व्यवस्था पत्र

ज्ञाधर्वग रक्तपित्त में

1.	प्रातः सायम्
	शु.गैरिक चूर्ण - 500 मि.ग्रा.
	कामदुधारस - 250 मि.ग्रा.
	लाक्षा चूर्ण - 3 ग्राम
	शहद से 1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर
	चूपणार्थ - एलादि वटी 4 (दिनभर में)
	उशीरासव - 20 मि.लि.
	सम जल से 1 × 2 मात्रा
3.	कूब्धाण्डावलेह - 20 ग्राम
	दूध से 1 × 2 मात्रा

अधोग रक्तपित्त में

1.	प्रातः सायम्
	रक्तपित्तान्तक रस - 250 मि.ग्रा.
	बोल पर्पटी - 250 मि.ग्रा.
	मोचरस - 3 ग्राम
	मधु से 1 × 2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर
	पंत्रांगासव - 20 मि.लि.
	सम जल से 1 × 2 मात्रा
3.	वासाघृत - 20 मि.लि.
	दुग्ध से 1 × 2 मात्रा

पथ्य एवं अपथ्य- रक्तपित्त के रोगी में निम्न पथ्य एवं अपथ्य निर्दिष्ट हैं-

पथ्य

आहार	विहार
पुरानाशालि चावल, गेहूँ, धान का लावा, साबूदाना, मूंग, मसूर, लौकी, परवल, पतली मूली, पलाण्डु, भिण्डी, सेमल का पुष्प, कूब्धाण्ड, बकरी का दूध, गोदुग्ध, जांगल पशु पक्षियों का मांसरस, घृत, मक्खन, आंवला, केला, सिंधाड़ा, अंगूर, मुनक्का, कच्चा नरियल, पेठा, इक्षु रस, चीनी, मिश्री आदि।	शीतल जल से स्नान, शीत वायु सेवन, चन्दन का लेप, मुक्ता मणियों के हार का धारण, चन्द्रमा की शीतल किरणों का सेवन, वैदूर्य, मुक्ता, मूंगा, आदि का धारण करना तथा इनसे सिद्ध जल का प्रयोग, वमन, विरेचन, नस्य आदि।

अपथ्य

आहार	विहार
तिल, उड्ढ, कुलथी, गुड़ सरसों, राई, दही, क्षार, लवण, कटुपदार्थ, विदाही, पदार्थ, गर्ममसाला, विरुद्ध भोजन, मत्स्य सेवन, आतप सेवन, अग्नि सेवन, मैथुन, स्वेदन, वेगधारण, आदि।	वेगधारण, व्यायाम, भय, झोध, चिन्ता, अति स्वेदन आदि।

विशिष्ट पेय पथ्य- खस, चन्दन, पर्पट से सिद्ध जल अथवा इनका हिम या तण्डुलोदक का पान रक्तपित्त के रोगी में विशेष लाभप्रद है।

Latest Developments Haemorrhagic Blood Disorders

आधुनिक मतानुसार रक्तपित्त को Haemorrhagic blood disorder कहा जाता है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में वर्णित विभिन्न व्याधियों का रक्तपित्त से साम्य हो सकता है-

I. ऊर्ध्वर्ण रक्तपित्त

1. नासामार्ग से रक्त स्नाव (Epistaxis)
2. मुख मार्ग से रक्त स्नाव (Haematemesis)
3. कर्ण से रक्त स्नाव (Otorrhagia)

II. अधोरुद्धरण रक्तपित्त

1. गुद मार्ग से रक्त स्नाव- Anal bleeding अनेक कारणों से हो सकती है। यथा-Piles, Bacillary dysentery, Melina तथा रक्तातिसार में अधोरुद्धरण मार्ग से रक्तस्नाव होता है।
2. मूत्र मार्ग से रक्तस्नाव (Haematuria)
3. योनि मार्ग से रक्तस्नाव (Menorrhagia or Metrorrhagia)

आयुर्वेदोक्त रक्तपित्त एक रक्तज व्याधि है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में वर्णित Haemorrhagic disorders किसी रोग के लक्षण हैं। अतः यह निश्चय करना आवश्यक होता है कि स्वतंत्र रक्त रक्तपित्त के कारण है या अन्य व्याधि के कारण।

क्र.सं.	रक्तपित्त	अन्य रक्तस्नावी रोग
1.	रक्तपित्त के रक्त मिले अन्न को कुत्ते तथा कौआ नहीं खाते।	इनके रक्त से मिश्रित अन्न को कुत्ते एवं कौआ खाते हैं।
2.	रक्तरंजित वस्त्र सूखने पर गरम जल से धोने से दाग नहीं छूटता।	इनके रक्त का दाग आसनी से छूट जाता है।
3.	रक्तपित्त के पूर्वरूप मिलते हैं।	रक्तपित्त के पूर्वरूप नहीं मिलते।
4.	पूर्व में किसी व्याधि का इतिहास नहीं होता।	पूर्व में किसी व्याधि का इतिवृत्त मिलता है।
5.	पित्त से दूषित रक्त निकलता है।	शुद्ध रक्त निकलता है।

Management : Principles

1. To treat basic cause of haemorrhage.
2. Patient should be hospitalised because of unpredictability regarding recurrence of bleeding.
3. Fluid resuscitation would have to be organised with saline, plasma expanders or blood transfusion as indicated.

अध्याय-34

कामला, कुम्भकामला एवं हलीमक JAUNDICE

व्याधि परिचय

कामला रोग में रोगी की त्वचा, नेत्र, नख एवं मुख का वर्ण हारिद्र-पीत हो जाता है। कामला को रक्तज एवं पित्तज विकारों में गिना गया है, संहिता ग्रंथों में इसका वर्णन उपलब्ध है तथा स्वतंत्र एवं परतंत्र भेद से वर्णित है। अर्थात् पाण्डु रोगी का पित्तवर्धक पदार्थों के सेवन से उत्पन्न कामला परतन्त्र तथा पाण्डु के विना कामला उत्पन्न होना स्वतंत्र कामला कहलाता है। संहिताओं में सर्वत्र पाण्डु रोग के साथ ही कामला का वर्णन किया गया है। सुश्रुत संहिता में कामला को पाण्डु रोग के अतिरिक्त अन्य रोगों का उपद्रव भी माना गया है।

आचार्य चरक ने पाण्डु की प्रवर्धमानावस्था को कामला कहा है तथा आचार्य हारीत ने भी कामला तथा हलीमक को पाण्डु का भेद माना है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार कामला का साम्य Jaundice से किया जाना है। आयुर्वेद में शाखाश्रित एवं कोषाश्रित कामला का उल्लेख मिलता है²। शाखाश्रित कामला में प्रवृद्ध पित्त अपने सामान्य आशय में न जाकर शाखाओं (रस, रक्त, त्वचार्दि) में चला जाता है एवं कफ से मार्ग आवृत्त होने के कारण पुनः कोष में नहीं जा पाता। ऐसी दशा में रोगी पित्त विहीन पुरीष (White coloured stool) का त्याग करता है। इसे "तिल पिष्टनिधं" संज्ञा दी गई है। यही आधुनिकोक्त Obstructive Jaundice होता है।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 16
2. सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र-अध्याय 14
3. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 13
4. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 16
5. माधव निदान-अध्याय 8
6. भाव प्रकाश-अध्याय 8

1. "द्वे कामला चैव हलीमकश्च सूतौष्ठर्घ्यं खलु पाण्डु रोगा।" (हारीत संहिता)
2. "कामला बहुपितैषा कोषशाखाश्रया मता॥" (च.च. 16/36)

निदान^१

आचार्य चरक ने पाण्डु रोग के समस्त निदानों को कामला रोग का निदान कहा है जो निम्न प्रकार हैं-

1. क्षार-अम्ल-लवण- अति उष्ण, विरुद्ध एवं असात्म्य भोजन।
2. अति मद्यपान।
3. निष्पाव, माष, पिण्याक, तिल तैल का अति सेवन।
4. दिवास्वन, व्यायाम, मैथुन एवं वेगधारण।
5. नश्तु वैषम्य।
6. काम, चिन्ता, भय, शोक, क्रोध।
7. रुक्ष, शीत, गुरु एवं मधुर पदार्थों का अतिसेवन।
8. पाण्डु रोगी के द्वारा पित्तवर्धक पदार्थों का अति मात्रा में सेवन कामला को उत्पन्न करता है।

सामान्य सम्प्राप्ति^२

पाण्डु रोग से परिडित व्यक्ति यदि पित्त प्रकोपक द्रव्यों का अधिक मात्रा में सेवन करता है तो उसका बढ़ा हुआ पित्त रक्त एवं मांस को जलाकर कामला रोग को उत्पन्न करता है।

शाखाश्रित कामला की सम्प्राप्ति^३

रुक्ष, शीतल, गुरु एवं मधुर आहार द्रव्यों के सेवन व अति व्यायाम करने से कफ के द्वारा मार्गावरोध होने से मूर्च्छित वायु पित्त को अपने स्थान (पित्ताशय) से निकालकर शाखाओं (त्वचा, रस, रक्तादि) में फेंक देती है। इस अवस्था में पित्त के कोष्ठ में नहीं जा पाने के कारण मल का वर्ण श्वेत होता है तथा पित्त के शाखाओं में जाने के कारण मूत्र, नेत्र, त्वचा का वर्ण हारिद्र सम पीला हो जाता है जिससे शाखाश्रित कामला उत्पन्न होता है।

सम्प्राप्ति चक्र

पाण्डु रोगी का पित्तवर्धक पदार्थों का सेवन



पित्त प्रकोप



रक्त एवं मांस का अधिक दूषण



कामला रोग

1. “क्षाराम्लवणात्युष्णविरुद्धासात्त्व्यभोजनात्। निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनियेवणात्॥ विदग्धेऽन्ने द्विवास्वप्राद् व्यायामान्मैथुनात्तथा। प्रतिकर्मर्तुवैषम्याद् वेगानां च विधारणात्॥ त्वचिन्ताभ्यक्तोधरोकोपहतचेतसः॥” (च.चि. 15/7-9)
2. “पाण्डुरोगीऽत्यर्थं पित्तलानि नियेवते। तस्य पित्तमसृग्मांसं दाघ्वा रोगाय कल्पते॥” (च.चि. 16/34)
3. “रुक्षशीतिगुरुस्वादुव्यायामैवेगनिग्रहेः। कफसंमूर्च्छितो वायुः स्थानात् पित्तं क्षिपेहृत्वा। हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चास्तदा नरः॥” (च.चि. 16/125-126)

सम्प्राप्ति चक्र-शाखाश्रित कामला

गुरु, शीत, मधुरादि निदान सेवन



कफ वृद्धि व वृद्ध कफ द्वारा मार्गावरोध



वात प्रकोप



कुपित वात द्वारा पित्त को शाखाओं में फेंकना



त्वचा, नेत्र, नख, मूत्र का वर्ण पीत होना



मल का वर्ण श्वेत होना



शाखाश्रित कामला

सम्प्राप्ति घटक

दोष - त्रिदोष (पित्तप्रधान)

दूष्य - रक्त, जीणावस्था में मांस

स्रोतस् - रक्तवह स्रोतस्

अधिष्ठान - त्वक्, नेत्र, नख, मूत्र

स्रोतोदुष्टि - संग, विमार्ग गमन

अग्नि - अग्निमांद्य

स्वभाव - चिरकारी

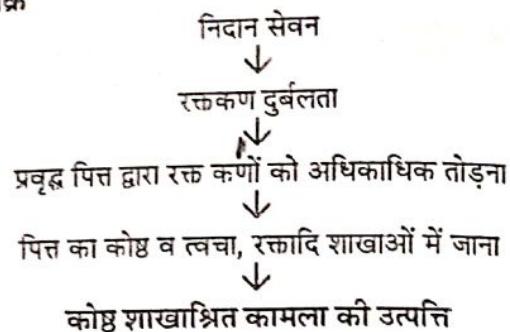
साध्यासाध्यता - साध्य

उद्भव - आमाशयोत्थ

कोष्ठ शाखाश्रित कामला सम्प्राप्ति

पाण्डु रोग या किसी अन्य कारण से रक्त कण दुर्बल हो जाने से अधिक संख्या में जल्दी-जल्दी टूटने लगे तो पित्त अधिक बनता है जो शाखा एवं कोष्ठ दोनों में जाता है एवं कोष्ठ शाखाश्रित कामला उत्पन्न होता है। कालान्तर में मांस धातु की दुष्टि होकर कुम्भकामला की उत्पत्ति होती है।

सम्प्राप्ति चक्र

लक्षण^१

आचार्यों ने कामला के निम्न लक्षण वर्णित किए हैं-

कोष्ठशाखाश्रित कामला के लक्षण

1. त्वचा, नेत्र, नख, तथा मुख हारिद्र वर्ण के हो जाते हैं (Yellowish discolouration of nails, skin, eyes & mouth)
2. मूत्र तथा पुरीष पीत तथा रक्त वर्ण के हो जाते हैं (Yellowish & reddish discolouration of urine & stool)
3. अविपाक (Indigestion)
4. दौर्बल्य (Weakness)
5. सदन (Lassitude)
6. अरुचि (Anorexia)
7. दाह (Burning sensation)
8. त्वचा का वर्ण मैडक के समान हो जाता है। (Skin colour like frog's colour)

शाखाश्रित कामला के लक्षण^१

1. नेत्र, मुँड़, त्वचा, व नख का वर्ण, हारिद्र पीत होना। (Dark yellowish coloured eyes, mouth, skin & nails)
2. पुरीष श्वेत होना (White coloured stool)
3. विवंध (Consipation)
4. आटोप (Flatulence)
5. अनिमांद्य (Indigestion)
6. अरुचि (Anorexia)

1. "हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वद्नयनः। रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः॥
दाहविपाकदैर्बल्यसदनारुचि कर्पितः। कामला बहुपित्तं पो कोष्ठशाखायमतः॥"
(च.चि. 16/35-36)
2. "हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चस्तदा नरः। भवेत् साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च॥
दौर्बल्यत्प्रग्निपार्श्वात्तिहङ्काशासारुचिच्चरैः। क्रमेणात्प्रेऽनुसन्धेत पित्तं शाखासमप्रिते॥"
(च.चि. 16/127-128)

7. ज्वर (Fever)
8. दौर्बल्य (Weakness)
9. पार्श्वशूल (Chest pain)
10. हिक्का (Hiccough)
11. श्वास (Dyspnoea)

कामला के भेद^१

आचार्यों ने कामला के निम्न तीन भेद वर्णित किए हैं-

1. शाखाश्रित कामला (Obstructive Jaundice)
 2. कोष्ठशाखाश्रित कामला (Haepatic/Infective Jaundice)
 3. कोष्ठशाखाश्रित कामला (Haemolytic Jaundice)
- आचार्य वागभट्ट ने निम्न दो भेद और वर्णित किए हैं^२।
1. स्वतंत्र कामला (Hepatocellular Jaundice)
 2. परतंत्र कामला (Haemolytic Jaundice)

साध्यासाध्यता^३

निम्न लक्षणों से युक्त कामला के रोगी में कामला असाध्य होता है-

1. मल व मूत्र में कृष्ण व पीत वर्ण होना।
2. शोथ होना
3. नेत्र, मुख, वर्मन, मल व मूत्र रक्त वर्ण का होना।
4. मूच्छां, दाह, अरुचि, आनाह, तृष्णा, तन्द्रा, एवं मोह एक साथ होना।
5. नष्टाग्नि व नष्ट संज्ञ व्यक्ति का कामला असाध्य होता है।

कुम्भकामला एवं हलीमक

कुम्भकामला^४

कुम्भकामला कामला का ही अवस्था भेद है। जब कोष्ठ शाखाश्रित कामला अधिक दिनों तक बना रहता है तब पित्त मांस धातु को भी दूषित कर देता है जिससे शरीर में अत्यधिक रुक्षता आ जाती है और कुम्भ रोग कामला उत्पन्न हो जाता है।

कुम्भ का अर्थ "कोष्ठ" है, अतः जोर्ण कोष्ठ शाखाश्रित कामला ही कुम्भकामला कहलाता है। आचार्य चरक ने बहुत अधिक समय के बाद कामला के जोर्ण हो जाने से सम्पूर्ण धातुओं में रुक्षता उत्पन्न हो जाने की स्थिति को कुम्भ कामला कहा है। इसके निम्न लक्षण वर्णित हैं^५-

1. "कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रिया मता।" (च.चि. 16/36)
2. "स्वतंत्राऽपि कामला भवति।" (च.चि. 13/17)
3. "कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः। सरकाशिमुखच्छादिविमूत्रो यश ताम्यति॥
दाहारुचितृष्णानाहतन्द्रामोहसमच्चितः। नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान् विपद्यते॥"
(च.चि. 16/37-38)
4. "कालान्तरात् खरीभूता कृच्छा स्यात् कुम्भकामला।" (च.चि. 16/37)
5. "कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः।" (च.चि. 16/37)

1. रोगी के पुरीष, मूत्र का रंग कृष्ण पीत वर्ण का हो जाता है। (Dark yellow coloured urine & stool)
2. अत्यधिक शोथ (Oedema)
3. शरीर में रुक्षता (Roughness & dryness of skin)
4. पर्वभेद (Pain in Joints)

इसे Chronic Jaundice with edema कह सकते हैं।

असाध्यता के लक्षण¹

बमन, च्चर, हल्लास, अरुचि, क्लम, श्वास एवं अतिसार से युक्त कुम्भ कामला असाध्य होता है। कुछ विद्वान् इसकी तुलना Cirrhosis of liver से करते हैं, क्योंकि कामला जीर्ण होने के बाद यकृत् के ऊतकों में शुष्कता, खरता एवं कठोरता आ जाती है।

हलीमक²

आचार्य चरक ने इसे "हलीमक" तथा आचार्य सुश्रुत ने 'लाघरक' संज्ञा दी है। इसे वात-पित्त प्रधान बताया है। हलीमक को ही "पानकी" भी कहते हैं। शाखाग्रित कामला यदि लम्बे समय तक रहे तो धातुक्षय के कारण वात प्रकोप होकर हलीमक उत्पन्न होता है। आचार्य वागभट्ट ने इसे 'लोढ़र' नाम दिया है इसके निम्न लक्षण हैं—

1. रोगी का वर्ण हरित, श्वाव व पीत होना। (Greenish yellow discolouration of skin)
2. बल एवं उत्साह हानि (Loss of strength & enthusiasm)
3. तन्द्रा (Drowsiness)
4. मंदाग्नि (Indigestion)
5. मंद ज्वर (Mild fever or low grade fever)
6. मैथुन में असमर्थता (Loss of Libido)
7. अंगमर्द (Bodyache)
8. श्वास (Dyspnoea)
9. तृष्णा (Polydypsia)
10. अरुचि (Anorexia)
11. भ्रम (Vertigo)

इसकी तुलना Chronic obstructive Jaundice से कर सकते हैं। इसमें ज्वर विशिष्ट लक्षण होता है।

1. "छर्येचकहलासञ्चरक्तमनिपीडितः। नश्यति श्वासकासातो विद्येदी कुम्भकामली॥" (मा.नि. 8/21)
2. "यदा तु पाप्त्वेवं: स्याद्विरतश्यावपीतकः। बलोत्साहक्षयस्तन्ना मंदाग्नित्वं मृदुज्वरः। स्त्रीव्यप्रहर्योऽङ्गमर्ददृष्ट्य श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः। हलीमकं तद तस्य विद्यादनिलिप्ततः॥" (च.चि. 16/132-133)

पानकी¹

इसमें अतिसार मुख्य लक्षण होता है। इसे सातिसार कामला कहा जा सकता है। इसके लक्षण निम्न प्रकार होते हैं—

1. अतिसार (Diarrhoea)
2. संताप (Burning)
3. बहिरन्तश्च पीतता (Cholaemia)
4. पाण्डुता (Pallor)
5. पाण्डु (Anaemia)

इसकी तुलना Chronic Jaundice complicated with Diarrhoea से कर सकते हैं।

चिकित्सा सिद्धान्त

आचार्यों ने पाण्डु एवं कामला की चिकित्सा के सिद्धान्त एक साथ ही वर्णित किये हैं जिन्हें निम्नानुसार वर्णित किया जा रहा है—

1. आचार्य चरक ने साध्य कामला की चिकित्सा में तिक्त द्रव्यों से सिद्ध मृदु विरेचन औषधियों के द्वारा संशोधन करने का निर्देश दिया है।
2. विभिन्न धूतों के सेवन के पश्चात् सम्पर्क स्निग्ध रोगी को गोमूत्र के साथ दूध मिलाकर या केवल दूध पिलाकर विरेचन कराना चाहिये³।
3. कामला रोगी को प्रातः काल त्रिफला का स्वरस या गुडुची का स्वरस या दारुहरिद्रा का स्वरस या निम्बपत्र स्वरस में मधु मिलाकर सेवन कराना चाहिये⁴।
4. गोमूत्र प्रयोग⁵—
 1. गोमूत्र को त्रिफला क्षाय में मिलाकर।
 2. गोदुग्ध में गोमूत्र मिलाकर।
 3. भैंस के दूध में भैंस का मूत्र मिलाकर।

उपरोक्त योगों को 15 दिन तक प्रयोग कराना चाहिये।

-
1. "संतापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्तश्च पीतता। पाण्डुता नेत्रयोर्यस्य पानकीलक्षणं भवेत्॥" (मा.नि. 8/23)
 2. "संशोध्या मृदुभिस्तिकैः कामली तु विरेचनैः।" (च.चि. 16/40)
 3. "स्त्रौहैरेरिभिरुपक्रम्य स्निग्धं मत्वा विरेचयेत्। पयसा मूत्रयुक्ते वहुशः केवलेन वा॥" (च.चि. 16/55)
 4. "त्रिफलाया गुडुच्या वा दार्ढ्या निम्बस्य वा रसम्। शीतं मधुयुतं प्रातः कामलार्तः पिवेत्।" (च.चि. 16/63)
 5. "क्षीरमूत्रं पिवेत् पक्षं गत्वा माहियमेव वा। पाण्डुगोमूत्रयुक्तं वा सप्ताहं त्रिफलासम्॥" (च.चि. 16/64)

5. कामला रोग से पीड़ित व्यक्ति यदि तिल के कल्क के समान मल त्याग करता है तब कफ के द्वारा पित्त का मार्ग रुकने से, कफ नाशक औषधों का प्रयोग करके पित्त की शांति करनी चाहिये।
6. मार्गावरोध दूर करने के पश्चात् जब तक मल का रंग प्राकृत न हो जाए एवं वायु का शमन न हो जाए तब तक अत्यंत कटु, तीक्ष्ण, ऊष्ण, लवण के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये जिससे पित्त की अधिक वृद्धि होकर शाखागत पित्त कोष्ठगत हो जाए तथा पित्त के कोष्ठ में आ जाने से मल का वर्ण भी प्राकृत आने लगता है।
7. हलीमक की चिकित्सा में प्रथम स्नेहन कराना चाहिये पश्चात् मृदु विरेचन कराकर बात-पित्त नाशक औषधियाँ एवं मधुर अन्न सेवन कराना चाहिये।
8. हलीमक की चिकित्सा में यापना बस्ति का प्रयोग कराना चाहिये तथा जठराग्नि वर्धक उपाय करना चाहिये।

चिकित्सा

कामला की संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्नानुसार वर्णित है-

1. संशोधन चिकित्सा

- (i) स्नेहन
- (ii) विरेचन
- (iii) यापना बस्ति/क्षीर बस्ति (हलीमक चिकित्सार्थ)

2. संशमन चिकित्सा

कामला की चिकित्सा में वर्णित शास्त्रोक्त संशमन चिकित्सा योग निम्नानुसार वर्णित है।

1. रस/भस्म/पिण्डी-मात्रा - 125 - 250 मि.ग्रा.

अनुपान - कोण्ण जल/शहद

- (i) नवायस लौह-त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, लौह।
- (ii) धात्री लौह-आंवला, लौहभस्म, त्रिकटु, हरिद्रा।
- (iii) निशा लौह-लौहभस्म, हरिद्रा द्वय, त्रिफला एवं कुटकी।
- (iv) विंडंगादि लौह-वायविङ्ग, त्रिफला, त्रिकटु, पिप्पली, लौहभस्म।

1. “तिलपिण्डिभ्यं यस्तु वर्चः सृजति कामली । श्रूष्णा रुद्धमार्गं तत् पित्तं कफहरैर्जयेत् ॥”
(च.चि. 16/124)
2. “कटुतीक्ष्णोष्णलवणैर्भृशाम्लैश्चाप्युपक्रमः । आ पित्तरागच्छकृतो वायोश्चाप्रशमाद् भवेत् ॥
स्वस्थानमागते पित्ते पुरीषे पित्तं रंजिते । निवृतोपद्रवस्य स्यात् पूर्वः कामलिको विधिः ॥”
(च.चि. 16/130-131)
3. “विरिक्तो मधुरप्रायं भजेत् पित्तानिलापहम् ॥” (च.चि. 16/135)
4. “यापनाक्षीरवस्तिश्च शोलयेत्सानुवासनम् ॥ मृदुकरिष्ट योगांश्च पिबेद्युक्त्याऽग्निवृद्धये ॥”
(च.चि. 16/135-136)

- (v) दाव्यादि लौह-दारुहरिद्रा, त्रिफला, त्रिकटु, विंडंग, लौहभस्म।
- (vi) योगराज-त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, शिलाजीत, स्वर्णमास्किक, रजतमास्किक, लौहभस्म।
- (vii) शिलाजीतु वटक-इन्द्रयव, त्रिफला, पटोलपत्र, मुस्तक, शिलाजीत।
- (viii) इच्छाभेदी रस-शुण्ठी, मरिच, पारद, गंधक, टंकण, जयपाल बोज।
- (ix) पुनर्नवा मण्डूर-पुनर्नवा, मण्डूर, निशोथ, त्रिकटु, विंडंग, त्रिफला, दन्तो।
- (x) मण्डूर वटक-त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, दारुहरिद्रा, स्वर्णमास्किक, मण्डूरभस्म।
- (xi) प्राणवल्लभ रस-हिंगुल, पारद, गंधक, केशर, लौह, ताम्र, कपर्द, शुद्धतुत्य।

2. वटी-मात्रा - 250 - 500 मि.ग्रा.

अनुपान - कोण्ण जल

- (i) आरोग्यवर्धनी वटी-त्रिफला, शिलाजीत, त्रिकटु, कुटकी, पारद, गंधक, लौह, अध्रक एवं ताम्रभस्म।
- (ii) पंचानन वटी-पारद, गंधक, ताम्रभस्म, गुग्गुलु, जयपाल।

3. चूर्ण-मात्रा - 3 - 6 ग्राम

अनुपान - जल/गोमूत्र

- (i) दाव्यादि चूर्ण-दारुहरिद्रा, त्रिफला, त्रिकटु।
- (ii) त्रिफला चूर्ण-हरड़, वहेड़ा, आंवला।
- (iii) विशालादि चूर्ण-इन्द्रायण, कुटकी, मोथा, मोठा कूठ।
- (iv) मोथा चूर्ण-मुस्तक, लौहभस्म।

4. क्वाथ/आसव-अरिष्ट-मात्रा - 20 - 30 मि.ली.

अनुपान - जल

- (i) फलत्रिकादि क्वाथ-त्रिफला, वासा, गुड्ढी, कुटकी, चिरायता।
- (ii) वासाऽऽदि क्वाथ-वासा, गुड्ढी, निन्वछाल, चिरायता एवं कुटकी।
- (iii) धात्र्यरिष्ट-आंवला, पीपर, चीनी।
- (iv) द्राक्षारिष्ट-द्राक्षा, त्रिफला, मुनक्का, त्रिफला, त्रिकटु।
- (v) बीजकारिष्ट-विजयसार, त्रिफला, मुनक्का, त्रिफला, त्रिकटु।
- (vi) कुमार्यासव-घृतकुमारी, चिरायता, कुटकी, चित्रक, मुस्तक, त्रिकटु।
- (vii) लोहासव-लौहचूर्ण, त्रिकटु, त्रिफला, यवानि, विंडंग, मुस्तक, चित्रक।
- (viii) मार्कण्डयादि हिम-मंजीठ, सनाय, खंजूर।

5. घृत-मात्रा - 10 - 30 मि.ली.

अनुपान - उष्ण जल, दुग्ध

- (i) पंचतिक घृत- गुड्ढी, निम्ब, वासा, चिरायता, पटोल, घृत।
- (ii) द्राक्षाद्य घृत-घृत, मुनक्का।

- (iii) हरिद्राद्य घृत-हरिद्रा, त्रिफला, नीम, मुलैठी, घृत।
- (iv) व्योषाद्य घृत-त्रिकटु, बिल्ब, हरिद्रा, घृत।
- (v) दन्ती घृत- दन्ती, गोघृत।
- (vi) कटुकाद्य घृत-कुटकी, मुस्तक, हरिद्राद्य, इन्द्रयव, पटोल।
- (vii) दाढ़िय घृत-अनारदाना, धनिया, त्रिकटु, घृत।

6. पाक/अबलेह-मात्रा - 20 ग्राम

अनुपान- दूध

- (i) आमलक्यादि लेह-आंवला, मुनक्का, पिप्पली, मुलैठी।
- (ii) दाव्यादि लेह-दारुहरिद्रा, त्रिफला, त्रिकटु, विडंग, लौहभस्म।
- (iii) धात्र्यावलेह-वंशलोचन, सॉठ, मुलैठी, पीपर, मुनक्का, आंवला।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रातः सांयम्
 - योगराज - 250 मि.ग्रा.
 - इच्छाभेदी रस - 125 मि.ग्रा.
 - त्रिफला चूर्ण - 3 ग्राम
 - कोण्ण जल 1 × 2 मात्रा
2. प्रातः सांयम्
 - मार्कण्डयादि हिम - 20 मि.ली.
 - कोण्ण जल 1 × 2 मात्रा
3. भोजनोत्तर
 - आरोग्य वर्धनी वटी- 2 वटी × तीन मात्रा
 - द्राक्षारिषि - 20 मि.ली.
 - समजल 1 × 2 मात्रा
4. रात्रि में
 - हरिद्राद्य घृत - 20 मि.ली.
 - दूध से एक मात्रा

कुम्भकामला

1. प्रातः सांयम्
 - मण्डूरभस्म - 1 ग्राम
 - दाव्यादि चूर्ण - 3 ग्राम
 - आरोग्यवर्धनी वटी - 500 मि.ग्रा.
 - गोमूत्र से 1 × 2 मात्रा

2. भोजनोत्तर
 - लोहासव - 20 मि.लि.
 - समजल 1 × 2 मात्रा
 - फलत्रिकादि क्षाथ- 20 मि.लि.
 - समजल से 1 × 2 मात्रा
3. रात्रि में
 - अविपत्तिकर चूर्ण - 3 ग्राम
 - कोण्ण जल से एक मात्रा

हलीमक

1. प्रातः सांयम्
 - द्राक्षादि घृत - 20 मि.लि.
 - दूध से 1 × 2 मात्रा
2. पुनर्नवामण्डूर - 500 मि.लि.
 - नागराद्य चूर्ण - 1 ग्राम
 - मुस्तक चूर्ण - 2 ग्राम
 - मधु से 1 × 2 मात्रा
3. भोजनोत्तर
 - धात्र्यरिषि - 20 मि.ली.
 - समजल 1 × 2 मात्रा
4. रात्रि में
 - आरोग्यवर्धनी वटी - 2 वटी
 - कोण्ण जल से एक मात्रा
5. पंचकर्म चिकित्सा
 - यापना बस्ति-15 दिन तक

पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

- | आहार | विहार |
|--|--------------------------------------|
| पुर्णनवा, गुडुची, पालक, लौकी, मूली, | विरेचन, स्नेहन, अग्निकर्म, दहन कर्म, |
| बथुआ, कच्चा पपीता, कच्चा केला, आलू, | विश्राम आदि। |
| आंवला, दाढ़िय, मुनक्का, अंजीर, सेब, | |
| पका पपीता, पुराना चावल, गेहूँ, जौ, | |
| अरहर, मूंग, मसूर, परबल, चौलाई, गोघृत, | |
| गोदुरध, तक्र, कूम्बाण्ड, जीवन्ती, शाक, | |
| तालमखाना, पका आम, हरड़, आदि। | |

अपथ्य

आहार

विदाही, गुरुपदार्थ, सरसों का तैल, उड़द, पान, गर्ममसाला, राई, होंग, तिल, अत्यम्बुपान, मटर आदि शिष्वीधान, देर से पचने वाले पदार्थों का सेवन आदि।

विहार

जलौंका, रक्तमोक्षण, धूमपान, वमन, वेगधारण, स्वेदन, मैथुन, दिवास्वप्न अतिआतप सेवन, व्यायाम, क्रोध, अतिमांगमन, अति मात्रा में घृत व तैल का प्रयोग आदि।

Latest Developments
Jaundice

Jaundice is yellowish discolouration of the conjunctiva, sclera, mucosa under the tongue and skin due to deposition of bile pigments from haemolytic, hepatocellular or obstructive disorders of hepatobiliary system and occurs as a symptom.

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Jaundice से कामला का काफी साम्य है। Jaundice का मुख्य कारण Infection है जिससे यकृत् में शोथ (Hepatitis) हो जाता है, परिणाम स्वरूप कामला (Jaundice) उत्पन्न होता है। इसके निम्न भेद वर्णित हैं-

1. Hepato cellular Jaundice
2. Haemolytic Jaundice
3. Obstructive Jaundice

Symptoms

1. Jaundice
2. Abdominal Pain
3. Nausea & Vomiting
4. Anorexia
5. Tenderness & enlarged liver
6. Headache

Management : Principles

1. Bed rest
2. High Caloric diet, Palatable nutritious diet.
3. Hepatoprotective drugs should be used & all hepatotoxic drugs & alcohol should be completely avoided.
4. Proper hygiene should be maintained.
5. Correction of abnormal fluid & electrolyte state.
6. Boiled water.

••• ₹०४० •••

अध्याय-35

दाह रोग

(BURNING SYNDROME)

व्याधि परिचय

दाह अनेक रोगों में प्रधान या अप्रधान लक्षण के रूप में उपस्थित रहता है। पित्तज व्याधियों में दाह एक प्रधान व्याधि है तथा इसे पित्त के नानात्मज विकारों में गिना गया है। शरीर में कफ का क्षय होने एवं पित्त की वृद्धि होने से दाह का अनुभव होता है। आचार्य चरक ने सूत्र स्थान में स्पष्ट किया है कि जब कफ के क्षय होने से वायु प्रकृतिस्थ पित्त को जिस स्थान पर ले जाती है वहां भेद, दाह आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं, इसे उन्होंने आशयापकर्ष कहा है।

आचार्य माधवकर ने दाह का वर्णन स्वतंत्र रूप से किया है। आधुनिक मतानुसार इसका साम्य Peripheral neuritis से कर सकते हैं।

प्रमुख संदर्भ ग्रन्थ

1. सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र-अध्याय 47
2. माधव निदान-अध्याय 19
3. भाव प्रकाश-अध्याय 21
4. योग रत्नाकर-दाह चिकित्सा प्रकरण

दाह के प्रमुख निदान

दाह के प्रमुख निदान मुख्यतः पित्त वर्धक आहार विहार का सेवन है। इसके अतिरिक्त निम्न निदान भी दाह की उत्पत्ति में विशेष योगदान दे सकते हैं-

1. ऊष्ण तीक्ष्ण मद्यपान
2. पित्त वर्धक आहार विहार सेवन
3. तृष्णा
4. वेगधारण
5. असूक् पूर्ण कोष्ठता (Internal Haemorrhage)
6. धातुक्षय (वातज दाह रोग)
7. क्षत
8. मर्माभिघात
9. आशयापकर्ष (वातिक दाह)

1. "प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्यणः क्षये। स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥ तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः ॥" (च.सू. 17/45-46)

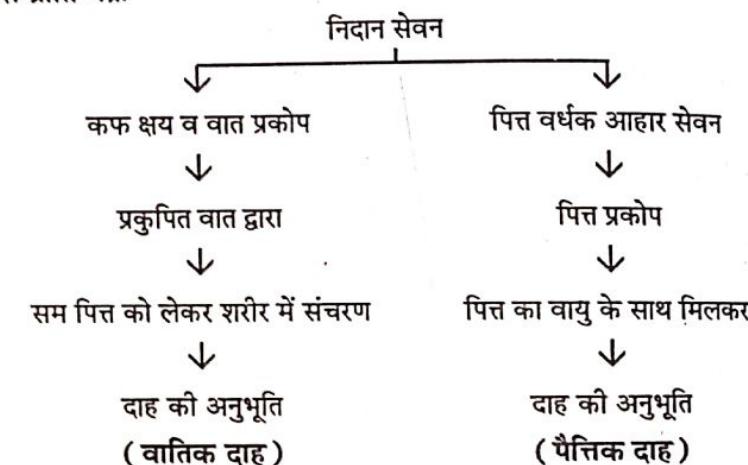
इसमें से आशयापकर्ष एवं धातुक्षय वातिक दाह के निदान हैं, क्योंकि शरीर में दाह की अनुभूति वायु के द्वारा ही होती है। शेष अन्य निदान पित्तज दाह के निदान हैं।

सम्प्राप्ति

निदानों के सेवन से कफ के क्षीण होने पर तथा वायु के वृद्ध होने, पर प्रकुपित वायु जब समप्रमाण में स्थित पित्त को शरीर के जिस-जिस स्थान पर ले जाता है तब वहाँ दाह उत्पन्न होता है। इस को वातिक दाह कहते हैं।

जब स्वप्रकोपक कारणों से कुपित पित्त वायु की सहायता से शरीर में संचरण करता है तब दाह होता है। यह पैत्तिक दाह कहलाता है।

सम्प्राप्ति चक्र



सम्प्राप्ति घटक

- दोष - पित्त प्रधान, वात
- दूष्य - रस धातु
- स्रोतस् - रक्त वह स्रोतस्
- अधिष्ठान - त्वक्, स्नायु
- स्रोतोद्युषि - विमार्ग गमन
- स्वभाव - आशुकारी
- साध्यासाध्यता - साध्य

सामान्य लक्षण

दाह के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं-

1. करतल व पादतल में दाह (Burning in palms & soles)

2. सम्पूर्ण शरीर में दाह (Burning in body)
 - भेद-आचार्यों ने दाह के निम्न आठ प्रकार बताए हैं-
1. मद्यज दाह- (Alcoholic Peripheral neuritis)
2. रक्तज दाह- (Burning syndrome of Hyper pyrexia, Hypertension or Menstrual disorders)
3. पैत्तिक दाह- (Burning syndrome of pyrexia)
4. तृष्णा निरोधज दाह- (Dehydration)
5. रक्तपूर्ण कोष्ठज दाह- (Peripheral neuropathy caused by Internal haemorrhage/Local blood congestion)
6. धातुक्षयज दाह- (Burning syndrome of deficiency disorder)
7. क्षतज दाह- (Peripheral neuropathy of Anaemia/Haemorrhage T.B.)
8. मर्माभिघातज दाह- (Burning syndrome of traumatic origin and shock)

दाह के भेदानुसार विशिष्ट लक्षण-दाह के उपरोक्त आठ भेदों के विशिष्ट लक्षण निम्न प्रकार हैं-

1. मद्यज दाह के लक्षण¹-विधि विपरीत मद्यपान करने से उत्पन्न ऊप्पा पित्त व रक्त से मिलकर जब त्वचा में पहुँचता है तब भयंकर दाह उत्पन्न करता है। इससे घोर त्वक् दाह होता है।
2. रक्तज दाह के लक्षण²-प्रकुपित रक्त सम्पूर्ण शरीर में व्यास होकर दाह उत्पन्न करता है। इसके निम्न लक्षण हैं-
 1. तीव्र प्यास (Polydypsia)
 2. रोगी का शरीर लाल होना (Reddish colouration of body of patient)
 3. आंखे लाल होना (Reddish eyes)
 4. रोगी के मुख व शरीर से लोहे की गंध आना।
 5. रोगी अपने को अग्नि से व्यास सा अनुभव करता है।

-
1. “त्वचं प्राप्तस्तु पानोप्पा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः। दाहं प्रकुरुते घोरं पित्तवत्र भेषजम्॥”
(सु.उ. 47/54)
 2. “कृत्स्नदेहानुगं रक्तमुद्रिकं दहति ह्वति। सशूद्यते दहते च ताप्राभस्ताप्रलोचनम्॥
लोहाग्निप्रवदनो बहिमेवावकीर्यते॥” (सु.उ. 47/65)

3. पैचिक दाह के लक्षण^१-पैचिक दाह के लक्षण पित्तज ज्वर के समान होते हैं।
4. तृष्णा निरोधज दाह^२-तृष्णा का वेग रोकने से जलीय धातु के क्षीण हो जाने पर बढ़ा हुआ पित्त शरीर के बाह्य एवं आध्यान्तर अवयवों में दाह उत्पन्न कर देता है। इसके निम्न लक्षण हैं-
 1. गल, तालु, ओष्ठ शुक्ता (Dryness of Throat, Palate & Lips)
 2. मूर्च्छा (Fainting)
 3. जिहा बाहर निकलने पर कम्पन करती है।
 5. रक्तपूर्ण कोष्ठज दाह के लक्षण^३-आध्यान्तर रक्तस्राव होने से होने वाला दाह अत्यंत कष्टप्रद होता है।
 6. धातुक्षयज दाह के लक्षण^४-रस-रक्तादि धातुओं का क्षय होने के कारण वो दाह होता है उसे धातु क्षयज दाह कहते हैं। इसके निम्न लक्षण होते हैं-
 1. मूर्च्छा (Fainting)
 2. प्यास (Polydypsia)
 3. स्वरसाद (Diminished voice)
 4. क्रियाहीनता (Loss of function)
 5. कष्टसहित दाह (Painful burning)
 7. क्षतज दाह के लक्षण^५-क्षत के कारण अन्न न खाने एवं अनेक प्रकार का शोक करने से क्षतज दाह होता है। इसमें निम्न लक्षण होते हैं-
 1. अन्तर्दाह (Internal burning)
 2. तृष्णा (Polydypsia)
 3. मूर्च्छा (Fainting)
 4. प्रलाप (Delirium)
 8. मर्माभिघातज दाह के लक्षण^६-मर्म प्रदेश पर आघात लगने से होने वाला दाह मर्माभिघातज दाह कहलाता है। यह असाध्य होता है। इसके निम्न लक्षण होते हैं-

1. "पित्तज्वरसमः पित्तात्स चाप्यस्य विधिहित।" (सु.४. 47/70)
2. "तृष्णानिरोधादव्याती क्षीणे तेजः समुद्रतम्। सवाहाप्यान्तरं देहं दहेऽमन्द चेतसः॥ संशुष्कगलतात्पोषो जिह्वां निष्कृत्य वेपेते।" (सु.४. 47/61)
3. "असृजा पूर्णकोष्ठस्य दाहो स्यात्सुदःसहः।" (सु.४. 47/63)
4. "धातुक्षयोक्तो यो दाहतेन मूर्च्छातृष्णान्वितः। क्षामस्वरः क्रियाहोनेः भृंग सीदाति पीडितः॥" (सु.४. 47/74-75)
5. "क्षतजोऽनशनतश्चात्रं शोचतो वाऽप्यनेकधा। तेनान्तर्द्व्यतेत्यर्थं तृष्णा मूर्च्छा प्रलापवत्॥" (माति. 19/6)
6. "मर्माभिघातजोऽप्यस्ति सोऽसाध्यः सप्तमो मतः। सर्व एव च वर्ज्याः स्युः शीत ग्राहस्य दीहिः॥" (माति. 7)

1. शीतगात्रता (Cold & clammy skin)
2. अवसाद (Shock)
3. तीव्र अन्तर्दाह (Intense Internal burning)

साध्यासाध्यता

1. मर्माभिघातज दाह असाध्य होता है।
2. अन्य दाह जिनमें शरीर बाहर से शीत होने पर भी भीतर दाह का अनुभव हो वह असाध्य होता है।

चिकित्सा सिद्धान्त^१

दाह की चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं-

1. सर्वप्रथम निदान परिवर्जन करना चाहिये।
2. बाह्य एवं आध्यान्तर रूप से शीतल आहार-विहार औषध एवं उपचार की व्यवस्था करनी चाहिये।
3. पित्तज ज्वर एवं रक्तपित की औषध का प्रयोग दाह की चिकित्सा में करना चाहिये।
4. वर्फ के पानी का सेवन, चन्द्रमा की शीतल किरणों का सेवन, मुक्ता मणियों का हार धारण करना, नीलकमल युक्त ठण्डे विस्तर पर सोना चाहिये।
5. शीत ग्रह में निवास, शीतल जल से ल्लान आदि का निर्देश है।
6. आमलकी, द्राक्षा, कमल, नारियल, इक्षुरस, ककड़ी, कुम्भाण्ड, आम्रपानक आदि का प्रयोग प्रचुरता से करना चाहिये।

चिकित्सा

दाह की चिकित्सा में प्रयुक्त शास्त्रोक्त विभिन्न संशमन योगों का वर्णन निम्नानुसार है-

1. रस/भस्म/पिण्डी-मात्रा - 125 - 250 मि.ग्रा.

अनुपान - मधु/जल

- (i) चन्द्रकला रस-रक्तपितोक्त।
- (ii) शंखभस्म-शंख।
- (iii) प्रवाल पिण्डी-प्रवाल।
- (iv) प्रवाल पंचामृत-प्रवाल, मुक्ता, शंख, शुचि।
- (v) दाहान्तक रस-पारद, गंधक, ताम्रभस्म।
- (vi) सुधाकर रस-रस सिन्दूर, आकभस्म, स्वर्णभस्म, मुक्ताभस्म।
- (vii) मुक्ता पिण्डी-मुक्ता।

1. i) "दाहेऽर्जशिशिरं तोयं क्रिया कार्या सुशीलता। सवाहे चन्दनातेपश्चन्दकस्तूरीका युतः॥" (यो.४. 1/10)
- ii) "पित्तवत्त्र भेषजम्।" (सु.४. 47)

2. वटी-मात्रा - 250 - 500 मि.ग्रा.

अनुपान - शीतल जल

(i) दशमूल घन वटी-दशमूल।

(ii) मृत संजीवनी वटी-पिप्पली, शुद्ध विष, हिंगुल।

3. चूर्ण-मात्रा - 3 - 6 ग्राम

अनुपान - जल

(i) चन्दनादि चूर्ण-चन्दन, खस, वासा, प्रियंगु।

(ii) खर्जूरादि चूर्ण-खर्जूर, पद्माख, खस।

(iii) उशोर चूर्ण-खस।

4. छाथ/आसव-अरिष्ट-मात्रा-10 - 20 मि.ली.

अनुपान - जल

(i) चन्दनासव-चन्दन, खस, पद्मकाष्ठ।

(ii) द्राक्षासव-पूर्वोक्त।

(iii) बलारिष्ट-बला, पुनर्वा, खस, प्रियंगु, कमलकेशर, चीनी।

(iv) धान्यक हिम-धनिया।

(v) पर्पटादिकाथ-पर्पट, मुस्तक, खश।

5. घृत-मात्रा - 10 - 30 मि.ली.

अनुपान- दुग्ध/जल

(i) शतधौत घृत -घृत।

(ii) सहस्रधौत घृत- चन्दन, खश, घृत।

(iii) चन्दनादि घृत-चन्दन, खश, घृत।

6. तैल-मात्रा - 10 - 20 मि.ली.

(i) चन्दनादि तैल - चन्दन, कुश, खस, प्रियंगु, लोध, मंजीठ।

(ii) कुशाद्य तैल- कुश, काश, शर, दर्भ, काण्डेक्षु, शालपर्णी।

आदर्श व्यवस्था पत्र

1. प्रातः सांयम्

प्रवाल पिण्ठी - 500 मि.ग्रा.

दाहान्तक रस - 250 मि.ग्रा.

चन्दनादि चूर्ण - 3 ग्राम

शहद न्ते 1 × 2 मात्रा

भोजनोत्तर

उशीरासव या चन्दनासव - 20 मि.लि.

समजल से - 1 × 2 मात्रा

ब्राम्ही वटी - 2 वटी × तीन मात्रा

3. शतधौत घृत का शरीर पर लेप करें।

4. धान्यक हिम/शीतल जल का प्रयोग करें।

5. रात्रि

त्रिफला चूर्ण - 3 ग्राम
जल से 1 मात्रा

पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार

शालि चावल, साठी चावल, मूंग, मसूर, चना, जौ, जांगल पशु-पक्षी का मांस रस, धान के लावा का सत्तू, मिश्री, शतधौत घृत, दुग्ध, मक्खन, कहू, ककड़ी, केला, कटहल, अनार, परवल, पित्त-पापड़ा, नारियल, धनिया, सौंफ, चिरोजी, सिंधाड़ा, महुआ, नेत्रबाला आदि समस्त तिक्त द्रव्यों का प्रयोग।

अपथ्य

आहार

विरुद्ध भोजन, ऊषा-तीक्ष्ण विदाही पदार्थों का सेवन, मट्ठा, शहद, हर्दींग कटु पदार्थों का सेवन आदि।

विहार

शीतल जल सेवन, स्नान, अवगाहन, परिषेचन, चन्दन का लेप, शीतल वायु सेवन, चन्द्रकिरण सेवन, प्रियालिङ्गन आदि।

विहार

स्त्री सेवन, मद्यपान, क्रोध, वेग धारण, हाथी घोड़े की सवारी, अधिक मार्गगमन, व्यायाम आदि।

अध्याय-36

रक्तगत वात (HYPERTENSION)

व्याधि परिचय

आधुनिक समय में सर्वाधिक प्रचलित व्याधि Hypertension को आयुर्वेद में रक्तगत वात कहा जा सकता है। आयुर्वेद में रक्तगत वात नाम से किसी व्याधि का वर्णन उपलब्ध नहीं है, परन्तु वात व्याधि प्रकरण में रक्त धातु को आश्रित कर वात दोष जब संचरण करता है तब Hypertenstion के मिलते जुलते लक्षण प्रकट होते हैं। रक्तवाही स्रोतस् की भित्ति पर व्यान वायु से प्रेरित रक्त द्वारा जो भार पड़ता है उसे उच्च रक्त चाप कहते हैं। कुछ आचार्य इसे रसज् विकार मानते हैं, क्योंकि रसवाही स्रोतस् का मूल हृदय, व दश धमनियाँ हैं एवं रक्तगत वात धमनी या सिराओं से तथा हृदय से संबंधित व्याधि है।

प्रमुख संदर्भ ग्रन्थ

उच्च रक्त चाप या रक्तगत वात का स्पष्टतः पृथक् वर्णन संहिता ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है।

रक्तगत वात के निदान

रक्तगत वात के निदान निम्न हो सकते हैं-

I. आहारज निदान

1. गुरु, अभिष्वंदी, स्त्रिघ, कटु, अम्ल, लवणाति सेवन।
2. अति भोजन
3. क्षाराति सेवन
4. तीक्ष्णाहार सेवन
5. मद्य सेवन
6. विदाही, अम्ल आहार सेवन
7. अति मधुर व संतर्पक आहार सेवन

II. विहारज निदान

- | | |
|-------------|----------------|
| 1. वेग धारण | 2. अति व्यायाम |
| 3. भय | 4. शोक, क्रोध |
| 5. चिन्ता | 6. अचेष्ट |

7. दिवास्वप्न**संप्राप्ति**

उपर्युक्त निदानों के सेवन से कफ व मेद की वृद्धि होकर स्रोवरोध होता है तथा पानसिक हेतुओं से मन क्षोभ के कारण वात का प्रकोप होता है। कफ व मेद धमनियों में स्थान संश्रय कर धमनी काठिन्य उत्पन्न करते हैं एवं कुपित व्यान वायु रक्त संवहन की प्रक्रिया को मिथ्या गति प्रदान कर रक्त चाप को बढ़ा देती है। परिणाम स्वरूप रक्तगत वात के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

रक्तगत वात में त्रिदोष, रक्त एवं मेद दूष्यों की मुख्य भूमिका होती है।

सम्प्राप्ति चक्र**निदान सेवन (त्रिदोष प्रकोप)**

मनः क्षोभ



कफ व मेद की वृद्धि



धमनियों में स्थान संश्रय



मार्गावरोध



वात प्रकोप (व्यानवायु का प्रकोप)



व्यानवायु द्वारा रक्त के साथ मिलकर



रक्त संवहन की मिथ्यागति



रक्तगत वात (उच्च रक्तचाप)

सम्प्राप्ति घटक

दोष - त्रिदोष (वात प्रधान)

दूष्य - रक्त, मेद

स्रोतस् - रक्तवह, रसवह, मनोवह

अधिष्ठान - धमनियाँ

स्रोतोदुष्टि - अतिप्रवृत्ति, संग, विमार्ग, गमन

स्वरूप - चिरकारी

उद्भव - आमाशयोत्थ

साध्यासाध्यता - कृच्छ साध्य

लक्षण

- रक्तगत वात के निम्न लक्षण संहिता में उपलब्ध होते हैं¹-
1. तीव्र रुजा (Pain)
 2. संताप (Burning sensation)
 3. वैवर्ण्य (Discolouration)
 4. कृशता (Weakness)
 5. अरुचि (Anorexia)
 6. अरूषि (Boils over body)
 7. भोजन के बाद स्तब्धता (Stiffness after meals)

आचार्य चरक द्वारा वर्णित रक्तावृत्त वात के लक्षणों का भी उच्चरक्त चाप से साध्य हो सकता है²। यह लक्षण निम्न प्रकार हैं-

1. दाह (Burning sensation)
2. त्वचा व मांसपेशी दाह (Burning in muscles & skin)
3. लालिमा युक्त शोथ (Reddish oedema)
4. मण्डल उत्पत्ति (Rashes)

योगरक्ताकर में वर्णित निम्न लक्षण भी रक्तगत वात के ही हैं³-

1. पैरों में दाह (Burning in feet)
2. त्वक् स्फोट (Blisters)
3. श्वयथु (Oedema)
4. क्लम (Tiredness without exertion)
5. रक्तस्राव (Haemorrhage)
6. स्पन्दन (Palpitation)
7. शरीर में कम्प (Tremors)

इन लक्षणों के अतिरिक्त उच्चरक्त चाप के रोगी में निम्न लक्षण भी देखने को मिलते हैं-

1. क्रोध (Anger)
2. स्वेदाधिक्य (Excessive sweating)
3. हृदयद्रव (Palpitation)
4. विबन्ध (Constipation)
5. कर्णनाद (Tinnitus)

1. “रुजस्तीव्रा ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशतारुचिः । गत्रे चारुषि भुक्तस्य स्तम्भशासुगतेऽनिले ॥”
(च.वि. 28/31)
2. “रक्तावृत्ते सदहारितस्त्वङ् मांसान्तरजो भृशम् । भवेत् सरागः श्वथुर्जायने मण्डलानि च ॥”
(च.वि. 28/63)
3. “पादयोश्च भवेद्दाहस्त्वक्स्फोटः श्वयथुः क्लमः । रक्तस्रावः स्पन्दनं च रक्तवातस्य लक्षणम् ॥”
(लो. २)

6. स्मृतिनाश (Loss of memory)
7. दृष्टिमांद्य (Diminished vision)
8. मूर्छा (Fainting)
9. पिण्डलियों में वेदना (Pain in calf region)
10. शरीर में शून्यता (Numbness in body)

साध्यासाध्यता

1. पुराना रक्तगत वात कृच्छ्र साध्य होता है।
2. नवीन रक्तगत वात साध्य है।
3. उपद्रव युक्त रक्तगत वात असाध्य है।

चिकित्सा सिद्धान्त

रक्तगत वात की चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार निर्धारित किए जा सकते हैं-

1. निदान परिवर्जन-सर्वप्रथम वात प्रकोपक निदानों के सेवन का त्याग करना चाहिये।
2. रोगी को लघु, सुपाच्य, स्वेह रहित, लवण रहित आहार लेना चाहिये एवं कफ मेद वर्धक आहार का सेवन नहीं करना चाहिये।
3. रोगी को अपनी जीवन शैली में समयानुकूल परिवर्तन करना चाहिये।
4. संशोधन चिकित्सा में लेखन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। शिरः शूल एवं भ्रम आदि होने पर शिरोधारा कराना चाहिये।
5. संशमन चिकित्सार्थ वात नाशक, कफ-मेद नाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये।
6. हृद्य व बल्य औषधियों का प्रयोग कराना चाहिये।

चिकित्सा

रक्तगत वात की संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्न प्रकार निर्धारित की जा सकती है-

1. संशोधन चिकित्सा-विभिन्न स्तरों पर हुए शोधकार्यों में लेखन बस्ति के परिणाम रक्तगत वात की चिकित्सा में लाभदायक सिद्ध हुए हैं इससे रक्तचाप व शरीर भार में आशातीत कमी होना सिद्ध हुआ है।

1. विरेचन कर्म
2. लेखन बस्ति (1 माह तक)
3. रक्तमोक्षण
2. संशमन चिकित्सा-रक्तगतवात की चिकित्सा में प्रयुक्त संशमन योगों का वर्णन निम्नानुसार है-

1. “शीताः प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्त मोक्षणम् ॥” (चक्रपत्र)

1. रस/भस्म/पिण्डी-मात्रा - 125 - 250 मि.ग्रा.

अनुपान - जल/शहद

- (i) चन्द्रकला रस-रक्पितोक्त।
- (ii) प्रवाल पिण्डी- प्रवाल।
- (iii) जहर मोहरा पिण्डी-जहर मोहरा।
- (iv) पुनर्नवा मण्डूर-कामलोक्त।
- (v) प्रभाकर रस-हृदयरोग में वर्णित।
- (vi) नागार्जुनाभ्र रस-हृदय रोग में वर्णित।
- (vii) शेत पर्षटी-नौसादर, कलमीसोरा, फिटकरी।

2. वटी-मात्रा - 250 - 500 मि.ग्रा.

अनुपान - जल

- (i) सर्पगन्धाघन वटी-सर्पगंधा।
- (ii) ब्राह्मी वटी-ब्राम्ही, गुडुची, वचा।
- (iii) पुष्कर ब्राम्ही गुग्गुल-पुष्कर मूल, ब्राम्ही, गुग्गुल।
- (iv) रसोनगुग्गुल-रसोन, गुग्गुल।
- (v) नवकगुग्गुल-त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, गुग्गुल।

3. चूर्ण-मात्रा - 3 - 6 ग्राम

अनुपान - जल

- (i) सर्पगंधा चूर्ण- सर्पगंधा।
- (ii) अश्वगंधा चूर्ण-अश्वगंधा।
- (iii) जटामांसी चूर्ण-जटामांसी।
- (iv) वचादि चूर्ण-वचा, गुडुची, शंखपुष्पी।
- (v) शंखपुष्पी चूर्ण-शंखपुष्पी व सर्पगंधा।

4. क्लाथ/आसव-अरिष्ट-मात्रा - 20 - 30 मि.ली.

अनुपान-जल

- (i) दशमूल क्लाथ-दशमूल।
- (ii) रासा क्लाथ-रासा, गुडुची, देवदारु।
- (iii) मांस्यादि क्लाथ-जटामांसी, वचा, गुडुची।
- (iv) सारस्वतारिष्ट-दशमूल, जटामांसी, शंखपुष्पी।
- (v) दशमूलारिष्ट-दशमूल, देवदारु, सिता।
- (vi) अर्जुनाद्यारिष्ट-हृदयरोग में वर्णित है।
- (vii) धात्र्यारिष्ट-कामलोक्त।

1. प्रातः सांयम्
जहरमोहरा - 250 मि.ग्रा.
हृदयार्णव रस - 250 मि.ग्रा.
सर्पगंधा घनवटी- 250 मि.ग्रा.
अर्जुन त्वक् चूर्ण - 3 ग्राम
मधु से 1×2 मात्रा
भोजनोत्तर
रसोन गुग्गुल- 2 वटी \times तीन मात्रा
जल से
 2. अर्जुनारिष्ट- 20 मि.ली.
सम जल से 1×2 मात्रा
 3. रात्रि में
जटामांसी चूर्ण - 3 ग्राम
जल से एक मात्रा
 4. पथ्य सेवन
 5. योगाभ्यास-शवासन।
- योग एवं प्राकृतिक उपाय-रक्तगत वात में योगाभ्यास बहुत उपयोगी है। समुचित यम-नियम पालन व शवासन, मकरासन, बज्रासन आदि आसनों का अभ्यास करना चाहिये। साथ ही प्राणायाम का अभ्यास भी लाभकारी है।
- पथ्य एवं अपथ्य**
- पथ्य**
- | आहार | विहार |
|--|---|
| चावल, दूध, सेव, अंगूर, पपीता, अनार, केला, संतरा, अल्पमात्रा में गोघृत, सैंघव, औषध सिद्ध घृत, यव, जौ, सावां, कोदो, अरहर, मूंग, पालक, हरे पत्तेदार सब्जियां, लघु आहार। | उपवास, व्यायाम, सदबृत पालन, वेगों को धारण न करना, धारणीय वेगों को धारण करना, लंघन, मर्दन आदि। |

अपथ्य

आहार

लवण, धी, कफ-मेद वर्धक आहर,
मिठाईयां, दूध की बनी चीजें, मलाईदार
दूध व दही, अधिक मिर्च मसालेदार
भोजन डबलरोटी, सूखे मेवे, अण्डे,
मांसाहार, तम्बाकू सेवन, स्निग्ध आहार
सेवन, अध्यशन आदि।

**Latest Developments
Essential Hypertension**

आधुनिक भतानुसार रक्तगत वात का साम्य Essential Hypertension से किया जा सकता है। The term Hypertension indicates a chronically elevated systolic or diastolic blood pressure. The higher the arterial pressure systolic or diastolic, the greater the cardiovascular morbidity & mortality. It is found in all age groups & both sexes.

W.H.O. has recommended that the Blood Pressure of 140/95 mm of Hg. or above should be considered as arterial hypertension.

Causes

1. **Idiopathic**—High blood pressure without evident organic cause which accounts for about 90% Patient.

2. **Secondary causes**

1. Renal cause 3. Cardiovascular cause

2. Endocrinial cause 4. Neurogenic cause

5. **Others**—1. Toxaemia of pregnancy

2. Drug abuse

3. Poisoining

4. Polycythaemia

5. Pre eclampsia

6. Carcinoid syndrome

Management : Principles

- Avoid oily, spicy & salty food in diet.
- Restriction of salt & fats is must.
- Start regular exercises & Yogasanas.
- Patients should change their life styles.
- Diuretics may be useful.
- Antihypertensive drugs should be started.

विहार

अतिक्रोध, अतिश्रम, अतिमार्गमन,
अति चिन्ता, शोक, लगातार बैठे रहना,
अतिशीत स्नान आदि।

पष्टुम खण्ड

शुक्रवह स्त्रोतस् के रोग

मांसवह-मेदोवह-अस्थिवह-मज्जावह-शुक्रवह स्त्रोतस् के रोग

1. मांसवह स्त्रोतस्--

मांसवह स्त्रोतस् का मूल स्नायु, त्वचा व रक्तवाही धमनियाँ हैं। अभिष्यन्दी, गुरु, स्थूल भोजन से तथा भोजन के पश्चात् दिवाशयन से इस स्त्रोतस् की दुष्टि होती है²। स्रोतो दुष्टि होने पर अधिमांस, अर्वुद, मांसकील, गलशुण्डी, अलजी, गलगण्ड (घैंधा), गण्डमाला एवं उपजिहिका जैसे रोगों की उत्पत्ति होती है³। ये सभी रोग शल्य-शालाक्य विज्ञान से सम्बन्धित हैं। अतः इनका विस्तृत वर्णन शल्य-शालाक्य सम्बन्धी ग्रन्थों में देखें।

2. मेदोवह स्त्रोतस्—

मेदोवह स्त्रोतस् का मूल वृक्क, वसा व कटि स्थान है⁴। व्यायाम न करने से, दिन में शयन करने से, मेदस्वी (Fatty & Oily Diet) पदार्थों का अतिसेवन करने से एवं अधिक मद्यपान सेवन से इस स्त्रोतस् की दुष्टि होती है⁵। स्रोतो दुष्टि होने पर प्रमेह के पूर्वरूप यथा मुख तालु कण्ठशोष, पिपासाधिक्य, आलस्य, अतिनिद्रा, तन्द्रा, हस्तपाद शून्यता व दाह आदि लक्षण एवं अष्ट निन्दित रोग (अतिदीर्घ, अतिहस्त, अतिलोम, अलोम, अतिकृष्ण, अतिगौर, अतिस्थूलता व अति कृशता) उत्पन्न होते हैं⁶। ये समस्त रोग व लक्षण

- i) "मांसवहानां च स्त्रोतसां स्नायुर्मूलं, त्वक् च॥" (च.वि. 5/8)
ii) "मांसवहे द्वे, तयोर्मूलं स्नायुत्वचं रक्तवाही धमन्यः॥" (सु.शा. 9/12-क)
- "अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरुणि च।
मांसवहानां दुष्प्राप्ति भुक्त्वा च स्वपत्तां दिवा॥" (च.वि. 5/15)
- "क्षणु मांसप्रदोषजान्॥ अधिमांसावृदं कीलं गलशालूकशुण्डिके।
पूतिमांसालजीमण्डगमालोपजिहिका॥" (च.सू. 28/13-14)
- i) "मेदोवहानां स्त्रोतसां वृक्कौ मूलं वपावहनं च।" (च.वि. 5/8)
ii) "मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कीलं वृक्कौ च॥" (सु.शा. 9/12)
- "अव्यायामादिवास्वप्नामेद्यानां चातिभक्षणात्।
मेदोवहानीनि दुष्प्राप्ति वारुण्याशातिसेवनात्॥" (च.वि. 5/16)
- "निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्वरूपाणि चानि च॥" (च.सू. 28/15)

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से अन्तःस्नाव ग्रन्थियों (Endocrinological Disorders) के विकार ही हैं। अतः इन सभी रोगों का विस्तृत वर्णन कायचिकित्सा तृतीय भाग में किया जायेगा।

3. अस्थिवह स्नोतस्—

अस्थिवह स्नोतस् का मूल मेद एवं जघन है¹। अविधि व अति व्यायाम से, अतिक्षेप से, अति विघटन (आघात) से एवं वातवर्धक आहार-विहार के सेवन से इस स्नोतस् की दुष्टि होती है²। स्नोतोदुष्टि होने पर अध्यस्थि (सन्धिवात), अधिदन्त, अस्थिभेद, अस्थिशूल एवं केश-लोम-नख का गिरना आदि रोग लक्षण उत्पन्न होते हैं³। इन का विस्तृत वर्णन कायचिकित्सा तृतीय भाग में वातव्याधि नामक अध्याय के अन्तर्गत किया जाएगा।

4. मज्जावह स्नोतस्—

मज्जावह स्नोतस का मूल अस्थि और सन्धियाँ हैं⁴। आघात से एवं विरुद्ध आहार-विहार के सेवन से इस स्नोतस् की दुष्टि होती है⁵। स्नोतोदुष्टि होने पर सन्धि बेदना, भ्रम, मूर्च्छा, तम आदि रोग व लक्षण उत्पन्न होते हैं⁶। इन रोगों का विस्तृत वर्णन कायचिकित्सा तृतीय भाग में मानस रोगों के अन्तर्गत किया जाएगा।

शुक्रवह स्नोतस् परिचय

शुक्र शरीर की अन्तिम धातु है। इसी से सन्तानोत्पत्ति होती है। यह सभी धातुओं का सार अंश है। शुक्र धातु का पोषण भी आहारगत पोषकांशों से होता है। आर्तववह स्नोतस् से तात्पर्य आर्तव शोणित (Menstrual Blood) एवं स्त्री बीज (Ovum) से है।

1. “अस्थिवहारा स्नोतसां मेदोमूलं जघनं च।” (च.वि. 5/8)
2. “व्यायामादितिसंक्षेपादस्त्रामतिविद्वनात्।
अस्थिवाहीनि दुष्प्रति वातलानां च सेवनात्॥” (च.वि. 5/17)
3. “अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता।
केशलोमनखमश्वुदोषाश्वासिष्प्रदोपजाः॥” (च.सू. 28/16)
4. “मज्जवहानां स्नोतसामस्थीनि मूलं सन्धयश्च।” (च.वि. 5/8)
5. “उत्पेपादत्यभिष्यदादभिघातात् प्रपीडनात्।
मज्जवाहीनि दुष्प्रति विरुद्धानां च सेवनात्॥” (च.वि. 5/18)
6. “रुक्पर्वणं भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसस्तथा।
अरुपां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम्॥
मज्जा प्रदोपात्..... ॥” (च.सू. 28/17)

शुक्रवह स्नोतस् मूल

शुक्रवह स्नोतस का मूल वृषण (Testis), शेफ (Penis) व स्तनों (Breasts) को माना गया है¹।

आर्तववह स्नोतस् का मूल गर्भाशय एवं आर्तववह धमनियाँ मानी गयी हैं²।

शुक्रवह स्नोतोदुष्टि हेतु

शुक्र का वेग रोकने से, अकाल में व अयोनि में मैथुन करने से, अधिक मैथुन करने से एवं शुक्रवाही स्नोतस पर शस्त्र, क्षार एवं अग्नि के लग जाने से शुक्रवाही स्नोतस दुष्ट हो सकते हैं³।

शुक्रवह स्नोतोदुष्टि लक्षण

शुक्र एवं आर्तव में विकृति होने से क्लैब्य (नपुसंकता), अप्रहर्षण (Erectyle dysfunction) गर्भपात, गर्भलाव, चिरात् प्रसेक (देर से बीर्य निकलना), रक्तशुक्रता, मैथुनासहिष्युत्व, रक्तप्रदर, आर्तवनाश, शुक्रमेह, शुक्राशमरी आदि रोग उत्पन्न होते हैं⁴।

शुक्रवह स्नोतो दुष्टि की सामान्य चिकित्सा

शुक्रगत रोगों में मधुर-तिक्त अन्न, मैथुन, व्यायाम एवं उचित काल व मात्रा में संशोधन कराना चाहिये⁵।

शुक्र एवं आर्तववह स्नोतस् की निम्न व्याधियों का विस्तृत वर्णन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है-

1. i) “शुक्रवहे द्वे तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च॥” (सु.शा. 9/12-जौ)
ii) “शुक्रवहानां स्नोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च॥”
(च.वि. 5/8)
2. “आर्तववहे द्वे तयोर्मूलं गर्भाशय आर्तव वाहिन्यक्ष धमन्यः॥” (सु.शा. 9/12-अं)
3. “अकालयोनिगमनानिग्रहादत्मैथुनात्।
शुक्रवाहीनि दुष्प्रति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा॥” (च.वि. 5/19)
4. i) “शुक्रस्य दोषात् क्लैब्यमप्रहर्षणम्।
रोगं वा क्लैबमल्पायुर्विरुपं वा प्रजायते॥
न चास्य जायते गर्भः पतति प्रस्तवत्पर्यि।
शुक्रं हि दुष्टं सापत्वं सदारं बाधते नरम्॥” (च.सू. 28/18-19)
ii) “तत्र विद्धस्य क्लैबता चिरात् प्रसेको रक्तशुक्रता च॥” (सु.शा. 9/21)
iii) “तत्र विद्धाया वस्त्यत्वं मैथुनासहिष्युत्वमात्वनाशक्ष॥” (सु.शा. 9/22)
5. “मज्जशुक्रसमुद्धानामौषधं स्वादुत्कल्कम्।
अत्रं व्यवायव्यायामौ शुद्धिः काले च मात्रा॥” (च.सू. 28/28)

1. क्लैव्य
2. बन्धता
3. उपदंश
4. फिरंग
5. पूयमेह
6. ओज क्षय (एड्स)
7. रतिजन्य वंक्षणीय कर्णिकार्बुद
8. वंक्षण सन्धिय लस कर्णिकार्बुद
9. योषापस्मार (अपतन्त्रक)
10. स्मरोन्माद (कामोन्माद)
11. बलात्कार
12. अप्राकृतिक मैथुन, अन्य यौन मनोगत विकार

•••८०७०९००•••

अध्याय-37

क्लैव्य रोग (IMPOTENCY)

व्याधि परिचय

शुक्र धातु के दूषित होने से क्लैव्य रोग उत्पन्न होता है। इस रोग में मैथुन क्षमता तथा प्रजेत्पादन सामर्थ्य कम हो जाता है। लोक भाषा में इसे "षण्डता" वा "नपुंसकता" कहा जाता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 30
2. सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान-अध्याय 2
3. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 26
4. भावप्रकाश, उत्तर खण्ड-अध्याय 72
5. माधव निदान-उत्तरार्ध परिशिष्ट

परिभाषा

जो मुनष्य मैथुन करने में असमर्थ हो उसे नपुंसक और उसके भाव को क्लैव्य (नपुंसकता) कहते हैं¹।

पर्याय

क्लैव्य, नपुंसकता, क्लीवता, षण्डता, ध्वजोच्छाय, पुंस्त्वदोष आदि।

भेद-

आचार्यों ने क्लैव्य रोग के निम्नलिखित भेदों का वर्णन किया है—

- i. वीजोपघात जन्य नपुंसकता
- ii. ध्वजोपघात जन्य नपुंसकता
- iii. जरा जन्य नपुंसकता
- iv. शुक्रक्षय जन्य नपुंसकता

1. “यः स्यादशक्तः सुरते मनुष्यः स क्लीव उक्तः किल वैद्यवृद्दैः।
क्लैव्यं तु तद्भाव इहोपदिष्टं तत्त्वम् सामान्यमधो द्रवीमि॥” (मा.नि.परि.क्लैव्य निदानम्/2)
2. “वीजध्वजोपघातात्यां जरया शुक्रसंक्षयात्॥
क्लैव्यं संपद्यते तस्य श्रृणु सामान्यलक्षणम्॥” (च.चि. 30/154- 155)

आचार्य सुश्रूत ने शारीर स्थान में क्लैव्य रोग के निम्न भेदों का वर्णन किया हैः

- i. आसेक्य
- ii. सौगन्धिक
- iii. कुम्भीक
- iv. ईर्ष्यक
- v. घण्ड-नर व नारी घण्ड

आचार्य सुश्रूत ने चिकित्सा स्थान में क्लैव्य के अन्य निम्न भेदों का भी वर्णन किया हैः

- i. मानस क्लैव्य
- ii. आहार जन्य क्लैव्य
- iii. शुक्र क्षयज ध्वजभंग
- iv. मर्मच्छेदज क्लैव्य
- v. सहज क्लैव्य
- vi. ब्रह्मचर्यज क्लैव्य

निदान—

शास्त्रों में क्लैव्य रोग के सामान्य व विशिष्ट निदान (हेतु) निम्नानुसार वर्णित हैं—

सामान्य निदान³

- i. अत्यधिक मैथुन करना।
- ii. अकाल मैथुन करना।
- iii. अयोनि में मैथुन करना
- iv. कटु तिक्त-कषाय-लवण-अम्ल-उष्ण आहार का अति सेवन करना।
- v. शुक्र (वीर्य) का अति क्षय होना।
- vi. वृद्धावस्था होना।
- vii. भय, चिन्ता, शोक, क्रोध का होना।
- viii. शस्त्रकर्म, क्षार कर्म, अग्निकर्म का अनुचित प्रयोग करना।
- ix. शुक्रवह स्रोतस में दुष्टि होना।
- x. मल-मूत्र-शुक्र वेग धारण करना।
- xi. रसादि धातुओं का दूषित होना।

विशिष्ट निदान

क्लैव्य रोग के विभिन्न भेदों के निदान (विशिष्ट हेतु) निम्नलिखित हैं—

1. i) “पित्रोत्पत्त्वबीजत्वादासेक्यः.....। घण्डसंज्ञितः ॥”
(सु.शा. 2/41-45)
- ii) “पुस्त्वदोषास्तु पञ्चैव प्रोक्तास्तत्रेष्यकः स्मृतः ।
आसेक्यश्चैव कुम्भीकः सुगन्धिः घण्डसंज्ञकः ॥”
(शा.स.पू.खं 7/171)
2. “तैस्तैर्भावैरहृदयैस्तु.....। खरशुक्रनिमित्तजम् ॥”
(सु.चि. 26/9-14)
3. “अतिव्यवायाद्वयायामादसात्प्यानां.....।
संप्रदृष्टपात् ॥” (च.चि. 30/135-138)

(अ) वीजोपघात जन्य क्लैव्य निदान¹

- i. शीत-रुक्ष-अल्प-संक्लिष्ट भोजन करना
- ii. अजीर्णवस्था में भोजन करना
- iii. विरुद्धाशन करना
- iv. शोक-चिन्ता-भय-त्रास
- v. अत्यधिक मैथुन करना
- vi. अभिचारज कर्म
- vii. स्त्री में विश्वास व प्रेम न होना
- viii. रस-रक्तादि धातुओं का क्षय होना
- ix. वातादि दोषों का विपर्म होना
- x. भोजन न करना
- xi. अधिक श्रम करना
- xii. स्त्रियों का पुरुष में प्रेम न होना
- xiii. वमनादि पंचकर्म का उचित रूप से प्रयोग न करना

(ब) ध्वजोपघात जन्य क्लैव्य निदान²

- i. अति अम्ल, लवण, क्षार सेवन
- ii. विरुद्ध व असात्म्य भोजन
- iii. अति जल पान सेवन
- iv. विषम भोजन
- v. पिण्डात्र तथा गुरु भोजन
- vi. दधि, दुग्ध, आनूप मार्स का अति सेवन
- vii. रोग के कारण कृशता
- viii. कन्याओं के साथ मैथुन करना
- ix. अयोनिगमन यथा-हस्त मैथुन, गुद मैथुन
- x. योनि रोग पीड़ित, रजस्वला व दुर्गन्धित योनि में मैथुन
- xi. चतुष्पाद पशुओं में मैथुन करना
- xii. शेफ (मूत्रेन्द्रिय) में अभिघात
- xiii. मैथुन के नश्तात इन्द्रिय प्रक्षालन न करना

1. “रोत रुक्षाल्पसंक्लिष्ट.....।
2. “पंचकर्मार्पचारतः ॥” (च.चि. 30/158-160)
“अत्यम्ललवणक्षार.....।
प्रवर्तते ॥” (च.चि. 30/163-167)

- xiv. मूत्रेन्द्रिय में शस्त्र, दन्त, नख से क्षत हो जाना
 xv. काष्ठ प्रहार, शूक्र दोष से, शुक्र के वेग को रोकने से ध्वजोपघात जन्य नपुंसकता (ध्वजभंग) उत्पन्न होती है।

(स) जराजन्य नपुंसकता निदान¹

जघन्य, मध्य, प्रवर भेद से बय की तीन अवस्थाएं होती हैं। प्रायः वृद्धावस्था में मनुष्यों का शुक्र स्वभावतः क्षीण हो जाता है। उस अवस्था में मनुष्य के द्वारा वाजीकरण द्रव्यों का सेवन नहीं करने पर प्रतिदिन रसादि धातुओं का क्षय होने के कारण यथाक्रम वीर्य, इन्द्रिय शक्ति और बल का क्षय होने से एवं आयु की क्षीणता, अनशन, क्लान्ति तथा श्रम से जराजन्य क्लैब्यता उत्पन्न होती है।

(द) शुक्र क्षयज नपुंसकता निदान²

- अत्यधिक चिन्ता, शोक, क्रोध, भय, ईर्ष्या, उत्कण्ठा, मद व उद्गेग के कारण
- कृशावस्था में रुक्ष अन्न, पान व औषधि का निरन्तर सेवन
- असात्म्य आहार का निरन्तर सेवन
- अत्यधिक मैथुन
- रस धातु क्षीणता के कारण अन्य धातुओं का क्षीण होना (अनुलोम क्षय)

सम्प्राप्ति

(अ) सामान्य सम्प्राप्ति



- "क्लैब्यं जरासंभवं हि.....।
 हेतुभिर्तुणाम् ॥" (च.चि. 30/176-179)
- "अतीव चिन्तनाच्छैव.....।
 व्यवस्थिताः ॥" (च.चि. 30/181-183)

(ब) विशिष्ट सम्प्राप्ति

- जरा जन्य क्लैब्य¹—वृद्धावस्था में रसादि धातुओं के क्षीण हो जाने से बल, वीर्य, इन्द्रिय क्रमशः क्षीण हो जाती हैं। इस अवस्था में मनुष्य के द्वारा यदि वृष्य औषधि एवं आहार का सेवन नहीं किया जाय तो वृद्ध मनुष्य अत्यन्त क्षीण धातु व दुर्बल हो जाता है। अनेक प्रकार की व्याधियां इसे आक्रान्त कर लेती हैं। इस प्रकार जराजन्य क्लैब्यता उत्पन्न हो सकती है।
- सहज (जन्मजात) क्लैब्यता—माता-पिता के बीज (आरीव / शुक्र) में दोष उत्पन्न हो जाने से या अजितेन्द्रिय व्यक्ति के जन्मान्तरीय अशुभ कर्मों के द्वारा जब प्रकुपित दोष गर्भस्थ वालक के शुक्रवह शिराओं में जाकर उसका शोषण कर देते हैं, तब शुक्रवह शिरा मृद्घकर नष्ट हो जाती है और शीघ्र ही शुक्र का भी नाश हो जाता है अर्थात् आश्रय शुक्रवह योनम के अभाव में शुक्र उत्पन्न ही नहीं हो पाता है। यह गर्भस्थ वालक जब उत्पन्न होता है तो उसके सभी वाहरी अंग अपने समय पर विकसित होते हैं, किन्तु वह व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) मैथुन करने में सर्वथा असमर्थ रहता है²—

इस अवस्था को सहज (जन्मजात) क्लैब्यता कहा जाता है।

पूर्वरूप

क्लैब्य रोग के पूर्वरूपों का वर्णन शास्त्रों में प्राप्त नहीं होता है।

सामान्य रूप

निरन्तर मैथुन की प्रवल इच्छा रहने पर भी तथा प्रिय अनुकूल स्त्री के रहने पर भी लिंग में शिथिलता के कारण स्त्री के पास मैथुन के लिये जो व्यक्ति नहीं जा पाता है अथवा यदि किसी प्रकार मैथुन में प्रवृत्त हो भी गया हो तो उस व्यक्ति का श्वास फूलने लगता है, शरीर में अति स्वेद आता है, मैथुन की चेष्टाएं विफल हो जाती हैं, व्यांकि उसके लिंग में कड़ापन नहीं आता है और वह व्यक्ति वीर्य हीन हो जाता है³।

- "रसादीनां.....।..... एतज्जरासंभवं हि ॥" (च.चि. 30/178-181)
- "मातापित्रोवर्जदोषादपुरुषेश्वाकृतात्मनः । गर्भस्थस्य यदा दोषाः प्राय रेतोवहाः सिराः ॥
 शोषयन्त्याशु तत्राशादेतश्चाष्युपहन्यते ।
 तत्र संपूर्ण सर्वाङ्ग स भवत्यपुमान् पुमान् ॥" (च.चि. 30/189-190)
- "सङ्कल्प प्रवणो नित्यं प्रियां वश्यमपि स्त्रियम् ॥ न याति लिङ्गशीथिल्यात् कदाचिद्याति वा यदि ।
 धारातः स्विनग्रातश्च मोघसङ्कल्प चेष्टिः ॥ म्लान शिश्रद्ध निर्वाजः स्यादेतत् करेत्यलक्षणम् ।
 सामान्य लक्षणं हेतुद्विस्तरं प्रवक्ष्यते ॥" (च.चि. 30/155-157)

भेदानुसार क्लैब्य लक्षण

(अ) बीजोपघातज क्लैब्यता के लक्षण¹

- (i) व्यक्ति दुर्बल, अल्पप्राण व अल्प हर्ष वाला होता है।
- (ii) शरीर का वर्ण पाण्डुवर्ण होता है।
- (iii) स्त्रियों के साथ मैथुन करने से उसे आनंद प्राप्त नहीं होता है।
- (iv) वह व्यक्ति हृदय रोग, पाण्डुरोग, तमक श्वास, कामला, श्रम, छर्दि, अतिसार, उदर शूल, कास एवं ज्वर रोग से पीड़ित हो सकता है।

(ब) ध्वजोपघातज क्लैब्यता के लक्षण

- (i) लिंग में शोथ, वेदना, राग (Redness) तीव्र स्फोट एवं पाप (Suppuration) की उत्पत्ति।
- (ii) लिंग के ऊपर की मांस की वृद्धि होकर शीघ्र ही ब्रणोत्पत्ति होती है।
- (iii) ब्रण से पुलाकोदक (Rice water) स्राव निकलता है।
- (iv) लिंग टेढ़ा हो जाता है।
- (v) ज्वर, तृष्णाधिक्य, श्रम, मूर्छा, छर्दि उत्पन्न हो जाता है।
- (vi) मूत्राशय, अंडकोश, सेवनी प्रदेश एवं वंक्षण प्रदेश में तीव्र दाह के साथ वेदना होती है।
- (vii) लिंग सदैव सड़न युक्त हो जाता है एवं उसमें कृमि उत्पन्न हो जाते हैं।
- (viii) मणि (Glans penis), मूत्रेन्द्रिय, अण्डकोश सड़कर गिर जाते हैं²।

आचार्य सुश्रुत वातज, पित्तज, कफज, रक्तज व सत्रिपातज भेद से ध्वजभंग या उपदंश के पांच भेद मानते हैं जिनका विस्तृत वर्णन आगे उपदंश व ध्वजभंग रोगान्तर्गत दिया जाएगा।

(स) जराजन्य क्लैब्यता के लक्षण³

- | | |
|-----------------------------------|-------------------------|
| (i) बिना परिश्रम के थकावट। | (ii) दुर्बलता। |
| (iii) अनेक व्याधियों की उत्पत्ति। | (iv) बल, वीर्य क्षीणता। |
| (v) इन्द्रिय क्षीणता। | |

1. “बीजोपघाताद्वयति पाण्डुवर्णः सुदुर्बलः ॥ अल्पप्राणोऽल्पहर्षश्च प्रमदासु भवेन्नः । हत्पाण्डुरोगतमककामलाश्रमपीडितः ॥ छर्दीतीमारशूलार्तः कासञ्चरनिपीडितः ॥” (च.चि. 30/160-162)
2. “श्वयथु वेदना मेदे । समुदाहतम् ॥” (च.चि. 30/168-175)
3. “रसादीनां । एतज्जरासंभवं हि ॥” (च.चि. 30/178-181)

(द) शुक्रक्षयज क्लैब्यता के लक्षण¹

- (i) रस धातु क्षीणता।
- (ii) क्रमशः रक्त, मांस, मेद आदि धातु क्षीणता।
- (iii) शुक्र का नाश।
- (iv) अनेक रोगोत्पत्ति।
- (v) मृत्यु।

(इ) सहज (जन्मजात) क्लैब्यता के लक्षण

आचार्य सुश्रुत ने सहज क्लैब्यता के निम्न पांच भेद वर्णित किए हैं, जिनके लक्षण निम्नानुसार हैं—

(i) आसेक्य क्लैब्यता³

माता पिता के अत्यल्प बीज (शुक्र-शोणित) होने से ‘आसेक्य’ नामक नपुंसक सत्तान उत्पन्न होती है। इस आसेक्य पुरुष में शिश्र की उत्तेजना शुक्र को पीकर होती है अर्थात् वह आसेक्य पुरुष अपने मुख में अन्य पुरुष से मैथुन करवाकर क्षरित शुक्र को पीकर ही उत्तेजना प्राप्त करता है। इसी को धक्री या ‘मुखयोनि’ नपुंसक भी कहा जाता है।

(ii) सौगन्धिक क्लैब्यता³

जो पुरुष दुर्गन्धित योनि से उत्पन्न होता है उसे सौगन्धिक कल्नीव कहा जाता है। यह पुरुष योनि व शिश्र की गन्ध को सूंधकर बल प्राप्त करता है। इसे ‘नासायोनि’ भी कहा जाता है।

(iii) कुम्भीक क्लैब्यता⁴

जो पुरुष अब्रहाचर्य के कारण स्त्रियों में उनकी गुदा में पुरुष की तरह प्रवृत्त होता है अथवा जो मनुष्य अपनी गुदा में मैथुन करवाकर शिश्र की उत्तेजना को प्राप्त करके फिर स्त्रियों में प्रवृत्त होता है उसका नाम कुम्भीक है। इसी को अप्राकृतिक मैथुन या गुदयोनि कहा जाता है।

1. “रसः प्रधानधातुर्हि । क्लैब्यं चतुर्विधम् ॥”

(च.चि. 30/184-187)

2. “पित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत् । स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्चायमसंशयम् ॥”

(सु.शा. 2/41)

3. “यः पूतियोनौ जायेत स सौगन्धिकसंज्ञितः । स योनिशेषसोर्गन्धमाग्राय लभते बलम् ॥”

(सु.शा. 2/42)

4. “स्वे गुदेऽब्रहाचर्याद्यः स्त्रीषु पुरुंत् प्रवर्तते । कुम्भीकः स तु विज्ञेयः ॥”

(सु.शा. 2/43)

(iv) ईर्ष्यक क्लैव्यता¹

जो पुरुष दूसरों के मैथुन को देखकर मैथुन में प्रवृत्त होता है उसे ईर्ष्यक क्लैव्य कहा जाता है। इस पुरुष में बिना मैथुन देखे उत्तेजना नहीं होती है।

(v) पण्ड क्लैव्यता

जो पुरुष मोह वश ऋतुकाल में अपनी स्त्री के साथ स्त्री की भाँति प्रवृत्त होता है इससे जो पुत्र उत्पन्न होता है उसकी चेष्टा, हाव भाव, आकार स्त्री के समान रहते हैं। यदि कन्या उत्पन्न होती है तो उसकी चेष्टाएं पुरुष की भाँति होती है। इन्हें ही क्रमशः नर षण्ड व नारीपण्ड कहते हैं²।

साध्यासाध्यता

समुचित चिकित्सा करने से ध्वजोपघातज व शुक्रक्षयज व्लैव्यता साध्य होती है। मूत्रेन्द्रिय के कटने से तथा अण्डकोष के निकाल देने से उत्पन्न नपुंसकता असाध्य मार्ग गयी है। सहज व्लैव्यता भी असाध्य होती है³।

सामान्य चिकित्सा सिद्धांत

(1) निदान परिवर्जन

साध्य व्लैव्यता को दूर करने के लिए जिन कारणों से व्लैव्यता उत्पन्न हुई हो, उन कारणों का त्याग करना चाहिए। क्योंकि उन कारणों का त्याग करना ही मुख्य चिकित्सा है।

(2) शुक्रदोष की चिकित्सा में जिन औषधियों का उपयोग किया जाता है उन्हीं का प्रयोग व्लैव्य रोग चिकित्सा में भी करना चाहिए⁴। देह, दोष, जठराग्नि, बल, भेषजकाल को ज्ञातकर ही अतिमैथुन व धातु विपर्यय से उत्पन्न व्लैव्यता में शुक्र दोष दूर करने वाली बस्तियाँ, दुग्ध, घृत, वृद्ध योग तथा रसायन औषध का प्रयोग करना चाहिए।

1. “दृष्टव्य व्यवायमन्येण व्यवाये यः प्रवर्तते।
ईर्ष्यकः स च विज्ञेयः पण्डकं श्रृणु पञ्चमम्॥” (सु.शा. 2/44)
2. “यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते। ततः स्त्रीचैषिताकारो जायते पण्डसंजितः॥
ऋतौ पुरुषवट्ठाऽपि प्रवर्तताङ्ग्नाय यदि। तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता॥”
(सु.शा. 2/45-46)
3. i) “केचित् व्लैव्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजभङ्गक्षयोद्दत्वे।
वदन्ति शेफसर्षेदाद् वृषणोत्पाटनेन च॥” (च.चि. 30/188)
ii) “असाध्यं सहजं व्लैव्यं मर्मच्छेदाच्च यद्दत्वेत्।
साध्यानामितरेषां तु कार्यो हेतुविपर्ययः॥” (सु.चि. 26/15)
4. “व्लैव्यानामिह साध्यानां कार्यो हेतुविपर्ययः।
मुख्यं चिकित्सितं यस्मान्निदानपरिवर्जनम्॥” (भा.प्र.उ. 72/10)
5. “शुक्रदोषेषु निर्दिष्टं भेषजं यन्मयाऽनव।
व्लैव्योपशान्तये कुर्यात् क्षीणशुक्रं हितं च यत्॥” (च.चि. 30/192)

(3) अभिचार से उत्पन्न व्लैव्यता में दैवव्याश्रय चिकित्सा करना चाहिए।

(4) सभी प्रकार की नुपुंसकता में वाजीकरण तथा रसायन औषध योगों का युक्तिपूर्वक प्रयोग कराना चाहिए।

(5) व्लैव्य से पीड़ित रोगी में स्नेहन व स्वेदन देकर स्नेहयुक्त विरेचन करायें। तत्पश्चात् अन्न सेवन कराकर आस्थापन वस्ति देवें। यह वस्ति पलाश, एरण्डमूल व मुस्तक क्वाथ से देवें। इसके बाद पुनः अनुवासन वस्ति देवें।

विशिष्ट चिकित्सा सिद्धांत

(अ) बीजोपघातज व्लैव्य चिकित्सा सिद्धांत

आचार्य चरक ने निर्दिष्ट किया है कि वाजीकरण में वर्णित सभी योगों का प्रयोग बीजोपघातज व्लैव्यता में करना चाहिए⁵।

(ब) ध्वजोपघातज व्लैव्यता चिकित्सा सिद्धांत⁶

ध्वजोपघात (ध्वजभंग) से उत्पन्न होनेवाले व्लैव्य में स्नेहपान कर स्नेहयुक्त द्रव्यों से विरेचन कराना चाहिए। विरेचन के पश्चात् आस्थापन और अनुवासन वस्तियों का प्रयोग करना चाहिये। रक्तमोक्षण, प्रदेह, परिषेक व अन्य व्रण गत चिकित्सा करें।

(स) जराजन्य व शुक्र क्षयज व्लैव्यता चिकित्सा सिद्धान्त

वृद्धावस्थाजन्य तथा शुक्रक्षयज नपुंसकता में दुर्बलता अधिक रहती है। ऐसी अवस्था में रोगी को मृदु स्नेहन व स्वेदन देकर मृदु संशोधन कराना चाहिए। तत्पश्चात् वृद्ध योग, क्षीर, सर्पि, वृद्ध योग, यापना बस्तियाँ एवं रसायन चिकित्सा का प्रयोग कराना चाहिए⁷।

1. “बस्तयः क्षीरसर्पीषि वृद्धयोगाश्च पे मताः।
रसायनप्रयोगाश्च सर्वानेतान् प्रयोजयेत्॥” (च.चि. 30/193)
2. “दैवव्याश्रयं चैव भेषजं चाभिचारजे॥” (च.चि. 30/194)
3. “सुस्विन्नस्त्रिग्नधगात्रस्य स्नेहयुक्तं विरेचनम्। अन्नाशनं ततः कुर्यादथवाऽस्थापनं पुनः॥”
(च.चि. 30/196-197)
4. “वाजीकरणयोगाश्च पूर्वं ये समुदाहताः। भिषजा ते प्रयोज्याः स्यु व्लैव्ये बीजोपघातजे॥”
(च.चि. 30/198-199)
5. “ध्वजभङ्गकृतं व्लैव्यं ज्ञात्वा तस्याचरेत् क्रियाम्॥ प्रदेहान् परिषेकाश्च कुर्याद्वा रक्तमोक्षणम्।
स्नेहपानं च कुर्वीत स्नेहं च विरेचनम्॥ अनुवासं ततः कुर्यादथवाऽस्थापनं पुनः।
व्रणवच्च क्रिया: सर्वास्तत्र कुर्याद्विचक्षणः॥” (च.चि. 30/199-201)
6. “जरासंभवजे व्लैव्ये क्षयजे चैव कारयेत्। स्नेहस्वेदोपपत्रस्य स्नेहं शोधनं हितम्॥
क्षीरसर्पिः प्रयोगा वस्तयश्चैव यापनाः। रसायनप्रयोगाश्च तयोर्भेषजमुच्चते॥”
(च.चि. 30/202-203)

चिकित्सा

(अ) शोधन चिकित्सा

वाजीकरण चिकित्सा के पूर्व वमन-विरेचनादि पंचकर्म के द्वारा शरीर की शुद्धि करके ही 16 वर्ष से 70 वर्ष के आतुर को वृद्ध योग देना चाहिए। स्रोतसों के शुद्ध हो जाने पर शरीर स्वच्छ व मल रहित हो जाता है।

संशोधन औषध

(हरीत्क्यादि चूर्ण) — हरीतकी चूर्ण, सेंधव, आमलकी, गुड़, वचा, विडंग, हरिद्रा, पिप्पली, शुण्ठी को सम मात्रा में लेकर स्नेहन-स्वेदन करने के पश्चात् रसायन व वाजीकरण सेवी पुरुष को एक तोला (12 ग्राम) की मात्रा में उष्ण जल से सेवन कराना चाहिए²। तत्पश्चात् संसर्जन क्रम के पूर्ण हो जाने पर ही रसायन वाजीकरण योग सेवन कराना चाहिए।

(ब) शमन चिकित्सा

शमन चिकित्सा के अंतर्गत निम्न वाजीकरण औषध योग युक्तिपूर्वक प्रयुक्त किए जाते हैं—

1. रस/भस्म

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, क्षीर
(i) अभ्रक भस्म	: शतपुटी अभ्रक भस्म।
(ii) शिलाजतु	: शुद्ध शिलाजतु।
(iii) पुष्पधन्वा रस	: रस सिन्दू, नाग भस्म, लौह भस्म, अभ्रक, वङ्ग।
(iv) पूर्ण चन्द्र रस	: रस सिन्दू, अभ्रक भस्म, शिलाजतु।
(v) मन्मथाभ्र रस	: पारद, गंधक, अभ्रक, ताम्र, वङ्ग आदि।
(vi) मकरध्वज	: स्वर्ण, पारद, गंधक।
(vii) कामिनी विद्रावण रस	: गंधक, अहिफेन, हिंगुल।
(viii) नवजीवन रस	: रस सिन्दूर, कुचला, लौह भस्म।
(ix) राजमृङ्गाक रस	: रस सिन्दूर, ताम्र, मनशिला।
(x) बसन्त कुसुमाकर रस	: वङ्ग, रजत, स्वर्ण।
(xi) तारकेश्वर रस	: रस सिन्दूर, लौह, बङ्ग, अभ्रक।

- “स्रोतः सु.....।
.....रागयोगाः ॥” (च.चि. 30/50-51)
- “हरीतकीनां।
.....यद्वेत् ॥” (च.चि. 1/25-28)

2. वटी

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, जल, क्षीर
(i) वानरी गुटिका	: केवाँच, शर्करा।
(ii) वृंहिणी गुटिका	: शतावरी, गोक्षुर, केवाँच।
(iii) चन्द्रप्रभा वटी	: शिलाजतु, गुग्गुलु, लौह, वंशलोचन।
(iv) आकरकरभादि वटी	: अकरकरा, जायफल, जावित्री।
(v) मदने मझरी वटी	: अभ्रक, वङ्ग, पारद।
(vi) शुक्रस्तंभन गुटिका	: जायफल, अकरकरा, लवंग।

3. मोदक

मात्रा	: 3-5 ग्राम
अनुपान	: क्षीर
(i) श्री मदनान्द मोदक	: पारद, गंधक, अभ्रक, जायफल।
(ii) कामेश्वर मोदक	: खुरासानी अजवाइन, धतूर बीज, अकरकरा।
(iii) रतिबलभ मोदक	: भंगा, शतावर, मिश्री।

4. चूर्ण

मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: क्षीर, जल
(i) अश्वगंधादि चूर्ण	: अश्वगन्धा, विदारीकन्द, गोक्षुर।
(ii) शतावर्यादि चूर्ण	: शतावरी, विदारीकन्द, गोक्षुर।
(iii) नारसिंह चूर्ण	: शतावरी, गोक्षुर, भिलावा।
(iv) रतिबलभ चूर्ण	: सालमपंजा, मूसली, गोक्षुर।

5. आसव/अरिष्ट

मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: समभाग जल
(i) दशमूलारिष्ट	: दशमूल, चित्रक, पुष्कर मूल।
(ii) अश्वगन्धारिष्ट	: अश्वगन्धा, मूसली, हरिद्रा।
(iii) सारस्वतारिष्ट	: ब्राह्मी, शतावरी, विदारीकन्द।

6. घृत

मात्रा	: 10-20 मि.ली.
अनुपान	: मधु, शर्करा
(i) फल घृत	: मुलैठी, त्रिफला, विडंग
(ii) कल्याणक घृत	: इन्द्रायण, देवदारु, कुमारी

(iii) अक्षगन्धा घृत	: अक्षगन्धा, अष्टवर्ग, बला
(iv) शतावरी घृत	: शतावरी, घृत, क्षीर
(v) कामदेव घृत	: कूठ, कायफल, विदारीकन्द
(vi) अपत्यकर घृत	: शतावरी, विदारीकन्द, केवांच।
7. तैल	
मात्रा	यथावश्यक
स्थानिक प्रयोगार्थ	: अध्यंगार्थ
(i) महाचन्दनादि तैल	: चन्दनद्वय, अगुरु, देवदारु।
(ii) अक्षगन्धा तैल	: अक्षगन्धा, शतावरी, कूठ।
(iii) महासुगन्धि तैल	: कर्पूर, अगर, दालाचीनी।
(iv) श्रीगोपाल तैल	: शतावरी, आंवला, असगन्ध।
8. लेह/पाक	
मात्रा	: 10-20 ग्रा.
अनुपान	: क्षीर, जल
(i) च्वयनप्राशावलेह	: दशमूल, अष्टवर्ग, आमलकी।
(ii) रतिबलभ पूण पाक	: पूण, शर्करा, एला।
(iii) केशरपाक	: त्रिकटु, तालमखाना, गोक्षुर, केशर।
(iv) अमृत भलातक	: भलातक, त्रिफला, त्रिकटु।
(v) मूसलीपाक	: मूसली, शुण्ठी, शतावरी।
9. रसायन	
मात्रा	यथावश्यक
अनुपान	: दुग्ध
(i) भलातक रसायन	
(ii) आमलकी रसायन	
(iii) लौह-शिलाजतु रसायन	
(iv) अक्षगन्धा रसायन	
(v) सिद्धमकर ध्वज	
10. सुरा	
मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) मृतसंजीवनी सुरा	: बबूलत्वक, बदरीत्वक, पूण।

आदर्श चिकित्सा पत्र	
1. निदान परिवर्जन	प्रातः सायम्
2. मन्मधाम रस	: 250 मि.ग्रा.
शिलाजत्वादि वटो	: 250 मि.ग्रा.
नारासिंह चूर्ण	: 2 ग्राम
मधु से	1×2 मात्रा
3. भोजनोत्तर	
अक्षगन्धारिष्ट	: 20 मि.ली.
सारस्वतारिष्ट	: 20 मि.ली.
समभाग जल से	1×2 मात्रा
4. मूसली पाक	: 20 ग्रा.
दूध से	1×2 मात्रा
5. रात्रि में सोते समय	
हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्रा.
गर्भ जल से	1 मात्रा
6. पौष्टिक आहार— दुग्ध, घृत, फल एवं सब्जी प्रचुर मात्रा में।	
7. नियमित व्यायाम	
8. योगासन— गोमुखासन, सिद्धासन, पदमासन, पवनमुक्तासन, अर्धमत्स्यन्द्रासन, भद्रासन, शवासन, वज्रासन, प्राणायाम।	
पथ्यापथ्य	
क्लैब्य के रोगा में धुक्किपूर्वक निम्न पथ्यापथ्य आहार-विहार हितकारी रहता है—	
पथ्य	
आहार	विहार
क्षीर- घृताभ्यास, ताम्बूल, साठी	गीत-संगीत, कर्णप्रिय मधुर वचन, सर्प
चावल, मदिरा, उड्डद (माष)	सुख (स्त्रीस्पर्श), सुगन्ध धारण, माला
मधु, मांसरस, मुनक्का, पूण,	धारण, सुन्दर मनोहर चित्र, चाजीकरण
पिण्डखर्जूर, आम, बादाम, काजू,	मित्र मण्डली, अध्यंग, उबटन, स्नान,
अखरोट, सिंधाड़ा आदि।	उत्तम शव्या, आसन आदि।
अपथ्य	
आहार	विहार
सर्पपतैल, विरुद्धाशन, विदाही	रात्रि जागरण, अति मैथुन,
भोजन, अम्ल आदि।	अतिश्रम आदि।

Latest Developments

Impotency

Impotency is defined as a weakness especially pertaining to the inability of a man to achieve or maintain an erection. The etiology of impotence with respect to attributing the cause to physical conditions on psychiatric disorders may be tested in men by measuring nocturnal penile tumescence (NPT). This involves monitoring frequency and intensity of erections that normally accompany rapid eye movement sleep. There is no appreciable decline in those with psychogenic impotence.

Causes

- i. Anatomical genital defects
- ii. Paralysis of nerve supplying to the penis
- iii. Central nervous lesions
- iv. Diabetic neuropathy
- v. Inadequate supply of arterial blood to the corpora cavernosa of the penis.
- vi. Pharmacological side effects of Alcohol, Beta blockers, Anti Hypertensive, Diuretics, Antidepressants etc.
- vii. Psychogenic emotional factors.

Management : Principles

- i. Intra cavernosal injection of vasoactive drugs
- ii. Oral drugs therapy, Aphrodisiac agents (Viagra etc.)

• • • शुभ अंगृही • • •

अध्याय-38

बन्ध्यता

(STERILITY)

व्याधि परिचय

आर्तवद्वारा स्रोतस् में विद्धता होने से बन्ध्यता, मैथुनासहिष्णुता व आर्तवनाश की उत्पत्ति होती है। गर्भोत्पादन में असामर्थ्य को बन्ध्यत्व (Sterility) कहते हैं। वर्तमान समय में यह व्याधि बहुतायत से पाई जाती है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान-अध्याय 9
2. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 38
3. माधव निदान, उत्तरार्ध-अध्याय 62, परिशिष्ट
4. भावप्रकाश, मध्य खण्ड, चिकित्सा प्रकरण-अध्याय 70
5. योगरत्नाकर-योगिव्याप्तिग्राण्णि चिकित्सा

परिभाषा

स्त्री या पुरुष में किसी भी कारण से होने वाली प्रजनन असमर्थता अथवा जन्मजात सन्तानोत्पत्ति के असामर्थ्य को 'बन्ध्यता' कहते हैं। बन्ध्या उस रोगिणी को कहा जाता है जिसमें किसी एक या दूसरे कारण से जीने योग्य संतान को जन्म देने की अक्षमता हो।

निदान

बन्ध्यता के निम्न प्रमुख कारण होते हैं²-

- | | |
|--|-----------------------|
| (i) मिथ्या आहार-विहार | (ii) आर्तव की दुष्टता |
| (iii) आर्तव नष्टता | (iv) बीज दोष |
| (v) सहज विकृतियाँ (Congenital malformations) | |
| (vi) गर्भाशय के निज व आगंतुक विकार | |
| (vii) धातु क्षय व दौर्बल्य यथा-रक्तक्षय, पाण्डुरोग, वृद्धावस्था इत्यादि। | |

1. "तत्र विद्धाया बन्ध्यत्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्तवनाशश ॥" (सु.शा. 9/22)

2. "मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुषेनार्तवं च।
जायन्ते बीजदोषाच्च देवाच्च शृणु ताः पृथक् ॥" (च.चि. 30/8)

भेद

- कामशास्त्र के ग्रंथों में निम्नलिखित 13 प्रकार की बन्ध्याएं वर्तायी गई हैं—
1. आदिवन्ध्या—पूर्व जन्म के दुष्कृत या पापकर्म से उत्पन्न बन्ध्या को आदिवन्ध्या कहा जाता है।
 2. वातज बन्ध्या—वातदोष की विकृति से उत्पन्न होने वाली बन्ध्या को वातजबन्ध्या कहा जाता है।
 3. पित्तज बन्ध्या—पित्तदोष की विकृति से उत्पन्न होने वाली बन्ध्या को पित्तज बन्ध्या कहा जाता है।
 4. कफज बन्ध्या—कफ दोष से उत्पन्न होने वाली बन्ध्या कफज बन्ध्या कहलाती है।
 5. रक्तज बन्ध्या—रक्त दोष की विकृति से उत्पन्न होने वाली रक्तज बन्ध्या कहलाती है।
 6. त्रिदोषज बन्ध्या—त्रिदोष विकृति जन्य बन्ध्या त्रिदोषज बन्ध्या कहलाती है।
 7. भूतज बन्ध्या—भूतबाधा / ग्रहबाधा से उत्पन्न बन्ध्या को भूतज बन्ध्या कहा जाता है।
 8. दैवकृत बन्ध्या—भाग्य दोष के कारण उत्पन्न बन्ध्या ही दैवकृत बन्ध्या कहलाती है।
 9. अभिचारज बन्ध्या—अभिचार कर्मों से उत्पन्न बन्ध्या को अभिचारज बन्ध्या कहते हैं।
 10. गर्भस्त्राविणी बन्ध्या—जिस बन्ध्या में गर्भधारण होने पर भी बार-बार गर्भपात हो जाता हो उसे गर्भ स्त्राविणी बन्ध्या कहते हैं।
 11. मृतपुत्रिका बन्ध्या—जो रुग्णा मृत संतान को जन्म देती हो उसे मृत पुत्रिका बन्ध्या कहते हैं।
 12. कन्याप्रसूत बन्ध्या—कन्या प्रसूत बन्ध्या उसे कहते हैं जो निरन्तर केवल कन्याओं को उत्पन्न करती हो।
 13. काक बन्ध्या—जिस रुग्णा में एक गर्भाधान और बच्चे का जन्म हुआ हो उसके पश्चात् दूसरा गर्भाधान न होता हो।

हारीत संहिता में बन्ध्यता के निम्न चार प्रकार वर्णित किए गए हैं¹—

- (i) काक बन्ध्या
- (ii) अनपत्या
- (iii) गर्भस्त्रावी
- (iv) मृतवत्सा

1. “काकबन्ध्या भवेच्यैका, अनपत्या द्वितीयका । गर्भस्त्रावी तृतीयाच कथिता मुनिसप्तमैः । मृतवत्सा चतुर्थी स्यात् ॥” (हा.स. 3/48-7)

लक्षण

बन्ध्यता के विभिन्न भेदों के लक्षण निम्नानुसार हैं—

- (i) काक बन्ध्या—एक बच्चा उत्पन्न होने के पश्चात् इसमें दूसरा बच्चा पैदा नहीं होता है। इसका कारण यह है कि प्रथम गर्भधारण के समय स्त्री के शरीर में विकृति न होने पर भी प्रसूति के समय या प्रसूति के पश्चात् गर्भाशय में जीवाणुओं का उपसर्ग (Infection) पहुंचने पर शोथ होकर बीजवाहिनी (Fallopian tube) का मार्ग बन्द हो जाता है। औषसर्गिक पूयमेह-सूजाक (Gonorrhoea) एवं राजयक्षमा (Tuberculosis) इस प्रकार की बन्ध्यता के मुख्य कारण हैं। प्रसवकालीन तीव्र आघात या अपसंवृति (Subinvolution) से भी काकबन्ध्यता या एकापत्य बन्ध्यता (One child sterility) उत्पन्न हो सकती है। प्राचीन संहिता में इस रोग का वर्णन सूत्र मात्र में ही मिलता है।
- (ii) अनपत्या—जिस स्त्री को कभी भी गर्भधारण नहीं हुआ हो। इसके कारण प्रायः सहज (Congenital) होते हैं। इसे ही (Absolute Sterility) भी कहते हैं।
- (iii) गर्भस्त्रावी—जिस स्त्री को गर्भधारण तो होता है परन्तु तीन-चार महीने में गर्भ का स्त्राव या गर्भपात हो जाता है। इसे ही गर्भस्त्रावी बन्ध्यता (Habitual Abortion) कहते हैं। इसके कारण कुछ सहज तथा जन्मोत्तर होते हैं, जैसे Vaginitis, Endometritis etc.
- (iv) मृतवत्सा—जो स्त्री गर्भधारण होने के सातवें महीने (28th week) के पश्चात् प्रत्येक समय मृतगर्भ को ही जन्म देती है। ऐसे मृत गर्भ को Still Birth कहते हैं। गर्भस्त्राव के सभी कारण इसके भी कारण माने गए हैं।

बन्ध्यत्व परीक्षण

- (i) सामान्य परीक्षण—स्त्री एवं पुरुष का पृथक्-पृथक् परीक्षण किया जाना चाहिये। दम्पत्ति के एक वर्ष के सहवासकाल में गर्भ धारणा न होने पर उनका परीक्षण करना चाहिये।
- (ii) स्त्री का नैदानिक परीक्षण—इसके अन्तर्गत निम्न परीक्षण करना चाहिये—
- (अ) सामान्य परीक्षण—रुग्णा का इतिवृत्त, आयु, व्यवसाय, गृहकार्य, चिन्ता, शोक, भोजन, शारीरिक गठन, पोषण, स्तनों का विकास, जननांगों के विशिष्ट संक्रामक रोग, गोनोरिया, सिफिलिस आदि, अन्य संक्रामक रोग, मम्पस, आन्त्रपुच्छ शोथ, राजयक्षमा, स्थौल्य, मधुमेह, आर्तव सम्बन्धी इति वृत्त, आर्तवारम्भ, अनन्तर चक्र, अन्तिम आर्तव का काल, देर से आर्तव आरम्भ होना, अनियमित आर्तव प्रवृत्ति आदि सभी प्रायः बन्ध्यत्व से सम्बन्धित रहते हैं।

(आ) जननांगों का परीक्षण—यह योनिमार्ग की ओर से या दोनों स्थान योनि व उदर प्रदेश की ओर से (Bimanual Palpation), योनिविस्फारक यन्त्र से और गुदमार्ग से किया जाना चाहिये।

चिकित्सा सूत्र

- बन्ध्यता की चिकित्सा में, योनिव्यापद रोग में वर्णित विभिन्न चिकित्सा सूत्र व सिद्धान्त अपनाना चाहिये।
- साध्य योनि रोग में दोष के अनुसार स्नेहन आदि चिकित्सा करें। विशेष रूप से उत्तरबस्ति प्रयुक्त करें।
- शुक्र-आर्तवदोष, स्तन रोग, क्लैब्य, मूढ़गर्भ, गर्भर्णी की मासानुमासिक चिकित्सा, रक्तस्रावादि की चिकित्सा भी बन्ध्यता रोगी में अपनानी चाहिये।
- आचार्य भावप्रकाश के अनुसार साध्य योनि रोग में स्नेहन, उत्तर बस्ति, अध्यंग, परिषेक, प्रलेप व पिचुधारण करना चाहिये^१।
- बला, खाण्ड, अतिबला, मधूक (महुआ), वटांकुर, नागकेशर इन सभी के चूर्ण को मधु घृत व क्षीर के साथ पीने से बन्ध्या स्त्री पुत्र को जन्म देती है।
- जिस स्त्री को ऋतुस्राव (आर्तव दर्शन) नहीं होता है उसे नित्य मछली खानी चाहिये। इसके अलावा कांजी, तिल, माष (उड़द) तक्र व दधि का भी सेवन करना चाहिये^२।
- अश्वगन्धा के क्वाथ से क्षीरपाक विधि से गोदुग्ध सिद्ध करके घृत मिलाकर ऋतु स्नान के पश्चात् प्रातः सेवन करने से गर्भधारण होता है^३।
- पुष्य नक्षत्र में उखाड़े गए लक्षणों के मूल को कुंवारी कन्या से दूध में पिसवाकर पीने से गर्भधारण अवश्य होता है^४।

- “१. तिदोषं तु साध्यासु स्नेहादिक्रम इष्यते।
दद्युत्तरबस्तीश विशेषेण यथोदितान् ॥” (सु.चि. 38/21)
- “शुक्रार्त्तवदोषो दोषाः स्तनरोगाश्च कीर्तिताः। वलैब्यस्थानानि मूढ़स्य गर्भस्य विधिरेव च ॥
गर्भर्णीप्रतिरोगेषु चिकित्सा चाप्युदाहता। सर्वथा तां प्रयुज्जीत योनिव्याप्तसु बुद्धिमान् ॥”
(सु.चि. 38/31-32)
- “तासु योनिषु चाद्यासु स्नेहादिक्रम इष्यते।
बस्त्यभ्यङ्गं परिषेक प्रलेपपिचुधारणम् ॥” (भा.प्र.चि. प्रकरण योनिरोगाध्याय 70/35)
- “बला सिता सातिबला मधूकं वटस्य शुङ्गं गजकेशरं च।
एतम्भुक्षीरघृतैर्नीपतं बन्ध्या सुपुत्रं नियतं प्रसूते ॥” (भा.प्र.चि. 70/25)
- “आर्तवादशरीरे नारी मत्स्यासेवेत नित्यशः।
काञ्जिकं च तिलान्माषानुदृश्य तथा दधि ॥” (भा.प्र.चि. 70/22)
- “अश्वगन्धाकापायेण सिद्धं दुग्धं घृतान्वितम्।
ऋत्युसाताऽङ्गना प्रातः पीत्वा गर्भं दधाति हि ॥” (भा.प्र.चि. 70/26)
- “पुष्योदघृतं लक्षणाया मूलं दुर्घेन कन्या।
पिण्डं पीत्वा ऋत्युसाता गर्भं धन्ते न संशयः ॥” (भा.प्र.चि. 70/27)

- कटसरैया की जड़, धाय के पुष्य, वटवृक्ष के अंकुर एवं नीलकमल इन सभी को दूध के साथ पीने से निश्चय रूप से गर्भधारण होता है^१।
- जो बन्ध्या स्त्री पारस्प पीपल को जीर्ग व श्वेत शरणुंखा के साथ पीती है एवं साथ ही पथ्य का सेवन करती है उसे अवश्य गर्भधारण होता है^२।

चिकित्सा

(अ) शोधन चिकित्सा

- स्नेहन—बन्ध्यता की चिकित्सा के लिए रुग्णा का वाह्य एवं आन्तर बन्धन के फलान्वत, कल्याणक घृत, शतावरी घृत अथवा बला तैल से करना चाहिये।
- स्वेदन—नाड़ी, संकर व प्रस्तर स्वेद द्वारा रुग्णा का स्वेदन करना चाहिये।
- संशोधन—बन्ध्यता रुग्णा को मृदु वमन व विरेचन कराना चाहिये। विरेचन स्नेहयुक्त होना चाहिये।
- बस्ति—अपत्यपथ (Vaginal Route) से गर्भाशय में उत्तर बस्ति द्वारा औषधियों को पहुंचाया जाता है। यह बस्ति जीवनीय गण सिद्ध तैलों से दी जाती है। बन्ध्यता में पुनः पुनः बस्ति देने का विधान है। फल घृत उत्तरबस्ति के भी उत्साहवर्धक परिणाम मिलते हैं। विशेषकर बीजवाहिनी नलिका संकुचन (Fallopian tube blockage) एवं Tubal Patency में इसके परिणाम उत्साह जनक मिलते हैं। गंभारी, कुटज, दशमूल क्वाथ में घृत या तिल तैल मिलाकर उत्तर बस्ति देना चाहिये^३।

(ब) शामन चिकित्सा

बन्ध्यता के रोगी में निम्न औषध योगों का प्रयोग युक्त पूर्वक करना लाभप्रद रहता है-

1. रस/भस्म

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु
(i) नष्ट पुष्पान्तक रस	: कज्जली, लौह, बङ्ग, अध्रक
(ii) लक्षणादि लौह	: लक्षणा, हस्तिकर्ण, पलाश
(iii) पुष्पधन्वा रस	: रस सिन्दूर, नाग भस्म, लौह भस्म
(iv) पुनर्नवा मण्डूर	: पुनर्नवा, निशोथ, मण्डूर
(v) प्रदरान्तक रस	: कज्जली, बङ्ग, रजत
(vi) त्रिबङ्ग भास्म	: नाग, बङ्ग, यशद

- “कुरण्ट मूलं तत्कायाः कुसुमानि वटाङ्गकुराः।
नीलोत्पत्रं पयोयुक्तमेतद् गर्भन्त्रदं धृवम् ॥” (भा.प्र.चि. 70/28)
- “याऽबला पिबति पार्श्वपिपलं जीरकेण सहितं हिताशिनी।
श्वेतया विशिखपुड़ख्या युतं सा सुतं जनयतोह नायथा ॥” (भा.प्र.चि. 70/29)
- “काशमर्यकुटजक्वाथसिद्धभुत्तरबस्तिना।
रक्तोन्यरजस्कानां पुत्रध्याश्च हितं घृतम् ॥” (च.चि. 30/100-101)

2.	वटी	
	मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
	अनुपान	: मधु, जल
(i)	आरोग्यवर्धनी वटी	: कज्जली, लौह, अभ्रक, शिलाजतु
(ii)	रजः प्रवर्तनी वटी	: कुमारी, टंकण, उलटकम्बल
(iii)	चन्द्रप्रभा वटी	: शिलाजतु, गुग्गुलु, लौह
3.	चूर्ण	
	मात्रा	: 3-6 ग्राम
	अनुपान	: मधु, जल
(i)	अश्वगन्धादि चूर्ण	: अश्वगन्धा, विदारीकन्द, गोक्षुर
(ii)	पुष्पानुग चूर्ण	: पाठा, मोचरस, अनन्तमूल
4.	क्वाथ	
	मात्रा	: 20-40 मि.ली.
	अनुपान	: जल
(i)	दशमूल क्वाथ	: लघु व बृहद् पंचमूल
5.	आसव/अरिष्ट	
	मात्रा	: 20-40 मि.ली.
	अनुपान	: समभाग जल
(i)	कुमार्यासव	: कुमारी, तेजपत्र, दालचीनी
(ii)	दशमूलारिष्ट	: दशमूल, चित्रकमूल, लोध्र
(iii)	अश्वगन्धारिष्ट	: अश्वगन्धा, मूसली
(iv)	अशोकारिष्ट	: अशोक, नागरमोथा, शुण्ठी
(v)	सारस्वतारिष्ट	: ब्राम्ही, शतावरी, विदारीकन्द
6.	घृत	
	मात्रा	: 10-20 मि.ली.
	अनुपान	: क्षीर
(i)	फलघृत	: मुलैठी, शतपुष्पा, दन्तीमूल
(ii)	अशोक घृत	: अशोक, जीरक, जीवनीयाण
(iii)	कामदेव घृत	: कूठ, कायफल, विदारी कन्द
(iv)	कल्याण घृत	: इन्द्रायणमूल, त्रिफला, कुमारी
7.	पाक/लेह	
	मात्रा	: 10-20 ग्राम
	अनुपान	: क्षीर
(i)	केशरपाक	: त्रिकटु, तालमखाना, केशर
(ii)	कौचं पाक	: केवांच, नाग, बंड़

8. तैल/बाह्य प्रयोगार्थ एवं उत्तर बतित हैं।
- (i) नारायण तैल : असग्न्य, प्रसारणी, बला
 - (ii) बला तैल : बला, दशमूल, कुत्थी
 - (स) कल्प चिकित्सा
 - i. लशुन कल्प¹—आचार्य काशयप ने बन्धकता चिकित्सा में लशुन कल्प का विधान बताया है। इसमें लशुन को संख्या के आधार पर 100, 60 व 50 की मात्रा में खिलाया जाता है।
 - ii. शतपुष्पा व शतावरी कल्प²—महर्षि काशयप के अनुसार बन्धकता रोगी में 100 पल (औसत 5 मि.ग्रा.) चूर्ण बनाकर सौंफ या शतावरी का सेवन कराया जाता है। प्रतिदिन प्रातःकाल 1 पल (48 ग्राम) की मात्रा में सौंफ या शतावरी घृत के साथ दें। जीर्ण होने पर दूध य चायल दें।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जन प्रातः सायम्
2. पुष्पधन्वा रस : 250 मि.ग्रा.
प्रदरान्तक लौह : 125 मि.ग्रा.
प्रवाल भस्म : 250 मि.ग्रा.
पुष्पानुग चूर्ण : 2 ग्राम
मधु से 1×2 मात्रा
3. चन्द्रप्रभा वटी : 2 वटी×तीन मात्रा
4. भोजनोत्तर कुमार्यासव : 20 मि.ली.
अशोकारिष्ट : 20 मि.ली.
समभाग जल से 1×2 मात्रा
5. फल घृत : 20 मि.ली.
दूध से 1×2 मात्रा
6. पौष्टिक आहार
7. नियमित व्यायाम

पथ्यापथ्य

बन्धत्व रोगी में पूर्व में वर्णित क्लैब्य रोगानुसार पथ्यापथ्य आहार-विहार का सेवन कराया जाना लाभप्रद रहता है।

1. "काशयप संहिता।" (कल्प स्थान लशुनकल्पाय्या-5)
2. "काशयप संहिता।" (कल्प स्थान शतपुष्पशतावरी कल्पाय्या-8)

Latest Developments

Sterility

The inability of the female to become pregnant or for the male to impregnate a female is termed as sterility.

Types

- (1) (i) Absolute Sterility - incurable
- (ii) Relative sterility - curable
- (2) (i) Male sterility
- (ii) Female sterility

Causes

I. Male

- (i) **Congenital**—Cryptorchidism, maldevelopment of testicular duct or testis
- (ii) **Acquired**—Lack of Libido, impotence

II. Female

- (i) **Congenital**
 - (a) Absence or maldevelopment of uterus, fallopian tubes or ovaries,
 - (b) Infantile uterus
- (ii) **Acquired**—Vaginal inflammation, cervix narrowing of internal os, acute & chronic endo cervicitis, polyps, fibroid uterus, endometritis, salpingo-oopheritis, neoplasms, psychological & emotional disturbances, hormonal disturbances etc.

Management : Principles

- (i) Micro surgery
- (ii) Invitro Fertilization (Test Tube baby)
- (iii) Hormonal therapy
- (iv) Sperm insemination

*** श्री ६ ***

अध्याय-39

उपदंश (ध्वजभंग)

(CHANCRON)

यौन संक्रमित रोग एवं यौन मनोगत विकार

यौन संक्रमित रोग (Sexually Transmitted Diseases)

यौन संक्रमित रोगों को संसर्गिक (Veneral Diseases) रोग भी कहा जाता है। ये रोग संक्रमित योनि या लिंग से उत्पन्न होते हैं। ये सभी रोग स्त्री से पुल्य में एवं पुरुष से स्त्री में संक्रमित होते हैं। गर्भावस्था के दौरान उत्पन्न होने पर माता से नवजात शिशु में भी यह रोग संक्रमित हो सकता है। यौन संक्रमित रोगों में मुख्यतः निम्न रोग समाहित होते हैं—

- i. उपदंश या ध्वजभंग (Soft Chancre)
- ii. फिरंग (Syphilis)
- iii. पूयमेह रोग या सूजाक रोग (Gonorrhoea)
- iv. ओजक्षय या व्याधिक्षमत्वक्षय (Acquired Immuno Deficiency Syndrome-AIDS)
- v. रतिजन्य वंकणीय कणिकार्दुद (Granuloma Inguinale-Venerum)
- vi. वंकणसन्धिय लसकणिकार्दुद (Lympho-granuloma Venerum Inguinale)

रतिजन्य रोग या जननेन्द्रिय सम्बन्धी रोगों का आक्रमण प्राचीनकाल से ही होता आया है। वर्तमान काल में इस सन्दर्भ में कुछ नवीन रोग भी उत्पन्न हुए हैं जिनका संहिता ग्रन्थों में वर्णन नहीं मिलता है। कुछ प्रमुख यौन संक्रमित या रतिजन्य रोगों (Sexually Transmitted Diseases or Veneral Diseases) का वर्णन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

उपदंश व्याधि परिचय

उपदंश दुष्ट योनि या लिंग से उत्पन्न होने वाला प्राचीनतम रोग है। सर्वप्रथम उपदंश का वर्णन आचार्य सुश्रुत ने किया है। आचार्य चरक ने इसे ध्वजभंग नाम से वर्णित किया है। इस रोग में लिंगेन्द्रिय के ऊपर ब्रण उत्पन्न होते हैं। यह ब्रण मुदु (soft) होते हैं। यह कामिनी व कामदेव के मनोज मंदिर के राजभोग का एक निन्दनीय अभिशाप है। आपकिलिंगवाङ्कों से संक्रमण जन्य रोग माना गया है जो एक तरह के जीवाणु से

उत्पन्न होता है। उपदंश (ध्वजभंग) रोग का सामञ्जस्य आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Chancroid या Soft Chancre नामक रोग से किया जा सकता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 30
2. सुश्रृत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 12
3. सुश्रृत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 19
4. अष्टाङ्ग हृदय, उत्तर स्थान-अध्याय 33, 34
5. चक्रदत्त-अध्याय 47
6. माधव निदान-अध्याय 47
7. भाव प्रकाश, मध्य खण्ड-अध्याय 51
8. भैषज्य रत्नावली-अध्याय 52

परिभाषा

स्त्री व पुरुषों के जननाङ्गों पर उत्पन्न पीत रक्तस्राव युक्त ब्रण को उपदंश कहा जाता है।
पर्याय

1. उपदंश
2. ध्वजभंग
3. Soft Sore
4. Soft Chancre
5. Chancroid

निदान

विभिन्न ग्रंथों में उपदंश रोग के निम्न हेतु या कारण बतलाए गए हैं—

1. अति व्यवाय
 2. दुष्टयोनि संसर्ग
 3. हस्त, मुख, दन्त व शूक से शिशन पर आघात होना
 4. शिशन शोधन व धावन न करना
 5. आति ब्रह्मचर्य करना
 6. अतिब्रह्मचारिणी-रजस्वला-दीर्घरोमा-कर्कशरोमा-संकीर्णरोमा-निगूढ़रोमा-
-
- i) “ध्वजभङ्गकृतं श्रृणु ॥ अत्यस्तलवणक्षार ।
.....प्रवर्तते ॥” (च.चि. 30/162-168)
 - ii) “तत्रादिमैथुनादतिब्रह्मचर्याद्वा ।
.....तमुपदंशमित्याचक्षते ॥” (सु.नि. 12/10)
 - iii) “हस्ताभिषातान्नखदन्तपादादधावनाद्रव्यतिसेवनाद्वा ।
योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने पञ्चोपदंशा विविधापचरैः ॥” (मा.नि. 47/1)
 - iv) “स्त्रीव्यवायनिवृत्तस्य ।
.....जनयन्त्युदंशादीन् ॥” (अ.ह.उ. 33/1-5)

अल्प द्वारा-महाद्वारा-अप्रिय-अकामा-अशुद्धजल प्रक्षालिता-अप्रक्षालिता योनि में मैथुन करना।

7. वेग धारण करना
8. लिङ्ग को दबाना (अवपीड़न), हस्तमैथुन करना
9. योनिदोष होना
10. पशु योनि (गाय, भैस) में मैथुन करना
11. मैथुन के पश्चात् लिंग प्रक्षालन नहीं करना
12. वेश्या गमन करना आदि।

आधुनिक निदान

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इस रोग का प्रधान कारण Bacillus of Ducrey's नामक दण्डाणु को माना गया है। यह दण्डाणु रक्ताश्रित (Haemophilus) जाति का है। यह पूयजनक (Pyogenic) जीवाणु है जो अशुद्ध योनि में अधिकता से पाया जाता है। मैथुन के समय शिशनआवरक (Condom) का प्रयोग न करने से यह जीवाणु एक-दूसरे में संक्रमित होता है। सन् 1889 में ड्यूक्रे नामक पाश्चात्य विद्वान ने इस दण्डाणु की खोज की थी, इसी के आधार पर उत्पादक कारण को Bacillus of Ducrey's कहा जाता है।

सम्प्राप्ति

पूर्व वर्णित निदानों के सेवन से प्रकुपित वातादि दोष क्षत या अक्षत शिशन में शोथ उत्पन्न कर देते हैं, तत्पश्चात् व्रणोत्पत्ति होकर उपदंश रोग का प्रादुर्भाव होता है।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन



पित्र प्रधान त्रिदोष का प्रकोप



जननांगों में शोथ उत्पत्ति



व्रणोत्पत्ति



उपदंश रोग

संक्रमण जन्य सम्प्राप्ति

आधुनिक मतानुसार उपदंश (Soft Chancre) पीड़ित व्यक्ति के साथ मैथुन करने

-
1. “प्रकुपिता दोषाः क्षतेऽक्षते वा श्वयथुमुपजनयन्ति, तमुपदंशमित्याचक्षते ॥” (सु.नि. 17/7)

से एक से चार दिनों के अंदर पुरुष में शिशनमणि (Glans Penis) की त्वचा, सेवनी व स्त्री में भग शिशिका (Clitoris) एवं लघु भगौष्ठ (Labia Minora) पर ब्रण बन जाते हैं। ये ब्रण मृदु होते हैं और इनसे गाढ़ा पीला रक्तयुक्त स्नाव निकलता है, यह पूय (Pus) कहलाता है। यह स्नाव जहाँ भी लगता है वहाँ ब्रण उत्पन्न करता है। यदि स्वच्छता रखी जाय तो तीन सप्ताह में ब्रण रोपण हो जाता है अन्यथा ब्रणोत्पत्ति का क्रम निरंतर चलता रहता है। वंक्षण ग्रंथि (Inguinal Glands) भी पककर फूटती रहती हैं। कभी-कभी सम्पूर्ण शिशन ही शोथयुक्त हो जाता है और शिशनमणि की त्वचा (Prepuce) आदि गलकर गिरने लगती हैं।

इस रोग का संक्रमण रोगी के वस्त्र, रूमाल, पात्र आदि का प्रयोग करने से, सहभोज व सहवास से होता है।

संचयकाल (Incubation Period)— इस रोग का संचय काल 3 से 7 दिन होता है।

सम्प्राप्ति घटक

दोष- पित्त प्रधान त्रिदोष

दूष्य- रक्त, लसिका

स्रोतस्-मूत्रवह, प्रजननवह स्रोतस्

स्रोतोदुष्टि-अतिप्रवृत्ति

अधिष्ठान-जननेन्द्रिय

भेद

आचार्य सुश्रुत ने उपदंश रोग के निम्न पांच भेद वर्णित किए हैं।-

1. वातज
2. पित्तज
3. शैय्मिक
4. रक्तज
5. सत्रिपातज।

पूर्वरूप

ग्रंथों में उपदंश रोग के पूर्वरूपों का स्पष्टतः उल्लेख नहीं मिलता है। अतः आगन्तुक ब्रण के पूर्वरूप ही उपदंश के पूर्व रूप समझना चाहिए, जो निम्न हैं—

1. रक्तिमा
2. उष्णाधिक्यता
3. रुजा या वेदना होना।

1. "स पञ्चविधस्त्रिभिर्दोषैः पृथक् समस्तैरसृजा चेति ॥" (सु.नि. 12/8)

लक्षण

उपदंश व ध्वजभंग रोग में निम्न सामान्य लक्षण प्राप्त होते हैं।—

- (i) लिङ्ग में शोथ-शूल-रक्तिमा-स्फोट-पाक मिलना
- (ii) लिङ्ग के ऊपर मांसोत्पत्ति व वृद्धि होकर शीत्र ही ब्रण उत्पत्ति हो जाना
- (iii) ब्रण से पुलाकोदक के समान श्याम अरुण वर्ण का स्नाव होना
- (iv) अनिंदग के समान तीव्र दाह व वेदना होना
- (v) लिङ्ग का सदैव क्लेद युक्त रहना व सड़ी गन्ध आना
- (vi) ज्वर-तृष्णा-ध्रम-मूर्च्छा-छर्दि का रहना
- (vii) शिशनमणि, मेद्र, मुष्क का सड़कर गिरना

इसके अतिरिक्त आधुनिक मतानुसार उपदंशज ब्रण में निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं—

- (i) संक्रमण के 3 से 5 दिन पश्चात् जननेन्द्रिय पर स्फोट उत्पत्ति
- (ii) स्फोट के फूटने पर ब्रणोत्पत्ति होना जिसमें निम्न विशेषताएँ होती हैं—
 - (अ) ब्रण के किनारे साफ कटे हुए व मृदु होते हैं। (Sharply cut and soft chancre)
 - (ब) ब्रण से गाढ़ा, पीला, रक्त मिश्रित स्नाव निकलना।
 - (स) ब्रण का शिशनमणि, शिशन, अण्डकोश, सेवनी, लघु भगौष्ठ, भगशिशिका आदि स्थलों पर उत्पन्न होना।
 - (द) ब्रण स्नाव का विसर्पी स्वभाव होने से शरीर के दूसरे स्थान पर भी संक्रमण हो जाता है।
- (iii) ब्रण के स्थान की वंक्षण ग्रन्थि वेदना एवं शोथ युक्त (Tender & Inflammatory Inguinal glands) होती है।
- (iv) ब्रण स्थान रक्तिमामय होता है।
- (v) ब्रणों की संख्या अनेक (Multiple) होती है।

भेदानुसार लक्षण

उपदंश रोग के विभिन्न भेदों के विशिष्ट लक्षण निम्नानुसार होते हैं—

I वातज उपदंश²

- (i) तोद, भेदन, स्फुरण आदि वातिक वेदनाएँ होना

1. "भवन्ति यानि रुपाणि । ध्वजभङ्गं प्रचक्षते ॥" (च.चि. 30/168-176)
2. I) "तत्र वातिके पारुण्यं त्वक्परिस्फुटं स्तव्यमेद्रता परुण्य शोफता विविधाश्च वातवेदनाः ।" (सु.नि. 12/9)
 - ii) "सतोदभेदैः स्फुरणैः सकृष्टैः स्फोटैर्व्यवस्थेत्पन्नोपदंशम् ॥"
 - (मा.नि. 47/1)

- (ii) स्फोट कृष्णवर्ण का होना
 (iii) पारुष्य, ज्वर परिस्फुटन (फटना)
 (iv) सूजन में कठोरता होना

II पित्तज उपदंश¹

 - (i) ज्वर
 - (ii) शोथ
 - (iii) पकोदम्बर सदृश वर्ण
 - (iv) तीव्र दाह
 - (v) स्फोट पीले, क्लेद व दाह युक्त
 - (vi) शीघ्र पाक
 - (vii) पित्तज वेदनाएं होना।

III श्लैष्मिक उपदंश²

 - (i) कण्डू व शोथ युक्त व्रण
 - (ii) कठिन स्थिर व्रण
 - (iii) शुक्ल व घनस्त्राव युक्त स्फोट
 - (iv) विभिन्न कफज वेदनाएं होना।

IV रक्तज उपदंश³

 - (i) शिशन पर कृष्ण स्फोट होना
 - (ii) अति रक्तस्त्राव
 - (iii) पैत्तिक उपदंश के लक्षण होना
 - (iv) ज्वर, दाह, शोष होना।

V सनिपातज उपदंश⁴

 - (i) अनेक प्रकार के स्राव होना

- i) "पैतिके ज्वरः क्षयथुः पक्षोदुम्बरसङ्काशस्तीव्र दाहः क्षिप्रपाकः पित्तवेदनाशः ॥" (सु.नि. 12/9)
 - "पीतैवर्द्धक्लेदयुतैः सदाहैः पित्तेन ।" (मा.नि. 47/2)
 - i) "शैष्मिके क्षयथुः कण्ठमान् कठिनः स्थिरः शैष्म वेदनाशः ॥" (सु.नि. 12/9)
 - "सकंडुरौः शोथयुतैर्महद्विः शुक्लैर्घनैः स्वावयुतैः कफेन ॥" (मा.नि. 47/3)
 - i) "रक्तजे कृष्णस्फोटप्रादुर्भावोऽत्यर्थमसूक्ष्म प्रवृत्तिः ।
पित्तलिङ्गात्यर्थ ज्वरदाहौ शोषक्षः ॥" (सु.नि. 12/9)
 - "रक्तात् पिशितावभासैः ॥ स्फोटैः सकृष्णौ रुधिरं स्ववन्तं रक्तात्मकं पित्तसमानलिङ्गम् ॥" (मा.नि. 47/2-3)
 - i) "सर्वजे सर्वलिङ्गदर्शनं भवदरणं च । शेफसः कृमि प्रादुर्भावो मरणं चेति ॥" (सु.नि. 12/9)
 - "नानाविधस्तावरुजोपत्रमसाध्यमाहुस्त्रिमलोपदंशम् ॥" (मा.नि. 47/4)

उपदेश

- (ii) नानाविध घेदनाएँ होना
 - (iii) वातादि त्रिलोपज उपर्दश के लक्षण होना
 - (iv) शिश्न का विदीर्ण होना
 - (v) शिश्न व शरीर में कृपि होना
 - (vi) मृत्यु हो जाना।

सापेक्ष निदान

उपदंश रोग का सापेक्ष निदान फिरंग रोग से किया जाता है, क्योंकि ये दोनों रतिजन्य रोग जननेन्द्रिय पर व्रण उत्पन्न कर प्रकट होते हैं। अतः उपदंश व्रण व फिरंग ज व्रण में निम्न लक्षणों के आधार पर भेद किया जा सकता है—

- | | |
|---|--|
| उपदंश (Chancroid) | फिरंग (Syphilis) |
| (Soft Chancre) | (Hard Chancre) |
| 1. मैथुन (संक्रमण) के पश्चात् तीसरे या चौथे दिन व्रणोत्पत्ति होती है। | 1. मैथुन (संक्रमण) के पश्चात् प्रायः तीसरे सप्ताह में व्रणोत्पत्ति होती है। |
| 2. सामान्यतया अनेक व्रण उत्पन्न होते हैं। | 2. सामान्यतया एक व्रण उत्पन्न होता है। |
| 3. व्रण मृदु होते हैं एवं दाह व पीड़ा की अधिकता होती है। | 3. व्रण तरुणास्थि के समान कठिन होता है एवं दाह-पीड़ा का अभाव रहता है। |
| 4. व्रण स्नाव में पूर्य रक्तयुक्त होता है। | 4. व्रण स्नाव में लसिका होती है। |
| 5. व्रण के किनारे (Edge) साफ कटे हुए, भीतर से कुछ अवकाश युक्त व व्रण तल से कुछ उठे हुए (Elevated) होते हैं। | 5. व्रण के किनारे साफ, अवकाश युक्त व उठे हुए नहीं होते हैं। |
| 6. सूक्ष्मदर्शीय परीक्षण में व्रण स्नाव में Bacillus of Ducrey's नामक जीवाणु पाया जाता है। | 6. सूक्ष्मदर्शीय परीक्षण में व्रण स्नाव में Treponema Pallidum नामक Spirochete पाया जाता है। |
| 7. केवल व्रण की ओर की वंक्षण ग्रन्थियाँ फूलती हैं। | 7. व्रण के दोनों ओर की (Bilaterally) वंक्षण ग्रन्थियाँ फूलती हैं। |

- | | |
|---|--|
| 8. ब्रण स्लाव को सूक्ष्मी (Needle) 8. | ब्रण स्लाव को अन्य स्थान पर प्रविष्ट कराने पर समान ब्रण पैदा नहीं होता है। |
| 9. स्थानिक लक्षण ही पैदा होते हैं, सावैदैहिक लक्षण नहीं होते हैं। | 9. स्थानिक लक्षण शांत होकर भी सावैदैहिक लक्षण बने रहते हैं। |
| 10. यह अधिक घातक नहीं होता है व शोषण ठीक हो जाता है। | 10. यह वर्षगणानुबन्धी व अधिक घातक होता है। |

विशेष

कभी-कभी उपदंश के साथ फिरंग का तथा फिरंग के साथ उपदंश का उपसर्ग भी हो सकता है। इसलिए ब्रण में मिश्रित रूप के लक्षण मिलने पर भी व्यामोह (संशय) उत्पन्न होने को आवश्यकता नहीं है, लक्षणों की गहन रूप से छानबीन करने से तथा ब्रण स्लाव को विकृति विज्ञानीय सूझमर्दशक परीक्षा करने से रोग विनिश्चय सुगम हो जाता है।

साध्यासाध्यता

1. वातज, पित्तज व शैव्यिक उपदंश सुखसाध्य होता है।
2. रक्तज उपदंश याव्य होता है।
3. सन्त्रिपातज उपदंश असाध्य होता है।
4. जिस आतुर के शिश्न का मांस कटकर गिरने लागा हो या कृमियों की उत्पत्ति होकर शिश्न गिर गया हो तो उसे असाध्य उपदंश मानना चाहिए।
5. उपदंश उत्पन्न होते ही जो आतुर विषयासक्त होने के कारण चिकित्सा नहीं कराता है, कुछ समय के पश्चात् उसका शिश्न शोथ, कृमि, दाह व पाक से युक्त होकर गिर जाता है, जिससे रोगी की मृत्यु तक हो जाती है।

उपद्रव

उपदंश के रोगी के ब्रण की स्वच्छता (शोधन) व रोपण चिकित्सा के अभाव में ब्रण बढ़ने लगता है। तत्पश्चात् अन्य आध्यन्तर धातुओं (Tissues) के गलन के पश्चात् रक्तवाहिनियाँ (Blood Vessels) भी गलने लगती हैं। इसके फलस्वरूप रक्तस्लाव (Bleeding) होने लगती है। कभी-कभी शिश्न चर्म (Prepuce) गलकर शिश्नमणि

1. “विशोर्णमांसं कृमिभिः प्रजार्थं मुक्तावशेषं परिखर्येच्च॥” (मा.नि. 47/4)
2. “संजातमात्रे न करोति मूढः क्रियां नरो या विषये प्रसक्तः। कालेन शोथक्रिमिदाहपाकैविशोर्ण शिश्नो ग्रियते स तेन॥” (मा.नि. 47/5)

(Glans) बाहर आ जाती है। ब्रण स्थान में कोथ हो जाने से शिश्न ही गल जाता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी शिश्नमणिशोथ (Balanitis), निरुद्धप्रकाश (Phimosis) व परिकर्तिका (Paraphimosis) की उत्पत्ति उपद्रव स्वरूप होती है। कभी-कभी गलित शिश्न के कारण मृत्यु हो सकती है।

चिकित्सा सूत्र

आचार्यों ने उपदंश रोग की चिकित्सा के लिए निम्न सामान्य सिद्धान्त निर्दिष्ट किए हैं—

- (i) साध्य उपदंश रोगी में सर्वप्रथम स्वेहन-स्वेदन कराकर लिङ्ग में सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करना चाहिये तत्पश्चात् वमन-विरेचन कर्म के द्वारा देह संशोधन करावें। रक्तमोक्षण और संशोधन के द्वारा दोषों के शरीर से बाहर निकल जाने पर वेदना व शोथ शान्त हो जाता है।
- (ii) दुर्बल रोगी में अनुवासन एवं आस्थापन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए।
- (iii) प्रदेह-परिषेक-धावन-प्रक्षालन कर्म करें।
- (iv) ब्रण गत सभी सामान्य उपक्रम करें।
- (v) वष्ण को ग्राही-जन्मुघ्न, विसंक्रामण क्वाथ आदि से धोकर ब्रण का शोधन-रोपण-बंधन (Bandaging) करना चाहिए।
- (vi) ब्रण में पाक हो जाने पर सिरा-स्नायु-त्वचा व मांस के सड़ने से लिङ्ग क्षीण हो जाता है। पक जाने पर शस्त्र चिकित्सा करना चाहिये। पूय को निकालकर घृत व मधु में तिल मिलाकर लेप करें।
- (vii) रक्तशोधक औषधियों का प्रयोग करें।

1. i) “उपदंशेषु साध्येषु स्त्रिगांस्त्रिवस्त्र्य देहिनः। सिरां विध्येन्मेद्रमध्ये पातयेद्वा जलौकसः॥ होदुभयतश्चापि दोषानत्यर्थमुच्चितान्। स्योऽपहतदोष य रुक्षोफवुपशाम्भतः। यदि वा दुर्वलो जन्मुन् वा प्राप्तं विरेचनम्। निरुद्धेण हरेत्स्य दोषानत्यर्थमुच्चितान्॥” (सु.चि. 19/25-27)

ii) “स्त्रिगांस्त्रिवस्त्रीरस्य।हि सः॥” (चक्रदत्तः 47/1-2)

2. “ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यं जात्वा तस्याचरेत् क्रियाम्॥ प्रदेहान परिषेकांशुं कुर्याद्वा रक्तमोक्षणम्। स्वेहापानं च कुर्वीत स्वेहं च विरेचनम्॥ अनुवासं ततः कुर्यादथवाऽस्थापनं पुनः। ब्रणवच्च क्रियाः सर्वास्त्रव्र कुर्याद्विक्षणः॥” (च.चि. 30/199-201)

3. “न याति च यथा पाकं प्रयतेत् तथा भिपक्। विदधेस्तु मिरालायुत्वदमांसैः क्षीयते ध्वजः॥ शस्त्रेणोपर्द्वाप्य पाकमागतमाशु वै। तदाऽपोह्य तिलैः सर्विशौद्धयुक्तैः प्रलेपयेत्॥” (सु.चि. 19/37-38)

चिकित्सा

I शोधन चिकित्सा

- (i) स्लेहन— भूनिम्बाद्य घृत या करञ्जाद्य घृत द्वारा
- (ii) स्वेदन
- (iii) रक्तमोक्षण— जलौंका द्वारा
- (iv) वमन कर्म
- (v) विरेचन कर्म
- (vi) निरुह बस्ति
- (vii) व्रण प्रक्षालन हेतु— (वर्ण शोधनार्थ)
 - पंचक्षीरी क्षाथ
 - भूतघ्न चक्रिका द्राव
 - त्रिफला क्षाथ
 - भृङ्गराज स्वरस

II शमन चिकित्सा

1. व्रण रोपण हेतु— (स्थानिक प्रयोग)
 - त्रिफला मसी (त्रिफला की जली राख)
 - जात्यादि तैल
 - जात्यादि घृत
 - व्रणराक्षस तैल
 - आगार धूमाद्य तैल
2. रस/भस्म/पिष्ठी

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, अद्धक स्वरस
(i) त्रिबंग भस्म	: नाग, बङ्ग, यशद आदि।
(ii) व्याधिहरण रस	: कञ्जली, मल, हरताल आदि।
(iii) अष्टमूर्ति रसायन	: कञ्जली, हिंगुल, मनःशिला आदि।
(iv) उपदंशगाज केशरी रस	: पारद, भल्कातक, यवानी आदि।
(v) रस माणिक्य	: हरताल आदि।
(vi) गंधक रसायन	: शुद्ध आमलासार गंधक।
(vii) अमीर रस	: रस कर्पूर, हिंगुल, सेंधव आदि।
(viii) शुभ्रा भस्म	: शुद्ध पिण्टकरी
(ix) कासीस भस्म	: शुद्ध कासीस।
(xi) गैरिक भस्म	: शुद्ध गैरिक।

उपदंश

(xi) रस कर्पूर	: पारद, शुभ्रा, कासीस आदि।
(xii) प्रवाल पिष्ठी	: शु. प्रवाल।
3. चटी/गुग्गुलु	
मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: सुखोण्ण जल
(i) आरोग्यवर्धनी चटी	: कञ्जली, अध्रक, ताम्र, कुटकी आदि।
(ii) कैशोर गुग्गुलु	: त्रिफला, गुडची, गुग्गुलु आदि।
(iii) रस गुग्गुलु	: पारद, घृत, गुग्गुलु आदि।
(iv) वरादि गुग्गुलु	: त्रिफला, निष्व, खदिर आदि।
(v) रसशेखर चटी	: पारद, अफीम, हिंगुल आदि।
4. चूर्ण	
मात्रा	: 2-6 ग्राम
अनुपान	: सुखोण्ण जल, मधु, घृत
(i) चोपचीन्यादि चूर्ण	: चोपचीनी, मरिच, अकरकरा आदि।
5. क्वाथ	
मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) पटोलादि क्षाथ	: पटोल, निष्व, अमृता आदि।
(ii) उपदंशहर क्षाय	: निष्व, कांचनार, बबूल आदि।
6. आसव/अरिष्ट	
मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: समभाग जल (भोजनोत्तर)
(i) महामंजिष्ठाद्यरिष्ट	: मंजिष्ठा, निष्व आदि।
(ii) देवदार्व्याद्यरिष्ट	: देवदारु, वासा, मंजिष्ठा आदि।
(iii) सारिवाद्यासव	: सारिवा, लोध्र, नागरमोथा आदि।
7. अवलेह	
मात्रा	: 10-20 ग्राम
अनुपान	: दुग्ध, सुखोण्ण जल
(i) सारिवाद्यवलेह	: सारिवा, अमृता, जीवनीय गण आदि।
8. पाक	
मात्रा	: 20-40 ग्राम
अनुपान	: दुग्ध
(i) चोपचीनी पाक	: चोपचीनी, अकरकरा, शर्करा आदि।

9.	घृत/तैल मात्रा	: यथावश्यक
(i)	अन्तःप्रयोगार्थ • करञ्जाद्य घृत • भूनिष्ठाद्य घृत	: करंज, निष्ठा, विजयसार आदि।
(ii)	बाह्यः प्रयोगार्थ • जात्यादि तैल • गो जिहादि तैल • आगार धूमाद्य तैल • कोशातकी तैल	: चिरायता, निष्ठा, त्रिफला आदि।
10.	लेप मात्रा	: यथावश्यक (बाह्य प्रयोगार्थ)
(i)	उपदंशहर मल्हर	: कञ्जली, तुलसी, बिंडग आदि।
(ii)	उपदंशहर चूर्ण-प्रलेप	: वराटिका, मुर्दाशृङ्ख, कर्पूर आदि।
(iii)	गैरिकादि लेप	: गैरिक, रसांजन, मंजिष्ठा आदि।
(iv)	पूगफल लेप	
(v)	करवीर जड़ लेप	
11.	अवचूर्णन मात्रा	: यथावश्यक (स्थानिक प्रयोगार्थ)
(i)	निष्ठादि चूर्ण	: निष्ठात्वक, अर्जुनत्वक, गूलर आदि।
(ii)	बबूल पत्र चूर्ण / दाढ़िमत्वक चूर्ण / मानव अस्थि चूर्ण अवचूर्णन।	
(iii)	हीरा कासीस चूर्ण अवचूर्णन	
12.	प्रक्षालन योग मात्रा	: यथावश्यक (बाह्य प्रयोगार्थ)
(i)	जयन्ती, चमेली, करवीर, अर्क, अमलातास के पत्र का क्वाथ बनाकर मेद्रव्रण प्रक्षालनार्थ प्रयुक्त करें।	
(ii)	त्रिफला क्वाथ	
(iii)	भृङ्गराज स्वरस	
आदर्श चिकित्सा पत्र		
1.	निदान परिवर्जनम्	
2.	शोधन चिकित्सा	
3.	ब्रण प्रक्षालन व रोपण	

4.	मल सिन्दूर गंधक रसायन प्रवाल पिण्ठी मधु से	: 125 मि.ग्रा. : 250 मि.ग्रा. : 250 मि.ग्रा. 1x2 मात्रा
5.	भोजनोत्तर महामंजिष्ठाद्यरिए सारिवाद्यासव समभाग जल से	
6.	आरोग्वर्धिनी वटी कैशोर गुण्गुलु सुखोष्ण जल से	: 2 वटी × तीन मात्रा : 2 वटी × तीन मात्रा
7.	विवंध रहने पर रात्रि में त्रिफला चूर्ण गर्म जल से	: 3 ग्रा. 1 मात्रा
	पथ्यापथ्य	
	उपदंश रोगी को युक्तिपूर्वक निम्न पथ्यापथ्य आहार-विहार का सेवन कराना लाभप्रद होता है। ¹	
	पथ्य	
	आहार	विहार
	जौ (यव), शालि चावल,	वेग निर्गन
	जाङ्गल मांस, मुदग यूप,	लघु व्यायाम
	घृत, मधु, कूप जल, तिल तैल,	चंक्रमण
	कारबेलक, शिंगू, पटोल,	ब्रह्मचर्य पालन आदि।
	तिक्त-कषाय रस आदि।	
	अपथ्य	
	आहार	विहार
	गुरु-अम्ल पदार्थ, लवण सेवन	दिवाशयन, मूत्र वेगधारण,
	गुड़, तक्र, दधि, मत्य,	मैथुन, परित्रम, अतिव्यायाम्
	उड़द, मद्य, पिण्ठान सेवन आदि।	आदि।

1. "छर्दिविरीको वर्जयेदुपदंश वान्॥"
(पथ्यापथ्य विनिश्चयः/370-372)

Latest Developments Chancroid

आयुर्वेदोल्ल उपदंश रोग का आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Venereal disease "Chancroid" नामक रोग से सामृज्य करते हैं। यह रोग Ducrey's Bacillus नामक Gram Negative Strepto-bacillus से उत्पन्न होता है। यह रोग स्त्री व पुरुष दोनों में समान रूप से पाया जाता है। इस रोग में जननेन्द्रिय पर कई ब्रण उत्पन्न हो जाते हैं जो कि मृदु होते हैं।

Management : Principles

- I. Locally— Wash the ulcerated part with Antiseptic solution such as potassium permagnate etc.
 - II. Systemic Drugs— Antibiotics
 - III. Treatment of Complications
 - i. Inflammatory Phimosis—Narrowness of the preputial orifice so that the fore skin can not be pushed back over the glans penis.
Rx - Circumcision.
 - ii. Bubo Formation—Inflamed, swollen or enlarged inguinal gland in groin
Rx - Aspiration of pus
 - iii. Phagedena—A sloughing ulcer that spreads rapidly.
Rx - Broad spectrum Antibiotics
 - iv. Prevention—To use Condom for sexual intercourse.
- शुभ लेखन •••

अध्याय-40

फिरंग रोग (SYPHILIS)

व्याधि परिचय

फिरंग (Syphilis) एक मैथुनजन्य संक्रामक रोग है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में सर्वप्रथम इसका वर्णन भावप्रकाश कार ने किया है। इस रोग का प्रसार पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में (लाभग 1492 ई. के आसपास) यूरोप से भारत में हुआ। फिरंगियों (विदेशियों) के कारण इस रोग का प्रसार होने से आचार्य भावमित्र ने इसे 'फिरंग रोग' नाम दिया। यह प्रजनेन्द्रिय का मैथुनजन्य रोग है। इस रोग से पीड़ित स्त्री से यह स्वस्थ पुरुष में एवं पीड़ित पुरुष के सम्पर्क से यह रोग स्वस्थ स्त्री में उत्पन्न हो सकता है²। रोगाक्रान्त स्त्री के गर्भ से उत्पन्न नवजात शिशु में जन्म से ही यह रोग उत्पन्न हो सकता है जिसे कुलज फिरंग रोग (Congenital Syphilis) या सहज फिरंग रोग कहा जाता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भावप्रकाश, मध्यखण्ड-अध्याय 59
2. धैषज्य रत्नावली-अध्याय 95

निरुक्ति

यह रोग फिरङ्ग नामक देश में अधिकता से उत्पन्न होता है, इसलिये इस रोग को व्याधि विशारदों ने फिरंग रोग कहा है। फिरंगियों के कारण उत्पन्न होने से भी इस रोग को फिरंग रोग कहा जाता है। विदेशियों को फिरंगी कहा जाता है।

परिभाषा

जननेन्द्रिय सम्बन्धी वह संक्रामक रोग जिसका प्रसार फिरंगियों के द्वारा भारतवर्ष में हुआ, वह फिरंग रोग कहलाता है।

पर्याय

फिरंग रोग को निम्न पर्यायों से भी जाना जाता है—

-
1. “फिरङ्गसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद्यवेत्। तस्मात्प्रिफङ्ग इत्युलो व्याधिर्वार्धिविशारदः ॥”
(भा.प्र. मध्यखण्ड 59/1)
 2. “गन्धरोगः फिरङ्गोऽयं जायते देहिनां धृवम्। फिरङ्गिणोऽयं संसर्गात्प्रिफङ्गिण्याः प्रसङ्गतः ॥”
(भा.प्र. मध्यखण्ड 59/2)

- i. आतशक
- ii. गरमी
- iii. गन्धरोग
- iv. कर्कश उपदंश
- v. Syphilis
- vi. Hard Chancre

निदान

- I. फिरंग रोग फिरङ्ग देश के मनुष्यों के अङ्ग संसर्ग तथा फिरङ्ग देश की युवतियों के साथ प्रसङ्ग करने से उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह रोग आगान्तुक रोग है, इसमें दोष प्रकोप संक्रमण के कुछ समय (7 दिन) पश्चात् होता है¹।
- II. वंश परम्परा से सहज या कुलज फिरङ्ग रोग उत्पन्न होता है। इसका मुख्य कारण सन्तान उत्पादक बीज (Ovum or Sperm) का फिरङ्ग के जनक कारणों से संक्रमित होना है।
- III. आधुनिक मतानुसार इस रोग का मुख्य कारण (*Treponema pallidum*) नामक जीवाणु है। यह जीवाणु लम्बा, कुण्डलित व लालकण समान होता है। यह शिशन की क्षतिग्रस्त त्वचा से शरीर में प्रविष्ट होता है²।

सम्प्राप्ति व संक्रमण

आधुनिक मतानुसार फिरंग रोग चिरकालानुबन्धी औपसर्गिक रोग है। इसका संक्रमण '*Treponema pallidum*' नामक जीवाणु से होता है। यह संक्रमण निम्न चार प्रकार से हो सकता है—

1. मैथुन द्वारा—फिरंग रोग से पीड़ित पुरुष या स्त्री के साथ मैथुन करने से यह रोग स्वस्थ पुरुष में भी उत्पन्न होता है। मैथुन की रगड़ से जननेन्द्रिय की श्लेष्मल कला पर सूक्ष्म क्षत बनते हैं, उनमें से जीवाणु शरीर में प्रवेश करते हैं। संक्रमण का यह मुख्य मार्ग है। मैथुन द्वारा फिरंग रोग (*Syphilis*) का इतिहास 90-95% रोगियों में मिलता है। इसी कारण यह रोग मैथुनजन्य रोग (*Veneral Disease*) कहलाता है।
2. संसर्ग या गात्र स्पर्श जन्य—जननेन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य अंगों का फिरंग दूषित स्थानों से सम्पर्क होने से इसका संक्रमण 5-10% रोगियों में होता है।

1. “गन्ध रोगः फिरङ्गोऽयं.....। प्रसङ्गतः ॥
व्याधिरागन्तुजो होय दोषाणामत्र सङ्क्रमः। भवेत्त लक्षयेतेयां लक्षणैर्भिंषजां वरः ॥”
(भा.प्र. मध्य खण्ड 59/2-3)
2. ‘स्माइरो कीटा पैलिडा’ कीटा लोहिते विषाक्ष्यकुपाऽदृष्टाः।
कारणं शस्यमामयस्यास्य कर्पिणी तुल्या रोगिणे शत्या।

(मा.नि.परिशिष्टम् उपदंश निदानम् /8-9)

यह रोग संक्रमित व्यक्ति के चुम्पन, वस्त्रस्पर्श व यन्त्र-शस्त्रादि से फैलता है। इसका संक्रमण चिकित्सक, परिचारिका को अधिक हो सकता है। इस संक्रमण के मार्ग को चहि: जननेन्द्रिय मार्ग (Extragenital route of Infection) कहते हैं।

3. रक्तगत मार्ग जन्य—फिरंग रोग का प्रभाव सावंदैहिक होने से इसके जीवाणु रक्तधातु में भी उपस्थित रहते हैं। जब फिरंग ग्रस्त आतुर का रक्त किसी अन्य स्वस्थ व्यक्ति में आधान (Blood Transfusion) किया जाता है तो उसमें भी फिरंग रोग उत्पन्न हो जाता है।
4. सहज मार्ग गत—फिरंग रोग ग्रस्त माता के रक्त में उपस्थित जीवाणु अपरा (Placenta) के माध्यम से भ्रूण में पहुंच सकते हैं। यदि पिता रोगग्रस्त है तो शुक्रधातुगत जीवाणु बच्चे में इस रोग को उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं। इस मार्ग गत संक्रमण को फिरंग रोग का सहज (Congenital) मार्ग गत संक्रमण कहते हैं।

संचय काल

फिरंग रोग के जीवाणुओं का संचय काल (Incubation Period) 2 से 6 सप्ताह होता है।

सम्प्राप्ति

फिरंग जीवाणु शरीर में प्रवेशोपरान्त 24 घण्टे के अन्दर ही लसिका वाहिनियों में गमन करते हैं। तत्पश्चात् लसिका ग्रन्थियों के माध्यम से लसिका संवहन में व्यास होकर शिराओं व धमनियों में जाकर सम्पूर्ण देह में फैल जाते हैं। इसके बाद रक्तवाहिनियों से निकलकर समीप के लसिकामय प्रदेश में रोहण करके शोथ एवं ब्रणोत्पत्ति कर देते हैं। यह क्षेत्र सम्पूर्ण शरीर ही होता है। इस संक्रमण से त्वचा, श्लेष्मल कला, हृदय, रक्तवह संस्थान, केन्द्रिय नाड़ी तत्र विशेष रूप से प्रभावित होते हैं। सम्प्राप्ति का यह सम्पूर्ण स्वरूप एक साथ घटित नहीं होता है अपितु निम्न चार अवस्थाओं के रूप में परिपूर्ण होता है—

प्रथमावस्था¹

आचार्य भावमित्र के अनुसार यह फिरंग के बाह्य भेद की अवस्था है। इस अवस्था में केवल स्थानीय लक्षण ही पाए जाते हैं। फिरंग संक्रमित व्यक्ति से मैथुन के पश्चात् तीसरे सप्ताह में शिशन (जननेन्द्रिय) पर एक छोटा सा दाना प्रकट होता है। पुरुषों में यह दाना शिशनमणि या उसकी त्वचा (Prepuce) के भीतरी भाग पर उत्पन्न होता है तथा स्त्रियों

-
1. “प्रायेण.....। तास्वणुकोष संस्था ॥”
(मा.नि.परिशिष्टम् उपदंश निदानम् /10-13)

में वृहद् भगोष्ट (Labia Majora) के भीतरी अंग पर होता है। कभी-कभी यह संक्रमण ओष्ठ-स्तन-जिह्वा-अंगुलियों पर भी दाने के रूप में उत्पन्न हो सकता है। धीरे-धीरे यह दाना बढ़कर फूटकर ब्रण का रूप धारण कर लेता है। यह ब्रण आकृति में गोल व स्पर्श में कठिन (Hard chancre) होता है। इस ब्रण से केवल लसीका का स्राव होता है जिसमें रोग के जीवाणु उपस्थित रहते हैं। ब्रण प्रायः एक ही होता है। ब्रण उत्पन्न होने के एक-दो सप्ताह पश्चात् वंक्षण प्रदेश (Inguinal region) की लसीका ग्रन्थियाँ (Lymph Glands) फूल जाती हैं। इस प्रकार संक्षेप में इस प्रथमावस्था में ब्रण उत्पत्ति व लसीका-ग्रन्थि वृद्धि (Lymphadenopathy) मिलती है। यह अवस्था डेढ़ से 2 माह तक रहती है।

द्वितीयावस्था¹

प्राथमिक ब्रणोत्पत्ति के 3 से 4 सप्ताह के भीतर यह अवस्था प्रारम्भ हो जाती है एवं दो वर्ष तक रहती है। इसमें जीवाणु विष समस्त शरीर में प्रवाहित होकर विभिन्न अंगों में विकार उत्पन्न करता है। शरीर की त्वचा पर दाने निकलने लगते हैं। इन दानों में निम्न विशेषताएं होती हैं—

- सभी दाने वर्ण, आकार व परिमाण में एक समान नहीं होते हैं।
- शरीर के दोनों ओर समान स्थानों पर दाने निकलते हैं।
- इन दानों में कण्डु व पीड़ा नहीं होती है।
- दानों के स्वयं ठीक होने पर कुछ समय तक ताप्रवर्ण या मांसवर्ण के लाल धब्बे उत्पन्न होते हैं।
- बाह्य त्वचा की भाँति ओष्ठ, जिह्वा, तालु, कपोल की श्लेष्मल कला पर भी छाले उत्पन्न होते हैं। ये छाले गोल, सर्पिकार, राख वर्ण के तथा स्वच्छ कटे हुए किनारे वाले उत्तान होते हैं।
- जिस स्थान पर त्वचा सदैव आर्द्र रहती है और त्वचा तथा श्लेष्मल कला परस्पर मिलती है (जैसे- गुदा तथा भगौष्ट) वहाँ भी छाले बन जाते हैं जिसे 'Condyloma' कहते हैं।
- कक्षा (Axilla), कुहनी (Elbow), ग्रीवा तथा वंक्षण प्रदेश (Inguinal region) की लसीका ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं।

इन लक्षणों के अतिरिक्त कुछ सार्वदैहिक लक्षण भी फिरंग रोग में मिलते हैं जो निम्न प्रकार हैं—

1. "सप्ताहपट्टके..... विविच्य ॥"
(मा.नि.परिशिष्टम् उपदेश निदानम् /14-16)

- ज्वर (Fever)
- पाण्डुता (Anaemia)
- दुर्बलता (Weakness)
- शिरःशूल (Headache)
- रात्रि में अस्थि व सन्धि शूल (Arthralgia)
- कनीनिका शोथ (Iritis)
- केशपाता/खालित्य (Hair falling)

इस अवस्था में चिकित्सा नहीं करने पर दुर्बल रोगियों में लक्षण भयंकर रूप धारण कर लेते हैं।

तृतीयावस्था¹

यह अवस्था ब्रण अवस्था (Condyloma Stage) के 6 माह से 2 साल के बाद प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में त्वचा, लसीका ग्रन्थि, अस्थ्यावरण, अस्थि, मांसपेशी, यकृत, प्लीहा तथा वृषण ग्रन्थि आदि शरीर के विभिन्न भागों में ग्रन्थियाँ बनने लगती हैं जो गमा (Gumma) कहलाती हैं। इस ग्रन्थि की निम्न विशेषताएं होती हैं—

- ये ग्रन्थियाँ गाँठदार तथा चपटी होती हैं।
- धीरे-धीरे ये सड़कर फोड़े की तरह फूट जाती हैं तथा उनसे गोंद जैसा स्राव निकलता है।
- त्वचा में गहरे ब्रण बन जाते हैं।
- नासिका में होने से नासाभंग (Saddle Nose) हो जाता है।
- तालु में होने से विदार (Perforated Palate) हो जाता है। खाना-पीना कठिन हो जाता है।
- मस्तिष्क व सुषुम्ना प्रदेश में होने से पक्षाधात व पंगुता हो जाती है।
- कर्ण व नेत्र में होने से श्रवण शक्ति व दर्शन शक्ति का नाश हो जाता है।
- जिह्वा पर होने से जिह्वा फट (Fissuring of Tongue) जाती है।
- रक्तवाहिनियों में होने से उसकी दीवार स्थूल हो जाती है एवं रक्तभार (Blood Pressure) बढ़ जाता है।

चतुर्थावस्था

तृतीय अवस्था के पश्चात् जब केन्द्रिय तनिका संस्थान सम्बन्धी विकृतियाँ होती हैं तो उसे चतुर्थावस्था मानते हैं। कुछ आचार्य इस अवस्था को तृतीय अवस्था ही

1. "श्यान ग्रन्थी मूर्च्छ..... तृतीया ॥"
(मा.नि.परिशिष्टम् उपदेश निदानम् /17-23)

मानकर फिरंग रोग की तीन अवस्थाएं मानते हैं। इस अवस्था में प्रथमावस्था के तीन ज्ञान के अन्दर ही या 25-30 वर्ष बाद भी जीवाणु विष का आक्रमण हो सकता है। इस अवस्था में निम्न मस्तिष्कगत विकार मिलते हैं—

- (i) नाड़ी संस्थानीय फिरंग (Neuro syphilis)
 - (ii) फिरंगीय खंजता (Tabes Dorsalis or Locomotor ataxia)
 - (iii) फिरंग नर्वोड्युलाट युक्त उपदाद (General Paralysis of Insane-G.P.I.)
- टप्पुच लक्षण उपेक्षित रोगी के हैं। यदि रोग को प्रारम्भावस्था में निर्दिष्ट औपधियों से चिकित्सा की जाय तो आगे की अवस्थाएं रुक जाती हैं।

सम्प्राप्ति चक्र

फिरंगियों से गात्र संसर्ग



जीवाणु संक्रमण



ब्रणोत्पत्ति (Hard Chancre)



ग्रन्थि निर्माण (Gumma)



फिरंग रोग

सम्प्राप्ति घटक

दोष—पित्र प्रधान त्रिदोष

दूष्य—रुच, लसीका

स्रोतस्—प्रजनन संस्थान (शुक्रवह स्रोतस्)

स्रोतोदुष्टि लक्षण—सिराग्रन्थि

अधिष्ठान—जननेन्द्रिय व समस्त शरीर

सहज फिरंग¹

फिरंग पीड़ित माता-पिता से उत्पन्न नवजात शिशु में उत्पन्न हुए फिरंग रोग को सहजफिरंग (Congenital Syphilis) कहा जाता है। यह संक्रमण प्रायः गर्भावस्था के द्वितीय अंक (Second Half of Pregnancy) में होता है। जब माता-पिता के रज तथा वीर्य फिरंग जीवाणुओं से दूषित होते हैं तो उस समय दोनों के मैथुन करने से उत्पन्न गर्भ की चुति (म्राव) या पात (Miscarriage) होने की संभावना रहती है। कभी-कभी

1. “जीवाणुयोग..... भवेधुः ॥”
(मा.नि.परिशिष्टम् सहजोपदंश निदानम् /1-15)

माता-पिता में रोग नवीन होने से गर्भच्युति नहीं हो पाती है तथा जन्म लेने वाले नवजात शिशु में सहज उपदंश (Congenital Syphilis) की उत्पत्ति होती है। यदि गर्भिणी स्त्री को गर्भधारण के पश्चात फिरंग रोग हो जाय तो उसके बच्चे को भी फिरंग रोग उत्पन्न होने पर उसे संसर्गज फिरंग (Contagious Syphilis) कहते हैं।

भेद

आचार्य भावमित्र ने फिरंग रोग के निम्न तीन भेद वर्णित किये हैं—

1. बाह्य फिरंग—इसमें विस्फोट के समान फोड़े निकलते हैं, जिसमें पीड़ा कम होती है व फूटने पर ब्रण के समान होता है। यह सुखसाध्य होता है।
2. आभ्यन्तर फिरंग—यह फिरंग सन्धिगत होता है। इसमें आमवात रोग के समान पीड़ा व शोथ होता है। यह कष्ट साध्य होता है।
3. बहिरन्तर्गत फिरंग—यह फिरंग बाह्य व आभ्यन्तर दोनों स्थानों पर होता है।

आधुनिक आचार्यों ने इसके निम्न भेद भी बतलाए हैं—

- I. (a) सहज या कुलज फिरंग (Congenital Syphilis)
(b) जातोत्तर या संसर्गज फिरंग (Acquired or Contagious Syphilis)
- II. (a) प्रारम्भिक फिरंग (Primary Syphilis)
(b) द्वितीयक फिरंग (Secondary Syphilis)

सामान्य लक्षण

फिरंग रोग में सामान्यतया निम्न लक्षण समूह पाया जाता है—

- (i) जननेन्द्रिय पर कठिन ब्रण उत्पत्ति (Hard Chancre)
- (ii) समस्त शरीर में श्याम ग्रन्थियाँ (Gumma) बनना
- (iii) मन्द स्वरूप का ज्वर (Low Grade Fever)
- (iv) कण्ठपाक (Pharyngitis)
- (v) रक्ताल्पता (Anaemia)
- (vi) इन्द्रलुप्ति (Fall of Hair)
- (vii) रात्रि में शिरःशूल (Nocturnal Headache)
- (viii) अस्थि सन्धि शूल (Arthralgia)
- (ix) कनीनिका शोथ (Iritis)
- (x) दृष्टिमान्द्य (Diminution of Vision)

1. “फिरङ्गस्त्रिविधो ज्ञेयो बाह्याभ्यन्तरस्तथा। बहिरन्तर्भवशापि तेषां लिङ्गानि च ब्रुवे ॥
तत्र बाह्यः फिरङ्ग स्याद्विस्फोटसदूरोऽल्परुक्। सुटिंदो ब्रणवद्देजः सुखसाध्योऽपि स स्मृतः ॥
सन्धिव्याभ्यन्तरः स स्यादामवात इव व्यथाम्। शोथश्च जनयेदेष कष्टसाध्यो ब्रुधैः स्मृतः ॥”
(भा.प्र. मध्यखण्ड 59/4-6)

- (xi) मुख, नासा, ओष्ठ व गुद्ध स्थान पर ब्रण उत्पत्ति
- (xii) स्त्रियों में बार-बार गर्भपात होना
- (xiii) अरति (Malaise)
- (xiv) लसिका ग्रथि शोथ (Lymph Node Enlargement)

सापेक्ष निदान

फिरंग (Hard Chancre) रोग का सापेक्ष निदान उपदंशज ब्रण (Soft Chancre) से किया जाता है। इन दोनों के विभेदक लक्षण तालिका रूप में पूर्व में वर्णित 'उपदंश' रोग के वर्णन में बतलाए जा चुके हैं।

कभी-कभी फिरंग के साथ उपदंश का या उपदंश के साथ-साथ फिरंग का संक्रमण भी मिल सकता है। इसलिये ब्रण में दोनों के मिश्रित लक्षण मिलते हैं।

प्रयोगशालीय परीक्षण

- (i) प्राथमिक ब्रण के 2-3 सप्ताह के पश्चात् वाशरमैन प्रतिक्रिया (Wasserman Reaction) के द्वारा रोग निदान किया जाता है। इसका आजकल प्रयोग सीमित हो गया है।
- (ii) सूक्ष्मदर्शीय परीक्षा (Microscopic Study)-इसमें ब्रणस्नाव में उपस्थित Spirochetes का Dark Field Demonstration किया जाता है।
- (iii) ऊतक परीक्षा (Biopsy) में Cerebrospinal Fluid का परीक्षण किया जाता है।
- (iv) Serological test for Syphilis (S.T.S.)-इसमें रक्त एवं सुषुमा द्रव (Spinal Fluid) का परीक्षण करते हैं।
- (v) Veneral Disease Research Laboratory (V.D.R.L.) Test.
- (vi) Microhaeagglutination assay for antibody to T. pallidum immobilization (MAA-TP) Test.
- (vii) Fluorescent treponemal antibody absorbed test (FTA-Abs)
- (viii) Rapid Plasma Reagin test (RPR)

साध्यासाध्यता¹

- (i) बाह्य प्रकार का नवीन तथा उपद्रव रहित फिरंग साध्य है।
- (ii) आध्यन्तर प्रकार का फिरंग कष्ट साध्य होता है।
- (iii) बाह्य व आध्यन्तर दोनों प्रकार (उभय फिश्रित), पुराना, दुर्बलक्षीण रोगी होने पर उपद्रवों से युक्त सर्व शरीर गत फिरंग रोग असाध्य होता है।

1. "वहिर्भवो भवेत्साध्यो नवीनो निरुपद्रवः। आध्यन्तरस्तु कष्टेन साध्यः स्याद् यमापयः॥ वहिर्भवो जीर्णः क्षीणस्योपद्रवैर्युतः। व्यासो व्याधिरसाध्योऽयमित्याहुर्मुनयः पुरा॥"
(भा.प्र.मध्य खण्ड 59/8-9)

उपद्रव—आचार्य भाव मिश्र ने फिरंग रोग के निम्न उपद्रव वर्णित किए हैं—

- (i) कृशता (Lean and thin body)
 - (ii) बलक्षय (Loss of Immunity / Strength)
 - (iii) नासाभङ्ग (Saddle Nose)
 - (iv) अग्निमांद्य (Dyspepsia)
 - (v) अस्थिशोष (Depleted Bone Marrow)
 - (vi) अस्थि वक्रता (Rickets)
- अन्य उपद्रवों में पक्षाघात, उन्माद, मूच्छा, फुफ्फुस-यकृत-प्लीहा संकोच भी पाए जाते हैं।

सहज फिरंग रोग में मूकता (Deafness) व दन्तवक्रता (Hutchinsons teeth) भी पाया जाता है।

चिकित्सा सूत्र

- (i) बलवान रोगी में संशोधन कराना लाभप्रद रहता है।
- (ii) रक्तमोक्षण एवं जलौकावचारण से भी लाभ होता है।
- (iii) रक्तशोधक द्रव्योषधियों का प्रयोग कराना चाहिये।
- (iv) ब्रण का स्थानिक उपचार यथा-प्रक्षालन, लेपन, रोधन, रोपण एवं धूपन करावें।

चिकित्सा

I शोधन चिकित्सा

फिरंग रोग (Syphilis) की चिकित्सा हेतु रोगी का संशोधन (रोगी की प्रकृति के अनुसार) करवाया जाना उचित रहता है। यथा—

- रक्तमोक्षण व जलौकावचारण
- ब्रण शोधन— स्फटिका चूर्ण या त्रिफला क्वाथ या भृङ्गराज स्वंरस या निम्ब पत्र क्वाथ से

ब्रण प्रक्षालन कर ब्रण पर शोधन-रोपण लेप लगावें।

- | | |
|------|-------------------------|
| यथा— | त्रिफला मसी |
| | ब्रणघ्न मलहर (यो.र.) |
| | पारदादि लेप वटी (यो.र.) |

1. "काश्य बलक्षयो नासाभङ्गो वहेश्य मन्दता। अस्थिशोषोऽस्थिवक्रत्वं फिरङ्गोपद्रवा अमी॥"
(भा.प्र. मध्य खण्ड 59/7)

II शमन चिकित्सा

फिरंग रोग के शमनार्थ निम्न औषधियों का युक्तिपूर्वक प्रयोग लाभदायक रहता है—	
1. रस/भस्म	
मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, जल
(i) रसमाणिक्य	: शुद्ध हरताल आदि।
(ii) रसकर्पूर (विशेष विधि से)	: पारद, स्फटिका, सैंधव, कासीस आदि।
(iii) व्याधि हरण रस	: कजली, मल्ल, हरताल आदि।
(iv) मल्ल सिन्दूर	: पारद, गंधक, मल्ल आदि।
2. वटी	
मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, ताम्बूल स्वरस
(i) आरोग्यवर्धिनी वटी	: कजली, ताप्र, लौह, कुटकी आदि।
(ii) सप्तशालि वटी	: पारद, खदिर, अकरकरा।
(iii) मल्लादि वटी	: सोमल, खदिर आदि।
3. चूर्ण	
मात्रा	: 2-6 ग्राम
अनुपान	: जल, मधु
(i) चोपचीनी चूर्ण (यो.र.)	: चोपचीनी, अकरकरा, विडंग आदि।
(ii) निम्बादि चूर्ण (भा.प्र.)	: निम्ब, हरड़, आमलकी आदि।
(iii) पंचनिम्ब चूर्ण	: निम्ब पञ्चाङ्ग, लौह, हरड़ आदि।
4. क्वाथ	
मात्रा	: 20-40 मि.लि.
अनुपान	: त्रिफला चूर्ण
(i) पटोलादि क्वाथ	: पटोल, निम्ब, गुडुची आदि।
(ii) लघु मंजिष्ठादि क्वाथ (शा.स.)	: मंजिष्ठा, कुटकी आदि।
(iii) बृहद् मंजिष्ठादि क्वाथ	: मंजिष्ठा, कुटज, निम्ब आदि।
5. आसव/अरिष्ट	
मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: समभाग जल (भोजनोत्तर)
(i) खदिरारिष्ट	: खदिर, देवदारु, बाकुची आदि।
(ii) सारिवाद्यासव	: सारिवा, नागरमोथा, लोध्र आदि।
(iii) देवदाराद्यारिष्ट	: देवदारु, वासा, मंजिष्ठा आदि।

6. थूपन द्रव्य

पारद, गंधक व चावल की गोलियाँ बनाकर इसका थूपन करने से लाभ होता है। (भा.प्र.)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिचर्जनय
2. मंशोधन व रक्तमोक्षण (यथावश्यक)
3. शोधन व गोपण (स्थानिक व्रण देतु)
4. प्रातः मायम्

रस कर्पूर	: 250 मि.ग्रा.
रसमाणिक्य	: 120 मि.ग्रा.
अमृता सत्य	: 500 मि.ग्रा.
प्रवाल पिण्डी	: <u>250 मि.ग्रा.</u>
मधु या ताम्बूल स्वरस से	1/2 मात्रा

5. भोजनोत्तर
- सारिवाद्यासव : 20 मि.ली.
- खदिरारिष्ट : 20 मि.ली.
- समभाग जल से 1/2 मात्रा
6. आरोग्यवर्धिनी वटी : 2 वटी × तीन मात्रा जल से
7. रात्रि में विवन्ध रहने पर त्रिफला चूर्ण : 3 ग्राम जल से एक मात्रा

पद्धायपथ्य

फिरंग (Syphilis) रोगी को निम्न पद्धायपथ्य का सेवन करना लाभप्रद रहता है।-

पथ्य

विहार	
आहार	
पटोल, कारबेल्क,	ब्रह्मचर्य पालन
दाढ़िय, शिष्य, हरिद्रा,	व्रण बन्धन / प्रक्षालन आदि।
आमलकी, मधु	
शालि चावल, गेहूँ, दुग्ध, मूंग आदि।	

1. “पद्धायपथ्य कुष्ठ व उपदंस रोग अनुसार प्रयुक्त करें।”

अपथ्य

आहार

अम्ल-लवण रस, विदाही अन्न,
अभिष्वन्दी भोजन, विबन्ध कारक
अन्न, तक्र-गुड़ आदि।

विहार

मैथुन, आतप सेवन, परिश्रम,
वेगधारण, भ्रम-क्रोध, दिवाशयन
आदि।

Latest Developments

Syphilis

फिरंग रोग का वर्णन आयुर्वेदीय साहित्य में आधुनिक काल के ग्रन्थों में 16वीं सदी
पश्चात् ही प्राप्त होता है। आधुनिक मतानुसार—

Syphilis is an infectious, chronic, venereal disease marked by lesions that may involve any organ or tissue. Cutaneous manifestations usually occur, relapses are frequent, and the disease may exist without symptoms for years.

Classification of Syphilis— Two types

a. Acquired syphilis

b. Congenital syphilis

a. Acquired Syphilis— Two types

i. Early syphilis— Primary syphilis, secondary syphilis, early latent syphilis

ii. Late Syphilis— Late latent syphilis, Benign tertiary syphilis, cardiovascular syphilis, Neuro syphilis

Management : Principles

i. Preventive methods

ii. Supportive counceling

iii. Avoid sexual contacts

iv. Drug of choice— Antibiotics (Penicillin, Oxytetracyclines, Doxycyclines are also useful).

••• शुद्धि •••

अध्याय-41

पूयमेह

(GONORRHOEA)

व्याधि परिचय

पूयमेह का वर्णन वृहत्र्यी व लघुत्र्यी के ग्रन्थों में नहीं मिलता है। ऐषज्य रत्नावली में इसे 'औपसर्गिक मेह' के नाम से वर्णित किया गया है। लोक भाषा में इस रोग को 'सूजाक' रोग के नाम से जाना जाता है। यह रोग मैथुन जन्य व मूत्र मार्ग का तीव्र औपसर्गिक रोग है जिसमें मूत्रभाग में शोथ होकर पूय का निष्कासन होता है। तत्पश्चात् मूत्र प्रजनन संस्थान (Urogenital System) के तथा शरीर के अन्य संस्थानों के विभिन्न भागों में शोथ उत्पन्न होता है। स्त्रियों में भी योनि तथा मूत्रमार्ग में शोथ उत्पन्न होकर लसीका स्राव उत्पन्न होता है। इस रोग का मुख्य कारण 'Gonococcus' नामक जीवाणु मान गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में पूयमेह रोग के लिये 'Gonorrhoea' नामक शब्द का प्रयोग किया जाता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

(i) ऐषज्य रत्नावली-अध्याय 89

निरूक्ति/व्युत्पत्ति

- i. "उपसर्गात् जातः औपसर्गिकः"- अर्थात् पूयमेह रोग से पीड़ित स्त्री के साथ मैथुन करने से पुरुष को तथा पूयमेह ग्रस्त पुरुष के साथ मैथुन करने से स्त्री को इस रोग का उपसर्ग (संक्रमण) हो जाता है। अतः इसे 'औपसर्गिक मेह' कहा जाता है।
- ii. "पूयं मेहयतीत्यतः पूयमेहः" अर्थात् मूत्रमार्ग द्वारा 'पूयस्राव' होने से इसे "पूयमेह" कहते हैं।
- iii. "ब्रणवत् तस्य लक्षणोपचारौ भवत इति ब्रणमेहः" अर्थात् इसका लक्षण व उपचार ब्रणवत् किया जाता है। इसलिये इसे "ब्रणमेह" भी कहते हैं।
- iv. "वाह्यैः कारणविशेषैः प्राप्नोतीत्यागन्तुकः" अर्थात् यह संक्रमित जीवाणु

आदि बाहरी कारणों से उत्पन्न होता है इसलिये इसे "आगन्तुक मेह" भी कहा जाता है।

परिभाषा

जिस चैन संक्रमित रोग में मूत्रमार्ग व प्रजनन मार्ग से स्त्री व पुरुषों दोनों में पूयम्बाव होता है उसे 'पूयमेह' रोग कहा जाता है।

Gonorrhoea is an infectious disease caused by the Gonococcus neisseria gonorrhoeas. In the male the disease is most often an anterior Urethritis, whereas in a female it is a Cervicitis. In Both sexes it may give rise to complications.

पर्याय

पूयमेह रोग निम्न अन्य पर्यायों से भी जाना जाता है¹—

- | | |
|----------------------------|-------------|
| i. औपसर्गिक मेह | ii. व्रणमेह |
| iii. आगन्तुक मेह | iv. सूजाक |
| v. भृशोष्णवात | vi. उष्णवात |
| vii. गोनोरिया (Gonorrhoea) | |

निदान

पूयमेह (Gonorrhoea) रोग का मुख्य कारण 'Genococcus neisseria gonorrhoeas' नामक जीवाणु होता है।

It is a gram-negative intracellular diplococcus that tends to occur in pairs. This bacteria may be found in or on the genitals and in blood, joints, heart, eyes, urine, faeces and boils.

यह जीवाणु निम्न कारणों से आतुर के शरीर में प्रविष्ट होता है²—

- i. स्त्री की योनि का अनेक रोगों से किलन व कण्डु युक्त होना।
- ii. रजस्वला स्त्री का अनेक पुरुषों से संभोग करना।
- iii. पूयमेह ग्रस्त पुरुष द्वारा स्त्री के साथ मैथुन करने से स्त्री भी पूयमेह रोग से ग्रस्त हो जाती है।
- iv. संभोग क्रिया मैर्शिशन आवरक (Condom) प्रयोग नहीं करना।

1. "औपसर्गिकमेहाञ्छो गदो यः स भिषम्बरैः । पूयमेहो व्रणमेह आगन्तुमेह उच्चते ॥" (पै. ८९/१)
2. "रजस्वलायां बहुभुक्तव्यां तथाऽऽद्रयोनीमदनादरो यः । प्रदातु मोहाद् यदि कोऽपि तर्हि ध्रुवं गदं दारणमेतमेतु ॥" (पै. ८९/२)

अतः आयुर्वेद मतानुसार जीवाणुजन्य कारण 'आगन्तुक कारण' होता है। इसके संक्रमण के सात दिन पश्चात दोष प्रकोप होकर रोग 'निज स्वरूप' का हो जाता है।

सम्प्राप्ति व संक्रमण

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में इस रोग की सम्प्राप्ति का स्पष्टः वर्णन प्राप्त नहीं होता है। आधुनिक मतानुसार इस रोग की संक्रमणजन्य सम्प्राप्ति निम्नानुसार है—

- i. संक्रमण—पूयमेह ग्रस्त रोगी के साथ संभोग करने से, पूयमेही बालक के साथ गुदमैथुन (अप्राकृतिक मैथुन) व पूयमेही के साथ उठने-बैठने-शयन करने से इस रोग का संक्रमण होता है।
- ii. संचय काल—पूयमेही के साथ सम्पर्क के पश्चात् जब पूयमेह नामक रोग की प्रथम लक्षणोत्पत्ति होती है तो इस काल मर्यादा को पूयमेह का संचय काल (Incubation Period) कहा जाता है जो सात दिन का होता है।
- iii. सम्प्राप्ति

पूर्व वर्णित निदान सेवन



जीवाणु का मूत्रमार्ग में प्रवेश



मूत्र मार्ग गत श्लेष्मल कला (Epithelium) शोथ



मूत्रमार्ग गत Submucous कला शोथ



व्रणोत्पत्ति



तत्पश्चात् वृषण, अधिवृषण, वस्ति, शुक्राशय, अष्टोला, गवीनी, योनि, गर्भाशय, बीजवाहिनी व उदरावरण कला में भी शोथोत्पत्ति



पाकोपज्ञत व्रणोत्पत्ति



मूत्रमार्गगत पूयम्बाव



पूयमेह रोग

सम्प्राप्ति घटक

दोष—पित्त प्रधान त्रिदोष

दूष्य—रक्त

स्रोतस—मूत्रवह स्रोतस्

अधिष्ठान—लिङ्ग, वृषण, वस्ति आदि

लक्षण

पूयमेह रोग में निन लक्षण व चिन्ह पाए जाते हैं—

- (i) मूत्रमार्गत लालिमा व शोथ (Redness and Inflammation of Urethra)
- (ii) मूत्र त्याग में बेदना (Micturition) व दाह (Burning Micturition)
- (iii) लिङ्ग के अग्र भाग में कण्डु (Itching)
- (iv) बार-बार लिङ्गोत्थान (Frequent erection of Penis)
- (v) लिङ्ग के आकार में वृद्धि (Increased size of penis)
- (vi) मुष्क (अण्ड) प्रदेश में बेदना (Pain in scrotum)
- (vii) मूत्रमार्ग गत पूयस्त्राव (Pyuria)
- (viii) पुनःपुनः मूत्रवेग आना (↑Frequency of Micturition)
- (ix) मूत्रमार्ग गत रक्तस्त्राव (Haematuria)
- (x) कभी-कभी पूयशुक्ता से मूत्रमार्गवरोध (Retention of Urine)
- (xi) कदाचित शिश्नोत्थान होकर वीर्यस्खलन (Seminal Discharge)
- (xii) स्त्रियों में योनिगत स्त्राव (Vaginal discharge)
- (xiii) अधोजठर शूल (Pain in Lower abdomen)
- (xiv) नवजात शिशु में औपसर्गिक नेत्राभिष्टन्द (Ophthalmia neonatorum)
- (xv) श्रोणिगत शोथ (Acute Pelvic Inflammatory Diseases-PID)

प्रयोग शालीय परीक्षण

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में पूयमेह रोग के निदान (Diagnosis) हेतु निन प्रयोग शालीय परीक्षण व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं—

1. Smear stained by Grams stain of the urethral discharge is almost 100% accurate in diagnosing in Gonorrhoea in men. In women, the material should be obtained from multiple sites including the cervix, vaginal vault and urethra.

1. “प्रायः स्त्री सङ्कटिष्ठते । लक्ष्य चेति ॥”
(धे.र. 89/4-8)

2. Culture of the organism-Enriched media is used like 'Chocolate agar'.
3. Gonococcal complement fixation test usually used for complicated cases.
4. Fluorescent antibody test.
5. Evaluate the patient for the presence of other co-existing sexually transmitted disease including Syphilis and Chlamydia.

उपद्रव

मूत्रमार्ग में प्रविष्ट हुए जीवाणु शरीर में पूयमेह उत्पन्न कर कुछ समय में ही रोग को कृच्छ्रसाध्य बना देते हैं। रोग के पुराने होने पर निम्न उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं—

- i. आमवात
- ii. औपसर्गिक नेत्राभिष्टन्द

आधुनिक भतानुसार पूयमेह रोग में निम्न उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं—

- (I) पुरुषों में
 - (i) मूत्रमार्ग सन्त्रिरोध (Urethral Stricture)
 - (ii) आष्टोला शोथ (Prostatitis)
 - (iii) वृषण शोथ (Orchitis)
 - (iv) वस्ति शोथ (Cystitis)
 - (v) गवीनी शोथ (Epididymitis)
 - (vi) शुक्राशय शोथ (Vesiculitis)
 - (vii) अन्तः हृदय शोथ (Endocarditis)
 - (viii) आमवात (Arthritis)
- (II) स्त्रियों में
 - (i) मूत्रमार्ग शोथ (Urethritis)
 - (ii) गर्भाशयग्रीवा शोथ (Cervicitis)
 - (iii) योनि शोथ (Vaginitis)
 - (iv) गर्भाशय शोथ (Endometritis)
 - (v) बीज वाहिनी व बीज ग्रन्थि शोथ (Salpingo-oopheritis)
 - (vi) उदरावरण कला शोथ (Peritonitis)
 - (vii) बन्ध्यता (Sterility)

1. “व्रणमेहे विनिर्दिष्टा आमनेत्रयादिकाः । उपद्रवा विशेषेण नाशनीया भिषग्वर्दः ॥”
(धे.र. 89/10)

Metastatic Complications (In Both Males & Females)

चिकित्सा सूत्र

आचार्य गोविन्द दास ने भैषज्य-रत्नावली नामक ग्रन्थ में 'पूयमेह' रोग के निष्क्रियता सिद्धान्त वर्णित किए हैं—

- i. निदान परिवर्जनम्
 - ii. मैथुन का त्याग
 - iii. वेश्या गमन निषेध
 - iv. शोथनाशक-त्रणनाशक-वातानुलोमक-मूत्रल-रक्तशोधक औषध व अन्नपान सेवन
 - v. उग्र उपाय निषेध
 - vi. शिश्न प्रक्षालन (Urethral Wash)
 - vii. उत्तर बस्ति प्रयोग (Administration of drugs by Urethral routes)
 - viii. सुखशस्या प्रयोग (Bed Rest)
 - ix. कामोत्तेजक विषय दर्शन, त्रवण, पाठन, चिन्तन का पूर्ण परित्याग (Avoidance of Sexual Stimulants)
 - x. एकान्तवास (Isolation Ward)

चिकित्सा

पूयमेह के रोगी में निम्न शोधन चिकित्सा लाभकारी रहती है—

I. शोधन चिकित्सा

- (i) वातानुलोमन

 - एरण्ड तैल 20-30 मि.ली. दुग्ध से अथवा
 - पंचसकार चूर्ण 3-5 ग्राम उष्णोदक से

(ii) मूवलयोग

 - तृण पंचमूल क्वाथ
 - श्वेत पर्पटी
 - यवक्षार
 - गोक्षरादि गग्मल प्रयोग

1. "प्रथमं पैथुनं त्याज्यमौपसर्गिकमेहिभिः । यतस्ततु प्रधानं हि निमित्तं रोगसम्बवे ॥
अतः सुखार्थिर्जातु न कार्यां पांशुला रतिः । श्वयशुचं व्रणदं वा तथा वातानुलोमनम् ।
मूत्रं चात्रपानं यद् धेषजं सेव्यमेव तत् । न कदाचित् क्रियाद्युम्नां विदध्यादत् कांचनं ।"

(भै.र. 89/11-13)

पर्यामेह

(iii) उत्तर वस्ति प्रयोग

- i) त्रिफला, बवूल, पिप्पली, क्वाथ 5-10 मि.ली.
 ii) त्रिफला, दधि, तुत्य, हिंगुल, मद्हारश्रद्धं क्वाथ 5-10 मि.ली.

(iv) शिश्न/योनि प्रक्षालन

- i) निम्बपत्र क्वाथ
 - ii) फिटकरी जल
 - iii) पंचवल्कल क्वाथ से

II. शमन चिकित्सा

पूयमेह के रोगी में रोग शमनार्थ निम्न शमन योगों का प्रयोग युक्तिपूर्वक किया जाना लाभकारी रहता है—

1. रस/भस्म/पर्पटी

- | | |
|-----------------------|------------------------------------|
| मात्रा | : 125-250 मि.ग्रा. |
| अनुपान | : बवूल क्वाथ, मुध |
| (i) प्रवाल पिण्ठी | : शुद्ध प्रवाल |
| (ii) त्रिवङ्ग भस्म | : नाग, वङ्ग, यशद आदि |
| (iii) स्वर्णवङ्ग भस्म | : कजली, कलमी शोरा, सेंधव आदि |
| (iv) पूर्णचन्द्र रस | : कजली, स्वर्ण, अभ्रक आदि |
| (v) खेत पर्पटी | : स्फटिका, नरसार, सूर्यक्षार आदि |
| (vi) कन्दर्प रस | : कजली, स्वर्ण, प्रवाल आदि |
| (vii) रस कर्पूर | : पारद, स्फटिका, सेंधव आदि |
| (viii) रस माणिक्य | : शुद्ध हरताल |
| (ix) गंधक रसायन | : शुद्ध गन्धक, चतुर्जात, गुडची आदि |

2. वटी/गुग्गुल्

- | | |
|---------------------------|---------------------------------------|
| मात्रा | : 250-500 मि.ग्रा. |
| अनुपान | : त्रिफला क्वाथ, उष्ण जल |
| (i) चन्द्रप्रभा वटी | : विंडंग, व्योष, त्रिफला, शिलाजतु आदि |
| (ii) आरोग्यवर्धनी वटी | : कजली, लौह, अध्रक, कुटकी आदि |
| (iii) गोक्षुरादि गुग्गुलु | : त्रिफला, त्रिकटु मुस्तक आदि |
| (iv) शिलाजत्वादि वटी | : शिलाजीत, पाषाणभेद, त्रिफला आदि |
| (v) महाभ्रवटिका | : अध्रक, गंधक, पारद आदि |
| (vi) पूयमेहहस्तिका | : हिंगुल, कुन्दुरु, गुग्गुलु आदि |

१. “कणावरा.....”संशयः॥

(पै.र. 89/19-21)

3.	चूर्ण	
	मात्रा	: 2-6 ग्राम
	अनुपान	: उष्ण जल, लस्सी
(i)	स्फटिकादि चूर्ण	: फिटकरी, कलमी शोरा, नागकेशर आदि
(ii)	पूयमेहारि चूर्ण (उष्णवात्घ चूर्ण)	: फिटकरी, जीरा, राल आदि
(iii)	पुनर्नवा चूर्ण	: पुनर्नवा, हरीतकी, पाठा आदि
4.	क्वाथ	
	मात्रा	: 20-30 मि.ली.
	अनुपान	: जल, शर्करा, क्षीर
(i)	तृणपंचमूल क्वाथ	: कुश, काश, नल आदि
(ii)	मंजिष्ठादि क्वाथ	: मंजिष्ठा, शालमली, मूर्वा आदि
(iii)	सारिवायुगलादि क्वाथ (भै.र.):	सारिवा, कृष्ण सारिवा, कुटकी, गोक्षुर आदि
(iv)	नरसारक्षार आदि (भै.र.)	: अनन्तमूल, नवसादर, यवक्षार आदि
(v)	बबूल निर्यास (भै.र.)	: बबूलत्वक्, यवक्षार आदि
5.	आसव/अरिष्ट	
	मात्रा	: 20-40 मि.ली.
	अनुपान	: समभाग जल
(i)	चन्दनासव	: चन्दन, मंजिष्ठा, रासा आदि
(ii)	विडंगारिष्ट	: विडंग, पिप्पलीमूल, रासा आदि
आदर्श चिकित्सा पत्र		
1.	निदान परिवर्जनम्	
2.	प्रातः सायम्	
	स्वर्णवङ्ग भस्म	: 65 मि.ग्रा.
	श्वेत पर्पटी	: 250 मि.ग्रा.
	गंधक रसायन	: 500 मि.ग्रा.
	प्रवाल पिण्ठी	: 250 मि.ग्रा.
	मधु से	1x2 मात्रा
3.	चन्द्रप्रभा वटी	: 2 वटी × तीन मात्रा
	आरोग्यवर्धनी वटी	: 2 वटी × तीन मात्रा
	उष्ण जल से	
4.	स्फटिकादि चूर्ण	: 3 ग्राम
	लस्सी से	1x2 मात्रा

5. भोजनोत्तर

चन्दनासव : 20 मि.ली.
समभाग जल से 1x2 मात्रा

6. पथ्यापथ्य आहार-विहार निर्देशानुसार

पथ्यापथ्य

पूयमेह रोगी में पूर्व वर्णित उपदंश-फिरंग रोगानुसार ही युक्तिपूर्वक पथ्यापथ्य का पालन किया जाना लाभप्रद रहता है-

पथ्य

आहार

नारिकेल जल, निम्बू शर्वत, दूध की लस्सी, शाली चावल, मूँगदाल, जौ, मधु शीतल चीनी, मिश्री, पेटा आदि।

अपथ्य

आहार

उष्ण, विदाही, अम्ल आहार, सिरका, कांजी, इमली, अचार, मत्स्य (मछली) मद्य, चाय-कॉफी आदि।

विहार

ब्रह्मर्च्य पालन, शारीरिक शुद्धि आदि।

Latest Developments
Gonorrhoea

आधुनिक मतानुसार पूयमेह (Gonorrhoea) 'Gonococcus Neisseria gonorrhoeae' नामक जीवाणु द्वारा उत्पन्न होने वाला विशिष्ट, मैथुनजन्य यौन संक्रमित रोग है। इस रोग में स्त्री व पुरुष के मूत्रप्रजनन संस्थानगत समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों में शोथ उत्पन्न होता है। इसकी चिकित्सा निम्नानुसार है-

I. Prophylactic Treatment

- (i) Use of condom during sexual activities.
- (ii) Avoidance of contact with infected persons.
- (iii) Following contact, penicillin should be administered.
- (iv) All newborn infants should receive one drop of 1% silver nitrate in the conjunctival sac of each eye to prevent ophthalmia neonatorum.

II. Curative Treatment

Antibiotics (Penicillin) is the drug of choice.

अध्याय-42

अर्जित व्याधिक्षमत्व क्षयजन्य रोग समूह

अथवा

ओजक्षय

(ACQUIRED IMMUNO DEFICIENCY
SYNDROME-AIDS)

व्याधि परिचय

ओजक्षय (AIDS) आधुनिक युग की महाव्याधि है। यह बाहरी आगन्तुक कारण (विषाणु) से उत्पन्न, रोग प्रतिरोधक क्षमता (Immunity) का क्षय होने पर उत्पन्न होने वाला रोग समूह (Syndrome) है। इस व्याधि के प्रसार का सर्वाधिक सक्षम कारण मैथुन सम्बन्धी दुराचरण ही है। इस व्याधि में शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता नष्ट हो जाती है और रोगी की उन रोगों से भी मृत्यु हो सकती है जो सामान्यतः स्वतः या आसानी से ठीक हो जाने वाले रोग होते हैं।

यह रोग लगभग समस्त विश्व में फैल चुका है। इसका इतिहास 25 वर्षों का ही है। सन् 1981 में सर्वप्रथम संयुक्त राज्य अमेरिका (U.S.A.) में यह रोग पहचाना गया एवं 1983 में इसके हेतु HIV (Human Immunodeficiency Virus) को फ्रांस के वैज्ञानिकों ने खोज निकाला। वैज्ञानिकों का मानना है कि इस रोग का अस्तित्व बहुत पहले से था परन्तु एक घातक रोग के रूप में इसका पता नहीं लग पाया था। यह रोग सबसे पहले मध्य अफ्रीका में प्रारम्भ हुआ व युगांडा, तंजानिया सहित अफ्रीका के अन्य देशों में तेजी से फैल रहा है। अफ्रीका से यह रोग यूरोप और अमेरिका सहित विश्व के अनेक देशों में फैल चुका है। विषाणु (Virus) जन्य इस रोग का वाहक मध्य अफ्रीका में पाया जाने वाला एक विशेष जाति का बन्दर 'ग्रीन मंकी' है। यहाँ लगभग 70% बन्दरों के खून में एड्स के विषाणु पाये जाते हैं, परन्तु वे स्वस्थ रहते हैं। मध्य अफ्रीका के लोग इन बन्दरों को पालते हैं। असावधानी के कारण बन्दर के काटने से अथवा रोगग्रस्त बन्दर का मांस खाने से मनुष्यों में एड्स नामक रोग होने की संभावना रहती है।

जून 1995 में विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.) ने अनुमान लगाया था कि विश्वभर में लगभग 2 करोड़ 40 लाख से अधिक वयस्क लोग H.I.V. ग्रस्त (एच.आइ.वी.

पोजिटिव) हैं। प्रत्येक दिन लगभग 8 हजार से अधिक लोगों को एच.आइ.वी./एड्स का संक्रमण हो रहा है। लगभग हर 15 सेकेंड में एक व्यक्ति एड्स का शिकार हो जाता है।

भारतवर्ष में एड्स के रोगी की सबसे पहले पहचान सन् 1986 में हुई। सन् 1995 तक 19 लाख लोग एच.आइ.वी./एड्स पीड़ित थे। भारतवर्ष में जिन राज्यों में एड्स आतुर सबसे अधिक संख्या में पाए गए वे राज्य हैं— महाराष्ट्र, तमिलनाडु और मणिपुर। एड्स के मरीज व एच.आइ.वी. पोजिटिव व्यक्ति में यही अन्तर है कि इस बीमारी की पहली अवस्था को एच.आय.वी. पोजिटिव व आखिरी अवस्था को एड्स कहते हैं। एच.आय.वी. पोजिटिव व्यक्ति एड्स के मरीज के मुकाबले अधिक खतरनाक स्थिति में होता है, क्योंकि ऊपरी तौर पर उसके शरीर में कोई लक्षण दिखाई नहीं देते, लेकिन भीतर ही भीतर उसमें एच.आय.वी. का विषाणु फैल रहा होता है। एड्स के समस्त आतुर शुरुआती तौर पर एच.आय.वी. पोजिटिव होते हैं।

आयुर्वेदीय चिकित्सा विज्ञान में सर्वधातुओं के सार 'ओज' की कल्पना अत्यन्त मौलिक व वैज्ञानिक है। 'ओज' ही 'बल' व 'रलेप्सा' है। यह ओज व्याधिक्षमत्व (Immunity) का आधार कहा गया है। ओज ही शरीर में धातुसाम्य (Homeostasis) तथा आरोग्य बनाए रखने के लिये उत्तरदायी है। अनागत व्याधि का प्रतिरोध (Prophylaxis) तथा आगत व्याधि के बल का विरोध (Curative Effects) ही व्याधि क्षमत्व है। अतः विश्व व्यापी संक्रामक रोग एड्स (AIDS) भी एक विशेष प्रकार का ओजःक्षय ही है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, सूत्र स्थान-अध्याय 17, 18
2. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 1, 2
3. सुशृत संहिता, सूत्र स्थान-अध्याय 15
4. डेविडसन प्रिन्सिपल एन्ड प्रेक्टिस ऑफ मेडिसिन 18th एडिशन

परिभाषा

विषाणु जनित वह संक्रमित रोग समूह (Syndrome) जिसमें शरीर की अर्जित व्याधिक्षमता (Acquired Immunity) या ओज का हास हो जाता है उसे ओज क्षय कहते हैं। आधुनिक मतानुसार ओजक्षय को AIDS के समक्ष व्याधि माना जा सकता है।

आधुनिक मतानुसार

AIDS (Acquired Immunodeficiency Syndrome) is the combination of specific clinical conditions and CD4+ T Lymphocytes counts designated by the centres for disease control & prevention (C.D.C.) as the final stage of infection by the human immunodeficiency virus (HIV).

Approximately 70% of HIV infected individuals develop AIDS within 10 years. Although there is no evidence that persons infected with AIDS have been cured, some of those infected, have survived for a number of years and many of those survivors are asymptomatic.

निदान (हेतु)

'HIV' विषाणु शरीर में निम्न कारणों से फैल सकता है—

- i. संक्रमित व्यक्ति के साथ संभोग करना— HIV विषाणु का संचरण पुरुष से पुरुष (समलैंगिकता), स्त्री से स्त्री (समलैंगिकता), पुरुष से स्त्री व स्त्री से पुरुष में होता है। उस स्थिति में विषाणु का संचरण और आसानी से होता है जब दो में से एक यौन साथी किसी अन्य यौन संचरित रोग (e.g. Syphilis, Gonorrhoea, Herpes, Chancroid, Moniliasis, Trichomoniasis etc.) से युक्त हो।
- ii. एक से अधिक साथियों से यौन सम्बन्ध रखने, वेश्यागमन, गुदमैथुन, मुखमैथुन आदि से।
- iii. किसी ऐसे व्यक्ति से रक्ताधान (Corpuscles, Platelets, Plasma or Serum) जिसे एच.आय.वी. पोजिटिव/एड्स हो। हीमोफिलिया ग्रस्त रोगी जिसे बार-बार रक्ताधान की आवश्यकता होती है, में एड्स होने की सम्भावना अपेक्षाकृत अधिक होती है।
- iv. एच.आय.वी. पोजिटिव/एड्स वाले व्यक्ति के द्वारा इस्तेमाल की गई सुई (Needle), सिरिंज, यन्त्र व शस्त्र को बिना उबाले (Unsterilized) स्वस्थ व्यक्ति में प्रयुक्त करना।
- v. एच.आय.वी. पोजिटिव/एड्स संक्रमित गर्भवती महिला से उसके होने वाले नवजात को पैदा होने के पहले, दौरान या इसके तुरन्त बाद एड्स होने का खतरा रहता है।
- vi. कृत्रिम गर्भाधान में प्रयुक्त वीर्य यदि एच.आय.वी. पोजिटिव व्यक्ति का हो तो संक्रमण का खतरा रहता है।
- vii. विकृति विज्ञानीय प्रयोगशाला (Pathological Laboratory) में कार्य करने वाले व्यक्ति जो कि विभिन्न Specimen (e.g. Blood, Seminal Fluid, Vaginal Fluid etc.) को वहन करते हैं, को एच.आय.वी. संक्रमण होने की सम्भावना अधिक रहती है।

विशेष

एड्स रोगी के साथ हाथ मिलाने से, साथ में बैठने से, श्वास मार्ग द्वारा अथवा चुम्बन द्वारा यह रोग नहीं फैलता है। मच्छ्रों एवं खटम्लों के कल्पे से भी यह रोग नहीं फैलता है।

इस रोग 15 से 50 वर्ष की आयु के लोगों में अधिक होने की संभावना रहती है। इसे ही ज्यादा जोखिम समूह (High Risk Group) कहते हैं। एड्स विषाणु एच.आय.वी. पोजिटिव व्यक्ति के रक्त, प्लाज्मा, सीरम, अस्थि मज्जा (Bone Marrow), लार (Saliva), Seminal Fluid, Cervical Smear, Vaginal Fluid, Breast Milk, यकृत, प्लीहा आदि में भी उपस्थित रहता है। नाई के उस्तरे द्वारा, नाक-कान छिद्रवाने के दौरान, शरीर पर गुदना गुदाने (Tattooing) में प्रयुक्त संक्रमित सुई के द्वारा भी यह रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में फैल सकता है।

सम्प्राप्ति (Pathogenesis)

पूर्व वर्णित हेतुओं के सेवन से HIV विषाणु मानव कोशिकाओं में प्रवेश कर स्वयं के RNA (Ribonucleic Acid) जीनोम को रिवर्स ट्रान्सक्रिटेज एन्जाइम की सहायता से DNA (Deoxyribonucleic Acid) में बदल देता है। यह DNA गोलाकार हो जाता है और आदिविषाणु (Provirus) के रूप में पोषक कोशिका के DNA में समाकलित हो जाता है। इसके पश्चात् वह आदिविषाणु DNA अन्य विषाणु कणों का निर्माण करने के लिये वांछित प्रोटीन का निर्माण करता है। अन्त में कोशिका डिल्टी से मुकुलित (Rupture) होकर परिपक्व विषाणुकण बाहर निकलते हैं। ये परिपक्व HIV कण अन्य स्वस्थ कोशिकाओं को संक्रमित करते हैं। जैसे ही विषाणु परिपक्व होता है और कोशिका आवरण से बाहर की ओर उसमें मुकुलन होता है वैसे ही रक्त में उपस्थित विशिष्ट एन्टीबोडीज विषाणु को शरीर से बाहर करने के प्रयास में विषाणु से जाकर जुड़ जाती है। व्याधिक्षमत्व एन्टीबोडीज के साथ-साथ कोशिका मध्यस्थ प्रतिरक्षा (Cell Mediated Immunity) का भी अत्यधिक महत्व है। रक्त परिसंचरण में जाये बिना ही (जहाँ एन्टीबोडीज विषाणुओं को निष्क्रिय कर सकते हैं) कोशिका से कोशिका तक HIV विषाणु का प्रसार हो सकता है। इसलिये सम्बन्धित प्रक्रिया को सतर्क करके कोशिका मध्यस्थ प्रतिरक्षा प्रणाली (CMI) का क्रियाशील होना आवश्यक होता है।

जीवाणु, विषाणु तथा विभिन्न प्रकार के अनचाहे सूक्ष्म जीवों के शरीर के अन्दर प्रवेश होने पर उन्हें नष्ट करने के लिए शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली (Immune System) में मेक्रोफेजेस, लिम्फोसाइट्स (बी. कोशिकायें व टी. कोशिकायें) आदि प्रमुख भूमिका निभाती हैं। HIV विषाणु कोशिका प्रतिरक्षा (CMI) को अधिक प्रभावित करता है या यह कह सकते हैं कि टी.कोशिकाएं (T.Cells) इस विषाणु से मुख्यतः संक्रमित होती हैं। इन्हें T. Lymphocytes भी कहते हैं। टी. लिम्फोसाइट्स में प्रवेश के बाद विषाणु अपना घर बना लेता है तथा एड्स विषाणु का कारखाना बन जाता है। यहाँ से निकल कर एड्स विषाणु नये-नये T. Lymphocytes को अपना घर बनाता है। यह सिलसिला जारी रहता है। एड्स विषाणु इन T. Lymphocytes को हमेशा के लिए नष्ट करता जाता

है। एच.आय.वी/एड्स ग्रस्त या संक्रमित व्यक्ति का रोग प्रतिरोधक तन्त्र (Immune System) धीरे-धीरे किसी भी व्याधि के संक्रमण से लड़ने में अक्षम हो जाता है।

इन T. Lymphocytes के दो प्रमुख उपसमूह होते हैं जो कोशिका सतह प्रोटीन का बहन करते हैं, उन्हें CD-4 कोशिकायें कहते हैं। इन्हें सहायक या प्रेरक टी. कोशिकायें कहा जाता है। दूसरे प्रकार की टी. कोशिकाएं वे होती हैं जो CD-8 चिन्हकों की धारक होती हैं। इन्हें कोशिका विषी या संदमक टी कोशिकाएं कहा जाता है।

CD-4 टी कोशिका प्रतिरक्षा प्रणाली की अकेली सबसे महत्वपूर्ण घटक होती है। वास्तव में यह प्रतिरक्षा प्रणाली की अन्य कोशिकाओं की क्रियात्मक क्षमताओं को प्रेरित करती है। ऐसी जटिल प्रणाली में लसीका कोशिकाओं द्वारा उत्पन्न घुलनशील संदेश वाहक (Cytokines) एवं प्रतिरक्षा प्रक्रिया के सभी घटकों के बीच उपयुक्त तालमेल आवश्यक होता है। दुःखद स्थिति यह है कि एड्स में यह सन्तुलन विलकुल बिखर जाता है। ऐसा लगता है कि एच.आय.वी. विषाणु इस कार्य में प्रमुख खलनायक है एवं सहकारक इसमें सहयोग देते हैं।

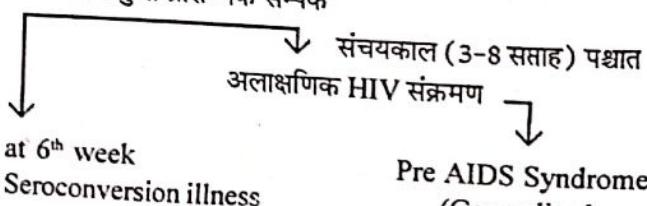
एड्स रोगी में CD-4 कोशिकाओं के विनाश के अतिरिक्त वैज्ञानिकों द्वारा शरीर में सैनिकों की तरह कार्य करने वाली कोशिकाओं को शत्रु की तरह कार्य करते देखा गया है। यह देखा गया है कि संक्रमित व्यक्तियों की बी.कोशिकायें न केवल 'गैर' विषाणु प्रोटीनों के विरुद्ध एन्टीबोडीज तैयार करती हैं बल्कि स्वयं परपोषी के कोशिकीय एन्टीजन के विरुद्ध भी एन्टीबोडीज तैयार करती हैं। स्वयं के एन्टीजन के विरुद्ध उत्पन्न इन एन्टीबोडीज को स्वंप्रतिपिण्ड (Autoantibodies) कहते हैं। एड्स रोगियों में न केवल लसीका कोशिकाएं बल्कि Histocompatibility antigens के विरुद्ध भी एन्टीबोडीज पाई जाती हैं। HIV के बाह्य आवरण के एन्टीजनों के एक हिस्से तथा मानव HLA (Human Leucocyte Antigens) के एक टुकड़े के बीच समानता को इसके लिये उत्तरदायी माना गया है। इस प्रकार व्याधिक्षमत्व अत्यधिक क्षीण हो जाने पर अवसरवादी संक्रमण द्वारा कैंसर, एड्स एवं अन्य रोगों से शरीर ग्रस्त हो सकता है।

संचय काल

जीवाणु संक्रमण से लेकर एड्स रोगोत्पत्ति तक के काल को एड्स रोग का संचय काल (Incubation Period) कहते हैं जो 3-8 सप्ताह होता है।

Flow Diagram of Pathogenesis of AIDS

HIV विषाणु से प्रारम्भिक सम्पर्क



(Fever, Rashes, Diarrhoea-Splenomegaly)

Lymphadenopathy, Fever, Weight loss

↓

सतत सामान्य लसीकाग्रन्थि वृद्धि (Lymphadenopathy)

↓

एड्स से सम्बन्धित जटिलताएं (ARC-AIDS Related Complex)

↓

पूर्ण विकसित एड्स रोग

↓

लगभग 10 वर्ष पश्चात् मृत्यु की आंशका

सम्भावित आयुर्वेदीय सम्प्राप्ति

एड्स निदान

HIV संक्रमण

मिथ्या आहार-विहार

↓

दोष प्रकोप

↓

अग्निमांद्य

↓

आम दोष निर्माण

↓

साम दोष

↓

स्रोतोरोध

↓

धातुक्षय

↓

व्याधिक्षमत्व हास

↓

एड्स के लक्षणों की उत्पत्ति

↓

एड्स रोग

संभावित सम्प्राप्ति घटक

दोष—त्रिदोष

दूष्य—सप्तधातु, लसीका (विशेषकर रस, रक्त, मांस)

स्रोतस—सर्वस्रोतस् (विशेषकर रसवह, रक्तवह एवं मनोवाही स्रोतस)

स्रोतोद्दृष्टि लक्षण—संग, अतिप्रवृत्ति

अधिष्ठान—सर्वशरीर

व्याधि स्वरूप—चिरकारी

व्याधि स्वभाव—दारुण, जटिल, कष्टप्रद

साध्यासाध्यता

(i) नवीन, उपद्रवरहित-कृच्छ्रसाध्य

(ii) जीर्ण उपद्रव युक्त-असाध्य

एड्स विषाणु भेद—एड्स विषाणु की बनावट के आधार पर यह दो प्रकार के होते हैं—

(A) HIV-1 Virus—ये अधिकतर यूरोप व अमेरिका में पाए जाते हैं।

(B) HIV-2 Virus—यह सिर्फ अमेरिका में पाए जाते हैं।

भारतवर्ष में उक्त दोनों प्रकार के विषाणु पाए जाते हैं।

सामान्य लक्षण व चिह्न

HIV संक्रमण विभिन्न प्रकार के तथा व्यापक महत्व के चिकित्सकीय परिदृश्य उत्पन्न करता है जिसके एक सिरे पर हल्के 'फ्लू' जैसी व्याधि होती है तो दूसरी ओर पूर्ण विकसित एड्स रोग होता है। इस विषाणु (HIV) के शरीर में प्रवेशोपरान्त कुछ ही सप्ताह में 'फ्लू' जैसे निम्न लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं—

- i. ज्वर (Unexplained Fever)
- ii. सर्व शरीर शूल (Bodyache)
- iii. शिरःशूल (Headache)
- iv. थकावट (Fatigue)
- v. अरति (Lethargy/Malaise)
- vi. पिङ्गिका उत्पत्ति (Rashes)
- vii. संधिशूल (Myalgia-Arthralgia)
- viii. लसीका ग्रन्थि वृद्धि (Lymphadenopathy)

प्रत्येक प्रभावित व्यक्ति में यह लक्षण उत्पन्न हों ऐसा आवश्यक नहीं है। कुछ समय पश्चात ये लक्षण समाप्त हो जाते हैं। इसके बाद 3 से 12 वर्ष का लम्बा अन्तराल होता है जिसमें कोई लक्षण प्रकट नहीं होते। इस अवस्था में रोग की पहचान ऊपरी तौर पर नहीं

हो पाती। इसके बाद जब व्यक्ति की रोग प्रतिरोधक क्षमता (Immunity) व रोग प्रतिरोधक तन्त्र (Immune-System) नष्ट होना शुरू होता है तब उत्पन्न अवस्था को 'एड्स' कहते हैं। इसके प्रारम्भिक लक्षण निम्नानुसार होते हैं—

- i. सतत अतिसार (Diarrhoea for a period of more than 7 days)
- ii. सतत ज्वर (Continuous Low grade fever)
- iii. भारक्षय (Body weight loss)
- iv. क्षुधानाश (Loss of Appetite)
- v. वमन (Nausea/Vomiting)
- vi. कास (Cough/Pharyngitis)
- vii. रात्रि स्वेद (Night Sweats)
- viii. लसीका ग्रन्थि वृद्धि (Lymph node enlargement)
- ix. परिसरणीय तन्त्रिका विकार (Peripheral Neuropathy)

इसके पश्चात एच.आय.वी. पोजिटिव व्यक्ति को अपने आसपास व्याप्त निम्न संक्रमण प्रभावित कर सकता है—

- i. राजयक्षमा (Tuberculosis-Pulmonary & Extrapulmonary Infection)
- ii. मुखपाक (Oral Candidiasis, Oral Hairy Leucoplakia, Fungal infection)
- iii. नेत्र संक्रमण (CMV-Cytomegalo Virus infection-Retinitis, loss of Vision)
- iv. निमोनिया (Pneumococcal Pneumocystitis carinii Pneumonia)
- v. मस्तिष्क संक्रमण (Toxoplasmosis of Brain)
- vi. प्लीहावृद्धि (Splenomegaly)
- vii. Perianal herpes simplex infection—an infection of the genitals, anorectal skin and mucosa by herpes simplex virus type-2.
- viii. Bacterial Septicaemia.-The presence of pathogenic bacteria in the blood.
- ix. Kaposi's Sarcoma- A vascular malignancy that is often first apparent in the skin or mucous membrane but may involve the viscera due to immuno suppression.
- x. Non-Hodgkin's Lymphoma (Immunoblastoma)-A group of malignant solid tumours of lymphoid tissues.

उपर्युक्त क्रम पूर्वक लक्षणों की गंभीरता का सामाजिक आयुर्वेद में वर्णित 'ओजक्षय' से किया जा सकता है। एड्स की भाँति सुश्रुत सूत्र स्थान में ओजक्षय के निम्न नीं प्रकार बतलाए गए हैं—

- (i) ओजविसंस¹—इसमें संधि विश्लेष, संभिगूल, दोपों का स्वयंस्थान से हो जाना, श्रम (थकावट) एवं शारीरिक मानसिक-व्याचिक क्रियाओं का सम्पूर्ण प्रकार से सम्पन्न नहीं हो पाना आदि लक्षण पाए जाते हैं।
 - (ii) ओजव्यापद²—इसमें गौरवता, अंगों में स्तन्यता, ग्लानि, वर्णभंद, दग्ध निद्रा एवं वातिक शोफ आदि लक्षण मिलते हैं।
 - (iii) ओजक्षय³—इसमें मृच्छा, मांसक्षय, मोह, प्रलाप, अज्ञान, पूर्ववर्ती विसंस व व्यापद के अतिवृद्ध लक्षण एवं मृत्यु होना आदि लक्षण प्राप्त सकते हैं।

निम्नलिखित रोगों में भी 'ओजक्षय' एक लक्षण के रूप में प्रतिक्रिया है—

- i. अभिन्यास ज्वर
 - ii. पाण्डु
 - iii. राजयक्षमा
 - iv. शोष
 - v. प्रमेह
 - vi. उन्माद
 - vii. मदात्यय
 - viii. आवृत वात आवृत

प्रयोगशालीय परीक्षण (Investigations)

शरीर में प्रवेश के पश्चात् HIV विपाणु को एन्टीबोडीज उत्पन्न करने में 2 से 24 सप्ताह लग जाते हैं इसे 'विन्डो पीरियड' कहा जाता है। इस अवस्था में व्यक्ति HIV संक्रमित होता है तथा किसी अन्य को भी संक्रमित कर सकता है, लेकिन एन्टीबोडीज का पता लगाने के लिये की जाने वाली जाँच में वह निगेटिव आता है। किसी व्यक्ति को HIV का संक्रमण उत्पन्न हुआ है या नहीं इस बात का ठीक पता लगाने के लिये किसी सम्पर्क, रक्तधान या घटना के 6 महीने बाद दुबारा जाँच कराते हैं। अतः HIV संक्रमण के निदान हेतु प्रचलित विधि द्वारा Plasma या Serum में HIV एन्टीबोडीज की पहचान करना है जो निम्न परीक्षण द्वारा किया जाता है-

I. स्क्रीनिंग टेस्ट (Screening Test)

i) ELISA (Enzyme Linked Immuno-Sorbent Assays)-

यह कम समय में सम्पन्न होने वाली सस्ती विधि है। इस विधि का प्रयोग प्रचलन में अधिक है।

- “तस्य विश्वसो व्यापत् क्षय इति त्रयो दोषाः लिङ्गानि भवन्ति संभिविश्लेषो गात्राणां सर्वे दोषच्यवनं क्रियामन्त्रिरोधश्च विश्वसे ॥” (सु.स. 15/24)
 - “स्वत्वगुणावता वातशोकोऽप्यधिकं वाणिधेदोग्नानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापते ॥” (सु.स. 15/24)
 - “मूर्च्छां मांसक्षयो घोहः प्रलापो मरामिति च क्षये ॥” (सु.स. 15/24)

- ii) PAT (Particle Agglutination Test)
 - iii) SPOT Test
 - iv) Immunocomb Test

II. पुष्टिकारक (Validation/Confirmed Test)

 - i) Western blot Test—इस विधि का प्रयोग बहुत ज्यादा किया जाता है।
 - ii) Fluorescent Antibody Technique (FAT)
 - iii) Polymer Chain Reaction (PCR)
 - iv) Radio Immuno Assay (RIA)

विशेष

A CD4+ T.cell count of less than 200/mm³ and the presence of any one of 25 clinical conditions are now used to diagnose AIDS.

चिकित्सा सूत्र

आज के परियेक्ष्य में 'एडस' रोग का कोई समूर्ण उपचार उपलब्ध नहीं है। अतः इससे बचाव ही इस रोग से दूर रहने का एक मात्र सफल उपाय है। एडस एक आगन्तुक व्याधि है। आगन्तुक एवं मानस रोगों से बचने के लिये आयुर्वेद 'प्रज्ञापराध' के त्याग को महत्व देता है। रोगों की उत्पत्ति के सन्दर्भ में आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है कि भूत, विष, वायु, अग्नि तथा आधात आदि से उत्पन्न आगन्तुज रोग प्रज्ञापराध से ही उत्पन्न होते हैं। अतः प्रज्ञापराध का त्याग करना, इन्द्रियों को वश में रखना, स्मृति, देश, काल, विज्ञान, अध्यात्म से युक्त रहना, सद्वृत्त का पालन करना इत्यादि ये सभी आगन्तुक रोगों को उत्पन्न नहीं होने देने के उपाय हैं। अतः एडस रोग के बचाव व चिकित्सा के लिए निम्न चिकित्सा सब्द अपनाना चाहिये—

- (i) निदान परिवर्जन (Prevention)
 - (ii) दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, सदवृत्त का सम्यक पालन।
 - (iii) व्यक्तिगत (Personal) एवं सामाजिक (Social) स्वास्थ्य को बनाए रखना
 - (iv) आचार रसायन (आजस्ति) सेवन
 - (v) ओजोवर्धक चिकित्सा

- “ये भूतविषयाद् गेनसंप्रहारादिसंभवाः । नृणामन्तरो रोगाः प्रजा तेष्वपराभ्यति ॥”
(च.म् 7/51)
 - “त्यागाः प्रज्ञापराधानामिद्विषयोपशमः स्मृतिः । देशकालात्मविज्ञानं सदवृत्तस्यानुवर्तनम् ॥
आगन्तुनामनुत्पत्तावेष मार्गो निदर्शितः । प्राज्ञः प्रागेव तत् कुर्याद्वितं विद्याद्यदत्तमः ।”
(च.म् 7/53-54)

- (vi) नैमित्तिक रसायन सेवन
- (vii) सम्प्राप्ति विघटन करना
- (viii) लाक्षणिक चिकित्सा व्यवस्था करना आदि
उपर्युक्त चिकित्सा सिद्धान्तों में से प्रमुख निम्न हैं—

(i) निदान गरिवर्जनम (Avoidance of cause as preventive medicine)

एहस विषाणु का संक्रापण, जिन-जिन कारणों से हो सकता है उनकी जानकारी एवं विवेकपूर्वक उनसे बचाव के साधनों को अपनाना चाहिये। जैसे—

- (i) सुरक्षित सम्भोग-समलैङ्गिता, पशु मैथुन, गुद मैथुन, वेश्या गमन को रोकना। शिशु आवरक (कन्डोम) के प्रयोग को बढ़ावा देना। एक ही साथी से यौन सम्बन्ध रखना।
- (ii) रक्त, स्तान्या, सीरम, फेक्टर-8, इम्यूनो-ग्लोबिन्स, इन्टरफेरोन आदि के आदान-प्रदान के पूर्व एच.आय.वी. की जाँच करना।
- (iii) सूचि (Needle), स्टिरिज, शल्य उपकरणों, प्रयोगशालीय उपकरणों का प्रयोग पूर्व विसंक्रमित करना।
- (iv) एहस संक्रमित माता को जहाँ तक सम्भव हो गर्भधारण नहीं करना चाहिये।
- (v) दिनचर्या, रात्रिचर्या, प्रस्तुचर्या, सद्वृत्त एवं आचार रसायन का सेवन (Social-medicine)

आयुर्वेदीय शास्त्रों में चर्णित दिनचर्या (Daily regimens), रात्रिचर्या (Night regimens), प्रस्तुचर्या (Seasonal regimens) का सम्यक्रूप से पालन करना चाहिये।

आयुर्वेद विज्ञान में द्रव्यों के रसायन (नैमित्तिक व श्रीकान्त्य रसायन) के रूप में प्रयोग के साथ ही व्यक्तिगत आदर्श आचरण के पालन से भी रसायन तुल्य प्रभाव की उत्पत्ति को स्वीकार किया गया है। आचारों ने आचार रसायन के अन्वर्गित निम्न शारीरिक व मानसिक विशिष्ट आचरणों का उल्लेख किया है जिनके पालन से मनुष्य में रसायन प्रभाव उत्पन्न हो सकते हैं—

- (i) सत्यभाषण, अङ्गोध सेवन
- (ii) मद्य-मैथुन का युक्तिपूर्वक सेवन
- (iii) अहिंसा, शान्तचित्त, प्रियवचन सेवन
- (iv) आहार-निदा-ब्राह्मचर्य का उचित पालन

(v) नित्य-प्रतिदिन दुग्ध व घृत का सेवन

(vi) सात्विक, शाकाहारी आहार-विहार सेवन

(vii) अस्तिक, जितात्मा व अहंकार रहित होना।

(iii) ओजोवर्धक चिकित्सा (Immunomodulation)

आयुर्वेद मतानुसार जीवनीय, बृहंणीय, ब.प, रसायन औषधियों का प्रयोग ओजक्षय में लाभप्रद होता है। नित्य क्षीर, घृत, मांस रस का अध्यास भी ओजोवर्धक है। इन सभी उपायों, औषधियों से 'व्याधिक्षमत्व' क्षमता में वृद्धि होती है। रसायन प्रयोग से उत्तम व ब्रेष्ट रसादि धातुओं की प्राप्ति होकर ओजो वर्धन होता है। उत्तम स्वरूप की व्याधि प्रतिरोधक क्षमता (Immunity) होने से मनुष्य एहस सदृश्य रोगों के आक्रमण से बचा रह सकता है।

(iv) नैमित्तिक रसायन सेवन

इस रसायन का प्रयोग स्वस्थ व्यक्ति में ओज, आयु व मेथा वृद्धि के लिये तथा व्याधि ग्रस्त व्यक्ति के विशिष्ट रोग निवारण के लिये किया जाता है। एहस रोग एक लक्षण समूह रोग (Syndrome) है। अतः इस रोग के विभिन्न लक्षणों को प्रधानता के अनुसार नैमित्तिक रसायन प्रयोग से दूर किया जा सकता है। जैसे—

त्वकरोग	: बाकुची, विडंग, गंधक आदि
ग्रन्थि	: पिप्ली, भल्लातक आदि
राजयश्मा	: नागबला, रसोन, भल्लातक आदि
पाण्डु	: लौह, मण्डूर
प्राणवहसोतोदुषि	: अगस्त रसायन, च्यवनप्राश आदि
(धाता, निमोनिया)	
मानस दुर्बलता	: ग्राहरसायन, मेध रसायन आदि

चिकित्सा

(1) शोधन चिकित्सा—एहस रोग क्षय जन्य (अपर्यण जन्य) रोग है। अतः इसकी चिकित्सा में बृहंणीय चिकित्सा ही सर्वोपरि है। इसमें शोधन चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

(2) शमन चिकित्सा—एहस के रोगी में निम्न शामक औषध योगों का प्रयोग करने पर वांछित सफलता प्राप्त की जा सकती है—

-
1. "सत्यवादिनमङ्गोऽं.....।स समृद्धे॥"
- (च.वि. 1-4/30-35)

1.	रस/भस्म/लौह	
	मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
	अनुपान	: मधु, दुध
(i)	राजमृगाङ्क रस	: रस सिन्दूर, स्वर्ण, ताप्र आदि
(ii)	मृगाङ्क रस	: पारद, स्वर्ण, मुक्ता आदि
(iii)	स्वर्ण मालिनी वसन्त	: स्वर्ण, मोती, हिंगुल आदि
(iv)	मकरघ्वज	: स्वर्ण, पारद, गंधक आदि
(v)	आनन्दभैरव रस	: हिंगुल, वत्सनाभ, टंकण आदि
(vi)	मुक्ता पंचामृत	: मुक्ता, प्रवाल, वङ्ग आदि
(vii)	शृङ्गाराम्र	: अभ्रक, कज्जली, कर्पूर आदि
(viii)	शिलाजत्वादि लौह	: शुद्ध शिलाजतु, त्रिकटु आदि
2.	वटी	
	मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
	अनुपान	: जल, मधु
(i)	शिवा गुटिका	: त्रिफला, शिलाजतु आदि
(ii)	चन्द्र प्रभा वटी	: बिंदंग, चित्रक, त्रिकटु आदि
(iii)	संजीवनी वटी	: भलातक, वत्सनाभ, त्रिफला आदि
(iv)	आरोग्यवर्धनी वटी	: कज्जली, ताप्र, कुटकी आदि
3.	चूर्ण	
	मात्रा	: 2-6 ग्राम
	अनुपान	: मधु, दुध
(i)	सितोपलादि चूर्ण	: पिप्पली, एला, सिता आदि
(ii)	आमलकी रसायन चूर्ण	: आमलकी, मधु आदि
(iii)	अश्वगन्धादि चूर्ण	: अश्वगन्धा आदि
(iv)	चतुषष्टि पिप्पली	: क्षार भवित पिप्पली चूर्ण
(v)	अमृता सत्त्व	: अमृता सत्
4.	आसव/अरिष्ट	
	मात्रा	: 20-40 मि.ली.
	अनुपान	: जल
(i)	द्राक्षारिष्ट	: मुनक्का, गुड़, दालचीनी आदि
(ii)	बलारिष्ट	: बला, अश्वगन्धा, गुड़ आदि
(iii)	अश्वगन्धारिष्ट	: अश्वगन्धा, मूसली, हरिद्रा आदि

5.	अवलेह	
	मात्रा	: 10-20 ग्राम
	अनुपान	: क्षीर, दुध
(i)	च्यवनप्राश	: दशमूल, अष्टवर्ग, काकड़ाशृङ्खी, द्राक्षा आदि
(ii)	ब्रह्मरसायन	: पंच पंचमूल, हरीतकी, स्वर्ण आदि
6.	घृत	
	मात्रा	: 10-20 मि.ली.
	अनुपान	: दुध
(i)	अश्वगंधा घृत	: अश्वगन्धा, काकोली, घृत आदि
(ii)	जीवनीय घृत	: अष्टवर्ग, माषपर्णी, मुलैठी आदि
(iii)	दशमूल घृत	: बिल्व, अग्निमंथ, श्योनाक आदि
7.	रसायन	
	मात्रा	: आवश्यकतानुसार
(i)	च्यवनप्राश	
(ii)	ब्रह्म रसायन	
(iii)	पिप्पली वर्धमान रसायन	
(iv)	नागबला रसायन	
(v)	अमृता रसायन	
(vi)	शिलाजतु रसायन	
(vii)	स्वर्ण भस्म (रसायन)	
(viii)	आमलकी रसायन	
(ix)	अश्वगन्धा रसायन आदि	
8.	एकल द्रव्य—कासनी, बला, तुलसी, अमृता, मुलैठी, भूमिआमलकी, आमलकी, हरिद्रा, शतावरी, भारङ्गी, पुष्करमूल, कंटकारी, अश्वगन्धा आदि।	
	आदर्श चिकित्सा पत्र	
1.	निदान परिवर्जन	
2.	प्रातः सायम्	
	शिलाजत्वादि लौह	: 250 मि.ग्रा.
	चतुषष्टि पिप्पली	: 500 मि.ग्रा.
	अमृता सत्त्व	: 500 मि.ग्रा.
	प्रवाल पंचामृत	: <u>500 मि.ग्रा.</u>
	मधु से	: 1x2 मात्रा

3.	चन्द्रप्रभा वटी संजीवनी वटी जल से	: 2 वटी × तीन मात्रा : 2 वटी × तीन मात्रा
4.	भोजनोत्तर अश्वगन्धारिए बलारिए	: 20 मि.ली. <u>20</u> मि.ली.
	समभाग जल से	1×2 मात्रा
5.	च्यवनप्राश अवलेह	: <u>20</u> ग्राम
	दूध से	1×2 मात्रा
6.	पौष्टिक-सात्त्विक आहार	
7.	प्राणायाम-योगासन निर्देशानुसार	

पथ्यापथ्य

एड्स रोगी में युक्ति पूर्वक निम्न पथ्यापथ्य आहार-विहार का प्रयोग कराना लाभप्रद रहता है-

पथ्य**आहार**

मधुर-स्निध-गुरु आहार, नित्य क्षीर-घृत मांस रस, खर्जूर, द्राक्षा, लशून, हरिद्रा आदि।

अपथ्य**आहार**

कटु-तिर्क-कपाय रस, माष (उड्ड) वाजीकरण आहार आदि।

विहार

विश्राम, सद्वृत्त पालन, आचार रसायन सेवन, ब्रह्मचर्य पालन आदि।

विहार

मैथुन, क्रोध, शोक, चिन्ता, वेग धारण, स्वेदन, रात्रि जागरण (प्रजागर) आदि।

Latest Developments**AIDS**

यह आधुनिक काल का कष्टसाध्य/असाध्य यौन संक्रमित रोग है। आयुर्वेदीय साहित्य में इसका स्पष्टतः उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इस रोग की निम्न दो प्रकार की चिकित्सा वर्णित है—

I. Preventive Measures**II. Curative Measures****I. Preventive Measures**

Measures adopted include

- Health education.
- Modification of Risk behaviour through councelling.
- Use of condoms for penetrative sex.
- Screening of blood units.
- Rational use of blood.
- Biosafely methods in the health care setting.

II. Curative Measures

Pharmacologic Approach has four main goals—

- Treat the HIV infection with antiretroviral drugs.
- Immune Reconstruction.
- Treatment of opportunistic-infections.
- Arrest of epidemiological infections with vaccines

Vaccines

- Therapeutic-To increase the immune response, thus delaying onset of AIDS.
- Preventive-To arrest the spread of infection in population.

Anti Retroviral therapy includes

- Nucleoside analogue reverse transcriptase.
- Protease inhibitors
- Non-nucleoside reverse transcriptase inhibitors.

Prognosis

Despite an increased understanding of the ways in which HIV destroys the immune system, only limited progress has been made in extending the lives of those with AIDS. Life expectancy remains about 10-15 years after initial infection.

••• शुभ अ० •••

अध्याय-43

रतिजन्य वंक्षणीय कणिकाबुद्द

(GRANULOMA INGUINALE VENERUM)

व्याधि परिचय

यह यौन संक्रमित रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक पाया जाता है। इस रोग में शिश्न के ऊपर धान्य के अंकुर के समान मासांकुर उत्पन्न हो जाते हैं। यह अंकुर एक-दूसरे के ऊपर बढ़ते हुए स्थिर हो जाते हैं। अंकुरों के कारण प्रवर्धित मांस शिश्नमणि के छिद्र के पास अथवा सम्पूर्ण छिद्र (Urethra) पर मुर्गों की चोटी के समान वर्ति उत्पन्न करता है। इस को 'लिङ्गार्श' या 'लिङ्ग वर्ति' भी कहते हैं।

स्त्री के भगोष्ट, भगशिशिका तथा योनिमार्ग में भी धान्यांकुर समान अंकुर निकलते हैं। इन्हें 'योन्यार्श' कहते हैं। इन अंकुरों से बदबूदार स्नाव निकलता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 2
2. माधव निदान-अध्याय 47

पर्याय²

- | | |
|--------------------------|---|
| (i) लिंगवर्ति | (ii) लिंगार्श (स्त्रियों में योन्यार्श) |
| (iii) कामजन्य कणिकाबुद्द | (iv) Papilloma |
| (v) Granuloma | (vi) Polypus etc. |

निदान

इस रोग का मुख्य कारण Donovan body उत्पन्न करने वाला Klebsiella granulomatis नामक दण्डांगु है। इसे Donovania grannlomatis भी कहते हैं। यह Gram negative जीवाणु है।

1. “अङ्गुरैरिव सङ्घातैरूपर्युपरि संस्थैः। क्रमेण जायते वर्तिस्ताप्रचूडशिखोपमा ॥”
(मा.नि. 47/6)
2. “लिङ्गवर्तिरभिख्याता लिङ्गार्श इति चापे।” (मा.नि. 47/7)

संचय काल

इस रोग का संचय काल (Incubation period) कुछ दिनों से लेकर 12 सप्ताह पर्यन्त तक होता है।

सम्प्राप्ति व लक्षण

सर्वप्रथम जीवाणु के प्रवेशोपरान्त शिश्न, भगोष्ट, आदि अंगों की एक स्थान की त्वचा पर छोटा सा गोल ग्रन्थि वाला उभार पैदा हो जाता है। इसके ऊपर की त्वचा अत्यन्त मृदु व गुलाबी वर्ण की होती है। यह त्वचा शीघ्र ही क्षतयुक्त हो जाती है तथा उसमें से दुर्गच्छ युक्त पूय (Pus) निकलने लगता है। यह व्रण धीरे-धीरे चारों तरफ फैल जाता है। यह व्रण भगोष्ट, योनि, वृषण, भगशिशिका, योनिमार्ग (Vagina) आदि अंगों पर पाया जाता है। मल-मूत्र व प्रजनन मार्ग में व्रण होने से रोगी को कष्ट व बैचेनी होती है। मल-मूत्र एवं अपानपायु त्याग करने में असुविधा होती है।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन



दोष प्रकोप



मेढ़ व योनि प्रदेश में आश्रय



मांस व रक्त प्रकोप



कण्डू



व्रणोत्पत्ति



पूयस्नाव



शिश्न नाश व आर्तव नाश



बन्ध्यता

साध्यासाध्यता

यह रोग चिरकालानुबन्धी व कृच्छ्रसाध्य है। रोग प्रतिकार न होने पर रोगी को जीवन पर्यन्त बना रहता है। यह रोग, रोगी के गुप्ताङ्गों को विकृत कर देता है।

उपद्रव

रतिजन्य वंक्षणीय कणिकाबुद की उपेक्षा करने पर रोगी में निम्न उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं—

- (i) नाड़ीब्रण
- (ii) गज चर्मता
- (iii) मूत्रमार्ग संकोच
- (iv) शिशनक्षय
- (v) आर्तवक्षय
- (vi) ध्वजभंग
- (vii) बस्तिशोथ
- (viii) बन्ध्यता आदि।

चिकित्सा

- (i) पूर्ण विश्राम
- (ii) स्थानिक ब्रण उपचार
- (iii) अंकुरों पर क्षार पातन
- (iv) रक्तशोधक उपचार
- (v) पूर्व वर्णित उपदंश-फिरंग रोग वत अन्य उपचार करें।

क्षारपातनार्थ योग

- (i) स्वर्जिकाक्षारादि चूर्ण— सज्जीखार, तूतिया, रसोंत, मनःशिला, हरताल आदि का मांसाकुर पर लेपन।
- (ii) घृतकुमारी के पत्रों को मन्दोष्ण करके लिङ्ग पर बन्धनार्थ।
- (iii) गुंजामूल को बैल के मूत्र में पीसकर लेपन।

नोट—यौन संक्रमित रोगों में वर्णित अन्य औषधियों व पथ्यापथ्य का भी युक्तिपूर्वक प्रयोग किया जा सकता है।

••• द्वे छंडे •••

वंक्षण सन्धि लसकणिकाबुद (LYMPHO GRANULOMA VENERUM INGUINALE)

व्याधि परिचय

यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक पाया जाता है। यह भी यौन संक्रमित विषाणुजन्य रोग है। पुरुषों में संक्रमण का प्रसार स्त्रियाँ अधिक करती हैं। इस रोग में वंक्षण सन्धि (Inguinal fold) की लसिका ग्रन्थियों में शोथ उत्पन्न होकर पूय उत्पत्ति होती है। पुरुषों में प्राथमिक ब्रण शीघ्र रोपित हो जाता है। स्त्रियों में ब्रण उत्पत्ति योनि प्रदेश में होती है। ब्रण योनि के अन्दर की ओर भी उत्पन्न हो जाते हैं जो दीर्घकाल तक स्थित रहते हैं। अतः इनकी औपसर्गिकता भी अधिक काल तक बनी रहती है। स्त्री योनि में विषाणु दीर्घकाल तक परजीवी के रूप में सुरक्षित रहते हैं तथा मैथुन के समय पुरुष में संक्रमित होते हैं।

निदान

यह रोग उष्ण कटिवन्धनीय देशों में अधिकता से पाया जाता है। इसका मुख्य कारण "Chlamydia trachomatis" नामक विषाणु है।

संचय काल

इस रोग के विषाणु शरीर में प्रवेशोपरात 7 से 21 दिन के अन्दर लक्षण प्रकट करते हैं।

सम्प्राप्ति व लक्षण

पुरुषों में विषाणु उपसर्ग के पश्चात् 'वंक्षण सन्धि लसकणिकाबुद' की निम्न चार अवस्थाएं होती हैं—

- | | |
|--|------------------------------|
| (i) ग्रन्थि वृद्धि (Bubo) | (ii) शोथोत्पत्ति |
| (iii) पूयोत्पत्ति | (iv) नाड़ीब्रण की उत्पत्ति |
| इसके अतिरिक्त रोगी के शरीर में निम्न सार्वदैहिक लक्षण भी पाए जाते हैं— | |
| (i) ज्वर | (ii) शूल (अधोउदर प्रदेश में) |
| (iii) अङ्गसाद | (iv) मूत्रदाह |

- (v) अग्निमांद्य
- (vi) अरुचि
- (vii) दौर्बल्य
- (viii) सन्धिशूल
- (ix) विबन्ध
- (x) प्लीहावृद्धि
- (xi) भारक्षय आदि

उपद्रव

ब्रण के उत्पन्न होने के पश्चात् कभी-कभी रोगी में नाड़ीब्रण (Sinuses) उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी नाड़ीब्रण के द्वारा गुदा का सम्बन्ध बस्ति, योनि आदि अंगों के साथ हो जाता है। पुरुष व स्त्री में जननाङ्गों में गजचर्मता (Elephantiasis of the Genitalia) उत्पन्न हो जाती है। स्त्रियों में गुद संकोच (Rectal Stricture) उत्पन्न हो सकता है।

चिकित्सा

- | | |
|------------------------------------|-------------------|
| (i) पूर्ण विश्राम | (ii) कोष्ठ शुद्धि |
| (iii) स्थानिक ब्रणशोधक, रोपक उपचार | (iv) औषध व्यवस्था |

1. प्रातः सायम्

मलसिन्दूर	: 125 मि.ग्रा.
आरोग्य वर्धनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
शुद्धांधक	: 250 मि.ग्रा.
अमृता सत्व	: 500 मि.ग्रा.
प्रवाल पिण्ठी	: 250 मि.ग्रा.
मधु से	1×2 मात्रा
2. भोजनोत्तर	
खदिरारिष्ट	: 20 मि.ली.
सारिवाद्यासव	: 20 मि.ली.
समभाग जल से	1×2 मात्रा

नोट— यौन संक्रमित रोगों में वर्णित अन्य औषधियों व पथ्यापथ्य का युक्तिपूर्वक प्रयोग भी लाभकारी रहता है।

००० रुप्य ३३३ अ.००

अध्याय-45

यौनमनोगत विकार (PSYCHO SEXUAL DISORDERS)

परिचय

आयुर्वेदीय चिकित्सा विज्ञान में मनोदैहिक विकारों (Psychosomatic disorders) की तरह ही यौन मनोगत विकारों (Psychosexual disorders) का भी वर्णन मिलता है। मन के विकारों का शरीर के साध-साथ अन्तः लावी व जनन ग्रन्थियों पर भी प्रभाव देखा गया है। अतः सुखद, निरापद यौनजीवन (Sexual Life) व्यतीत करने के लिए तथा स्वस्थ सन्तान प्राप्ति हेतु यौन मनोगत विकारों को दूर करना आवश्यक है। आचार्यों ने निम्न यौन मनोगत विकार वर्णित किए हैं—

1. योषापस्मार (अपतन्त्रक) (Hysteria)
2. स्मरोन्माद (कामोन्माद)
3. बलात्कार (Rape)
4. अप्राकृतिक मैथुन
 - (i) गुद मैथुन (Sodomy)
 - (ii) हस्तमैथुन (Masturbation)
 - (iii) स्त्री समलैंगिकता (Lesbianism)
 - (iv) पुरुष समलैंगिकता (Homosexuality)
 - (v) पशु मैथुन (Bestiality)
 - (vi) मुख मैथुन (Oral Sex)
5. अन्य यौनमनोगत विकार

यौन रूप से वह व्यक्ति स्वस्थ होता है जो प्रायः किन्हों असामान्य अध्यवा विकृत मनोवृत्तियों पर नियन्त्रण रखता है। मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा एक बड़ी सीमा तक स्वाभाविक परिस्थितियों का दायरा बहुत व्यापक होता है।

उपर्युक्त यौनमनोगत विकारों का क्रमानुसार विस्तृत वर्णन निम्नानुसार है—

योषापस्मार (अपतन्त्रक) (HYSTERIA)

व्याधि परिचय

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में योषापस्मार रोग का स्वतन्त्र उल्लेख नहीं है। अपतन्त्रक नामक रोग में ही इसको समाहित करते हैं। इस रोग से आक्रान्त स्त्री जिस रोग का मन से ध्यान करती है उसे भ्रमवश वही रोग हुआ प्रतीत होता है। योषा (स्त्री) में अधिकता से होने से इसे योषापस्मार कहते हैं। विशेष रूप से गर्भाशय (Hystero/Hyster/Uterus) सम्बन्धी विकृतियों या अतृप्ति कामेच्छा एवं मानसिक उत्पीड़न के कारण स्त्रियों में इसकी उत्पत्ति अधिक होती है। किन्तु स्त्रियों की भाँति कोमल प्रकृति वाले व क्लेशादि सहन न कर सकने वाले (अल्प सत्त्व युक्त) पुरुषों में भी यह रोग दिखाई देता है। अतः यह एक यौनमनोगत दैहिक विकार है। इस रोग में कभी हँसना, कभी रोना, कभी बेहोशी आना ये प्रधान लक्षण होते हैं।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, सिद्धि स्थान-अध्याय 9/12-20
2. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 1/64-66
3. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा-स्थान अध्याय 5
4. माधव निदान-परिशिष्टम् योषापस्मार निदानम्

निदान

योषापस्मार (अपतन्त्रक) रोग के कारणों को निम्न दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

- I. शारीरिक कारण
- II. मानसिक कारण

1. "सम्बन्धो.....। मदः क्वचित्॥"
(मा.नि.परिशिष्टम् योषापस्मार निदानम् 1/5)
2. "रक्तक्षयादा.....। हि कालः ॥"
(मा.नि.परिशिष्टम् योषापस्मार निदानम् 1/6-9)

I. शारीरिक कारण

- (i) अत्यधिक रक्तक्षय (पाण्डु रोग)
- (ii) अजीर्ण रहना
- (iii) विबन्ध बने रहना
- (iv) रजःक्षय/रजोऽवरोध
- (v) कामेच्छा की अपूर्ति
- (vi) गर्भाशय विकार
- (vii) अप्राकृतिक मैथुन
- (viii) अनिद्रा आदि

II. मानसिक कारण

- (i) निरन्तर शोक, निराशा, चिन्ता, भय, उपेक्षा व तिरस्कार से ग्रस्त रहना
- (ii) इच्छा का विघात होना
- (iii) मानसिक द्वन्द्व रहना
- (iv) यौन सुख की अतृप्ति
- (v) परिवार के सदस्यों से निष्ठर व्यवहार, प्रताड़ना मिलना
- (vi) पति के द्वारा विवाहिता की उपेक्षा
- (vii) युवावस्था में विधवा हो जाना
- (viii) सन्तान प्राप्ति नहीं होना
- (ix) यथा समय विवाह न होना
- (x) कामशास्त्र, कामुक साहित्य पढ़ना, चलचित्र दर्शन आदि

सम्प्राप्ति

पूर्व वर्णित निदानों के सेवन से कुपित वायु अपने स्थान पक्वाशय से ऊपर की ओर जाकर हृदय, शिर (मस्तिष्क) व शंख प्रदेश को पीड़ित करती हुई शरीर को मोड़कर आक्षेप उत्पन्न करती है। रोगी के नेत्र बन्द हो जाते हैं। कबूतर के शब्द के समान गले में अस्पष्ट एवं अव्यक्त शब्द उत्पन्न होता है। ज्ञान नष्ट हो जाता है, मोह उत्पन्न होता है। इस प्रकार अपतन्त्रक रोग की सम्प्राप्ति निर्मित होकर योषापस्मार रोग उत्पन्न होता है। इस रोग में वायु दोष के साथ कफ दोष का संसर्ग रहता है। अतः यह वायु की प्रधानता से होने वाला मानसिक विकार है।

1. i) "कुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते। पीडयन् हृदयं गत्वा शिःशब्दौ च पीडयन्॥
धनुर्वन्मयेदात्राण्याक्षिपेऽन्मोहयेत्तथा। कृच्छ्रेण चाप्युच्छ्वसिति सत्व्याक्षोऽर्थात् मीलकः॥
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः ॥" (च.सि. 9/12-14)
- ii) "वायुरुर्ध्वं.....। दोऽपतन्त्रकः ॥"
(सु.नि. 01/64-66)

सामान्य लक्षण

यह रोग प्रायः 12 से 50 वर्ष की स्त्रियों में अधिक पाया जाता है। पुरुषों में यह रोग बहुत कम देखा गया है। इसके लक्षणों को निम्न दो वर्गों में विभाग कर सकते हैं—

- I. शारीरिक लक्षण
- II. मानसिक लक्षण

- I. शारीरिक लक्षण

 - i. श्वास कृच्छ्रता (Dyspnoea)
 - ii. शिरःशूल (Headache)
 - iii. अरुचि (Anorexia)
 - iv. मलावरोध (Constipation)
 - v. मूकता (Aphonia)
 - vi. अचानक चिल्ड्राना एवं हँसना (Laughing & Crying episodes)
 - vii. निद्रागमन (Sleep walking)
 - viii. उदर प्रदेश में मिथ्या गुल्म प्रतीति (Feeling of ball like round-structure in Abdomen)
 - ix. ज्ञान शून्यता (Sensory disturbances)
 - x. उदर शूल (Abdominal pain)
 - xi. पक्षाधात (Paralysis)

- II. मानसिक लक्षण

 - i. स्मृतिनाश (Amnesia)
 - ii. भावनात्मक अस्थिरता (Emotional-instability)
 - iii. प्रलाप (Delirium)
 - iv. मूर्च्छा (Syncope)
 - v. मोह (Confusion)
 - vi. बुद्धिग्रंथ (Regressed idea, emotions & goals)
 - vii. उद्बोग (Anxiety neurosis)

सापेक्ष निदान

योषापस्मार (अपतन्त्रक) एवं अपस्मार रोग में विभेदक निदान किया जाता है। अपतन्त्रक में केवल मूर्च्छा होती है, जिहा कट्टी नहीं है, मुख से झाग नहीं आते हैं।

1. “चिह्नान्यकेकानि.....।एव लोके॥”
(मा.नि. परिशिष्टम् योषापस्मारनिदानम्)

अपस्मार के दौरे एकान्त में आ सकते हैं। योषापस्मार के दौरे एकान्त में नहीं आते हैं, बार-बार होते हैं व नेत्र, गर्दन आदि देही नहीं होती है। इन अपस्मार व योषापस्मार में निम्न विभेदक लक्षणों के आधार पर ऐसे किया जा सकता है—

योषापस्मार (Hysteria)

- 1. इसका दौरा बड़े तीव्र बेग से नहीं होता है विसमें गेहूं अपने को संभाल लेता है।
- 2. इसका दौरा निद्रा के दौरान नहीं आता है।
- 3. दौरा एकान्त में न आकर समूह या भीड़भाड़ में आता है।
- 4. दौरे के दौरान नेत्र व गर्दन बक्क हो नहीं होते हैं।
- 5. दौरे के दौरान जिहा नहीं कट्टी है।
- 6. अनैच्छिक मल-मूत्र त्वाग कभी नहीं होता है।
- 7. बेहोशी शीत्र ही दूर होकर होश आ जाता है।
- 8. गर्भाशय से सम्बन्ध रहता है।

अपस्मार (Epilepsy)

- 1. दौरा बड़े तीव्र बेग से होता है और गेहूं अपने को संभाल नहीं लगता है।
- 2. इसका दौरा निद्रा के समय भी आ सकता है।
- 3. दौरा (बेग) एकान्त वा समूह की बायेक्षा नहीं करता है।
- 4. दौरे के दौरान नेत्र व गर्दन बक्क हो जाती है।
- 5. कभी-कभी दौरों से जिहा कट्टी है।
- 6. अनैच्छिक मल-मूत्र त्वाग होने लगता है।
- 7. मूर्च्छा वा बेहोशी के पक्षात् निद्रा जाती है।
- 8. गर्भाशय से सम्बन्ध नहीं रहता है।

चिकित्सा सूत्र

- i. निदान परिवर्जनम्
- ii. सत्वाजय चिकित्सा-आरवासन-सात्वना चिकित्सा
- iii. दैवव्यपाश्रय चिकित्सा
- iv. दुक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा
(अ) तीक्ष्ण प्रधमन नस्य (शिरो विरेचन)
(ब) क्वाथ चिकित्सा
(स) फिष्ठ घृत प्रयोग
(द) कोष्ठ शुद्धि (मल विरेचन)
(इ) वात-कफ शामक अन्य चिकित्सा

1. “श्वसनं कफवाताभ्यां रुद्धं तस्य विमोक्षयेत्। तोहृः प्रधम्नैः संस्तु वातु नुक्त्वा विन्दते॥”
(च.स्त्र. ३/८६)

अपतन्त्रक रोगी को लंघन, वमन, आस्थापन व अनुवासन बस्ति नहीं देना चाहिये।

- v. अग्निदीपन चिकित्सा
- vi. सात्विक आहार-विहार
- vii. शिरोधारा, शिरोबस्ति कर्म चिकित्सा
- viii. गर्भाशय विकार की चिकित्सा
- ix. मानसिक एवं शारीरिक विश्राम
- x. वेग कालीन आत्ययिक चिकित्सा

चिकित्सा

योषापस्मार/अपतन्त्रक के रोगी में निम्न संशोधन व संशमन चिकित्सा सावधानी पूर्वक दी जानी चाहिये—

I. शोधन चिकित्सा

- (i) शिरोविरेचन—मरिच, शिष्ठु बीज, विडंग, फणिज्ज्वक के समभाग चूर्ण को प्रधमन नस्य के रूप में देने से मूर्छा दूर होती है।
- (ii) कोष्ठशुद्धि (मल विरेचन)—त्रिफला चूर्ण या तरुणी कुसुमाकर चूर्ण आदि के देने से कोष्ठशुद्धि होती है।

II. शमन चिकित्सा

योषापस्मार/अपतन्त्रक के रोगी में निम्न शमन चिकित्सा युक्तिपूर्वक प्रयोग करने से आशानुकूल लाभ प्राप्त होता है—

1. रस/भस्म/लौह

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, क्षीर
(i) भूत भैरव रस वृहद् (भै.र.)	: स्वर्ण, मुक्ता आदि
(ii) स्मृतिसागर रस	: कज्जली, हरताल, ताम्र, ब्राह्मी आदि
(iii) वात कुलान्तक रस	: कस्तूरी, मनःशिला, कज्जली आदि
(iv) वृहत् वातचिन्तामणि रस	: स्वर्ण, रजत, अभ्रक आदि
(v) कृष्ण चतुर्मुख रस	: कज्जली, अभ्रक, स्वर्ण आदि
(vi) प्रदरान्तक लौह	: लौह, ताम्र, वङ्ग आदि
(vii) त्रिवंडु भस्म	: नाग, वङ्ग, यशद आदि
(viii) शिलाजत्वादि लौह	: शुद्ध शिलाजतु, मुलैठी चूर्ण, त्रिकटु आदि
(ix) प्रवाल पिण्डी	: गुलाब जल भावित प्रवाल भस्म

1. “अपतन्त्रकातुरं नापतर्पयेत् वमनानुवासनास्थापनानि न निषेवेत्।” (सु.चि. 5/21)

2. वटी/गुग्गुल

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु
(i) अपतन्त्रकारि वटी	: जटामांसी, खुरासानी अजवाइन आदि
(ii) अमर सुन्दरी वटी	: कज्जली, लौह, वत्सनाभ आदि
(iii) ब्राह्मी वटी	: रस सिन्दूर, ब्राह्मी, अभ्रक आदि
(iv) हिस्टीरियानाशक वटी	: गांजा, कर्पूर, वचा आदि
(v) महायोगराज गुग्गुल	: नाग, वङ्ग, रजत, हिंगु आदि

3. चूर्ण

मात्रा	: 2-6 ग्राम
अनुपान	: यवमण्ड
(i) अपतन्त्रक हर चूर्ण	: हरड़, हिंगु, सैंधव आदि

4. क्वाथ

मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) मांस्यादि क्वाथ	: जटामांसी, अश्वगन्धा आदि
(ii) दशमूल क्वाथ	: विल्व, श्योनाक, गोक्षुर आदि

5. आसव/अरिष्ट

मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: समभाग जल से भोजनोत्तर
(i) दशमूलारिष्ट	: दशमूल, चित्रक, पुष्कर मूल आदि
(ii) सारस्वतारिष्ट	: ब्राह्मी, शतावरी, स्वर्ण आदि
(iii) मृगमदासव	: मृतसंजीवनी सुरा, मरिच आदि
(iv) अश्वगन्धारिष्ट	: अश्वगन्धा, मुसली, वचा आदि

6. घृत

मात्रा	: 10-20 मि.ली.
अनुपान	: दुध, उष्ण जल
(i) कल्याणक घृत	: इन्द्रायण, त्रिफला, देवदारु आदि
(ii) महाचैतस घृत	: शणबीज, निशोथ, एरण्ड मूल आदि
(iii) अपतन्त्रकनाशक घृत	: हरड़, पिण्डी, सौवर्चद आदि

7. रसायन प्रयोग

मात्रा	:	10-20 ग्राम
अनुपान	:	दुध
(i) ब्राह्म रसायन	:	पंचपंचमूल, हरीतकी, स्वर्ण आदि
(ii) मेध्य रसायन	:	अमृता, शंखपुष्पी आदि

8. सात्त्विक—आहार-विहार

9. सत्त्वाजय—आश्वासनादि चिकित्सा

10. दैव व्यापाश्रय—चिकित्सा

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जनम्

2. वेगकालीन चिकित्सा—
- (i) तीक्ष्ण, प्रधमन नस्य
 - (ii) सर्वाङ्ग अभ्यंग/स्वेदन
 - (iii) शीत जल सिंचन
 - (iv) कोष्ठ शुद्धि

3 वेग गमन के पश्चात् : शमन चिकित्सा

(i) प्रातः सायम्

वातकुलान्तक रस	:	125 मि.ग्रा.
प्रवाल पिण्ठी	:	250 मि.ग्रा.
वचा चूर्ण	:	500 मि.ग्रा.
मधु से		1×2 मात्रा

(ii) भोजनोत्तर

सारस्वतारिष्ट	:	20 मि.ली.
अश्वगन्धारिष्ट	:	20 मि.ली.
समभाग जल से		1×2 मात्रा
(iii) ब्राह्मी वटी (सादा)	:	2 वटी × तीन मात्रा
(iv) ब्राह्म रसायन	:	20 ग्राम

दूध से

(v) रात्रि

पंचसकार चूर्ण	:	2 ग्राम
कोण्ठ जल से		एक मात्रा

(vi) सात्त्विक आहार-विहार

(vi) सत्त्वाजय-आश्वासन आदि चिकित्सा

(vi) दैवव्यापाश्रय चिकित्सा

पथ्यापथ्य

योषापस्मार के रोगी में युक्ति पूर्वक निम्न पथ्यापथ्य का प्रयोग कराना हितकर है-

पथ्य

आहार

गेहूँ, शाली चावल, मूंग, मोंठ, मुनका,	चंक्रमण, रमणीय स्थान गमन,
अनार, नारियल, पेठा, पटोल (परवल)	मनोविनोदकर भाव, सहानुभूतिपूर्ण
शिग्गु (सहजन) आदि।	माहौल, मधुर वचन आदि।

अपथ्य

आहार

गुरु-अम्ल-तीक्ष्ण पदार्थ, उण्ण पदार्थ,	कामुक चल चित्र-साहित्य, वेग धारण
अभिष्वन्दी पदार्थ, विदाही, विवन्ध-	आदि।

कारक पदार्थ आदि।

विहार

Latest Developments
Hysteria

Hysteria is a mental disorder, usually temporary presenting with somatic symptoms, simulating almost any type of physical disease symptoms include emotional instability, various sensory disturbances, and a marked craving for sympathy which sometimes leads to fraud.

The causes of this disorders are variable, but may be related to emotional and physical stress.

Management : Principles

- (i) The patient should be put in a quiet place devoid of spectators.
- (ii) Cold applications over the head, face and neck are helpful.
- (iii) Quiet, firm suggestions are important.
- (iv) Sedatives are to be used, only under the direction of a qualified physician.

...३०५०५०००

अध्याय-46

स्मरोन्माद (कामोन्माद) (SEXUAL INSANITY)

व्याधि परिचय

जब दोष उन्मार्गगमी होकर मनोविभ्रम को उत्पन्न करते हैं तब इस कामजन्य उन्माद को कामोन्माद कहा जाता है। सत्त्व गुण की कमी व रज-तम दोष की अधिकता से मानस व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। जब किसी इच्छित स्त्री से संभोग की तीव्र लालसा का विघात हो जाता है तो इस स्थिति को कामातुर व्यक्ति सहन नहीं कर पाता है जिसके परिणामस्वरूप वह भय, लज्जा, शील व सदाचार को छोड़कर पागलपन का शिकार हो जाता है जिसे स्मरोन्माद कहते हैं।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. माधव निदान परिशिष्टम् अथ स्मरोन्मादनिदानम्।

निदान^१—स्मरोन्माद (कामोन्माद) के प्रमुख कारण निम्नानुसार हैं—

- | | |
|--|---------------------------------------|
| (i) पुरुषों को प्रेयसी स्त्री की अप्राप्ति | (ii) स्त्रियों को प्रेमी की अप्राप्ति |
| (iii) शुक्रदोष | (iv) रजो दोष |
| (v) मूत्रेन्द्रिय दोष-जननेन्द्रिय दोष | (vi) वायु प्रकोप |

लक्षण^२—स्मरोन्माद रोग से पीड़ित स्त्री व पुरुष में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

- | | | |
|--------------------|-----------------------------|------------|
| i. स्तब्धता | ii. प्रलाप | iii. कम्पन |
| iv. श्वासकृच्छ्रता | v. शरीर का पाण्डु वर्ण होना | |

1. “यशोन्मादः प्रायशः पुरुषस्याप्राप्तेः प्रेयस्याश्च रेतोविकारात्।
किंवोपस्थस्येन्द्रियस्यापि दोषाद् वैगुण्याद्वा मास्तस्यात्र वैरस्यात्॥
अनेन प्रकारेण नार्या यदि स्यादवासेरभावात् प्रियस्यापि पुसः।
अथोन्माद एभिनिमित्तैः पुरोक्तैः स एवोदितोऽत्रस्मरोन्मादरोगः॥”

2. “स्मरोन्मादरोगे भवेत्तत्व्यताऽथ प्रलापस्तथा कम्पनं श्वास एव।
तनौ पाण्डु। रोदनं चाप्यर्थैर्य परं चिन्तनं प्रेयसो वा प्रियायाः॥”

(मा.नि.परिशिष्टम् स्मरोन्माद निदानम्/1-2)

(मा.नि.परिशिष्टम् स्मरोन्माद निदानम्/3)

स्मरोन्माद (कामोन्माद)

- | | | |
|--------------|-----------------------|------------------------------|
| vi. रोदन | vii. अधीरता | viii. प्रेयसी/प्रियतम चिन्तन |
| ix. कामातुर | x. चंचल मन | xi. अश्लील चेष्टायें |
| xii. अनिद्रा | xiii. नेत्र रक्त वर्ण | |

स्मरोन्माद की दश दशाएँ।

माधवनिदान नामक ग्रन्थ में स्मरोन्माद की निम्न दश अवस्थाओं का वर्णन किया गया है—

प्रथम—नेत्रों द्वारा प्रेम होना।

द्वितीय—प्रेमी/प्रेमिका की ओर चित्त की आसक्ति।

तृतीय—प्रेमी/प्रेमिका के बारे में संकल्प-विकल्प आना।

चतुर्थ—निद्रानाश

पंचम—कृशता (धातुक्षय)

षष्ठम्—प्रत्येक इन्द्रिय की अपने-अपने विषयों के भोग करने से निवृत्ति।

सप्तम्—लज्जानाश

अष्टम—उन्माद

नवम—मूर्च्छा

दशम—मृत्यु

इन दशाओं से वे ही लोग आक्रान्त होते हैं जो हीन सत्त्व तथा दुर्बल चित्त वाले होते हैं।

चिकित्सा सूत्र

i. निदान परिवर्जनम्

ii. जिस कारण से स्मरोन्माद रोग उत्पन्न हुआ हो उसके प्रति मन में द्वेष उत्पन्न करा देना अथवा

iii. प्रेमी का प्रेमिका का साहचर्य करा देना

vi. शुक्र व रजो दोष की चिकित्सा

v. वातशामक चिकित्सा

1. “आदौ चक्षुः प्रीतिरुक्ता ततः स्याच्चिन्ताऽसक्तिशाथ संकल्प एव।

निद्राच्छेदः काश्यताऽथो निवृतिर्भोगात्सर्वस्मात्सदैवेन्द्रियाणाम्॥

लज्जानाशोन्माद मूर्च्छाश्च मृत्युहैता: संछातादशास्तु स्मरस्य।

अक्राम्यन्ते चाभिरत्यल्पसत्त्वा लोका अस्मिन् दुर्बलात्मान एव॥”

(मा.नि.परिशिष्टम् स्मरोन्माद निदानम्/4-5)

चिकित्सा

I. औषध योग

(i)	प्रातः सायंम्	
	बृहद् वज्ञे शर रस	: 125 मि.ग्रा.
	अथवा	
	प्रवाल भस्म	: 250 मि.ग्रा.
	स्वर्णवज्ञ भस्म	: 125 मि.ग्रा.
	अश्वगंधा चूर्ण	: 1 ग्राम
	मधु से	1×2 मात्रा
(ii)	शिलाजत्वादि वटी	: 2 वटी × तीन मात्रा
(iii)	मदनान्द मोदक	: 2 ग्राम
	दुध से	1×2 मात्रा

II. आश्वासन चिकित्सा

III. सत्वाजय चिकित्सा

IV. पथ्यापथ्य चिकित्सा

पथ्य—लघु-सुपाच्य व वातानुलोमक सात्विक आहार

अपथ्य—भर्त्तना, मनोऽभिधात, तीक्ष्ण, अम्ल, लवण, कटु द्रव्य तामसिक, मांसाहारी आहार।

••• शुभे शुभे •••

अध्याय-47

बलात्कार

(RAPE)

परिचय

बल पूर्वक जवरदस्ती किसी का अत्कार करना ही बलात्कार कहलाता है। भारतीय दण्ड संहिता के अनुसार निम्न अवस्थाओं में मैथुन 'बलात्कार' माना गया है—

- i. पुरुष की स्वपत्नि जिसकी उम्र 15 वर्ष से कम हो।
- ii. किसी भी लड़की से यदि उसकी उम्र 16 वर्ष से कम है।
- iii. 16 वर्ष से अधिक की स्त्री से उसकी इच्छा के विरुद्ध मैथुन
- iv. वेश्या की सहमति के बिना मैथुन करना

RAPE

Hetrosexual or Homosexual intercourse against the will of the victim. Rape trauma syndrome develops from rape or attempted rape of a male or female. Symptoms are

- I. Acute Phase—Fear, shame, humiliation, self blame, anger, desire to revenge etc.
- II. Long term (Chronic) Phase—Nightmares, chronic suspicion, anxiety neurosis, aversion to men/women, avoidance of sex, depression, phobias etc.

Management

- (i) The medical care of the rape victim must include appropriate antibiotic prophylactic treatment for sexually transmitted diseases (STD).
- (ii) Prophylaxis against Hepatitis B within 24 hours of exposure.
- (iii) HIV testing at monthly intervals for atleast 6 months should be stressed.
- (iv) Medication to prevent pregnancy may be given e.g. Pill 72. Emergency goli.
- (v) Psychological, supportive treatment may be given.
- (vi) Positive self-perception and self esteem are prompted and supported.

••• शुभे शुभे •••

अध्याय-48

अप्राकृतिक मैथुन (UNNATURAL SEX)

परिचय

यौन सम्बन्धी अपराध अन्तर्गत अप्राकृतिक मैथुन में निम्न मैथुन का समावेश किया जाता है—

(i) गुद मैथुन (Sodomy)

जब एक पुरुष किसी दूसरे पुरुष, स्त्री अथवा बच्चे के साथ गुदा प्रदेश में लिङ्ग प्रवेश करता है तो इसे गुद मैथुन कहा जाता है। इसमें प्रवेश करने वाला (सक्रिय) तथा प्रवेश कराने वाला (निष्क्रिय) दोनों ही अपराधी हैं। यह मैथुन पश्चिमी देशों में अधिक प्रचलित है।

(ii) हस्त मैथुन (Masturbation)

यह अप्राकृतिक मैथुन न्यायालय द्वारा दण्डनीय नहीं है। हस्तमैथुन का आशय यौन उत्तेजना प्राप्त करने के लिये कर्त्ता का खुद अपने हस्त की सहायता लेना है। यह आदत बाल्यावस्था में गलत संगति में लग जाती है। कौमारावस्था में गलत-कामुक साहित्य व चलचित्र (टीवी, सिनेमा, इन्टरनेट आदि) दर्शन इसके कारण हैं। हस्त मैथुन से ग्रस्त व्यक्ति में निम्न लक्षण पाए जाते हैं—

- i. मानसिक व्यथा (Mental Disturbances)
- ii. पागलपन (Insanity)
- iii. अपस्मार (Epilepsy)
- vi. मूर्छा (Syncope)
- v. अल्प बुद्धि (Low I.Q.)
- vi. स्मृति नाश (Weak Memory)
- vii. असन्तोष (Unsatisfaction)
- viii. अवसाद (Depression)
- ix. शर्म-ग्लानि (Shame)

- x. एकान्त प्रियता (Loneliness)
- xi. झेंपुपन (Phobias)
- xii. चिड़िचिड़ापन (Irritability)
- xiii. बार-बार मूत्र प्रवृत्ति (Increased frequency of micturition)
- xiv. नेत्रों का अन्दर धँसना व चारों ओर कालिमा होना आदि (Sunken eyes and dark circles around eyes) etc.

(iii) स्त्री समलैंगिकता (Lesbianism)

यह भी एक प्रकार का अप्राकृतिक मैथुन जन्य यौनमनोगत विकार है। इसमें दो स्त्रियाँ कामेच्छा की संतुष्टि के लिये शारीरिक आलिङ्गन के द्वारा अपनी जननेन्द्रिय परस्पर रगड़ती हैं।

Lesbianism

Sexual desire of women for one of their own sex. It was named for the Island of Lesbos, where the practice of lesbianism was reputed to have been wide spread in ancient days.

(iv) पुरुष समलैंगिकता (Homosexuality)

जब एक पुरुष किसी दूसरे पुरुष के जननाङ्गों पर अपने जननाङ्गों का घर्षण कर कामेच्छा पूर्ति करता है तो इसे 'समलैंगिकता' कहते हैं। इसे 'यौन विपरीतता' भी कहा जाता है। पाश्चात्य देशों में दो पुरुषों के बीच विवाह करना सामान्य सा हो गया है। कम उम्र के व्यक्तियों व उच्चवर्गीय बुद्धि जीवियों जैसे-चिकित्सक, वैज्ञानिक, साहित्यकार, कलाकार, नाटककार, संगीत-प्रेमियों में यह विकृति अधिक पाई जाती है।

Homosexuality

A condition in which the libido is directed toward one of the same sex.

(v) पशु मैथुन (Bestiality)

मनुष्य द्वारा जानवरों (यथा-बकरी, घोड़ी, कुत्ती, गाय, गधी आदि) की योनि में मैथुन करना 'पशुमैथुन' कहलाता है। यदि स्त्री द्वारा पशु मैथुन किया जाता है तो वह प्रायः कुत्ते, बन्दर का प्रयोग करती है।

Bestiality

The use of animals for the purpose of sexual enjoyment.

(vi) मुख मैथुन (Oral Sex)

पुरुष या स्त्री द्वारा अपने मुख से विपरीत लिङ्ग के व्यक्तियों के जननाङ्गों को रगड़ना ही मुख मैथुन है। यह भी एक प्रकार का यौनमनोगत विकार है।

'अन्य यौनमनोगत विकार'

उपर्युक्त यौनमनोगत विकारों के अतिरिक्त अन्य यौन मनोगत विकार निम्नानुसार है—

- Gender Identity Disorder
- Trans Sexualism
- Paraphilia

i. Gender Identity Disorder

A disorder marked by a strong cross-gender identification and a persistent discomfort with the biologically assigned sex. Generally, adults with the disorder are preoccupied with the wish to live as a member of the other sex; This often impairs the social occupational or other type of functioning.

ii. Trans Sexualism

The condition of being of a certain definite sex (i.e. male or female) but feeling and acting as if a member of the opposite sex. Such individuals seek medical and surgical assistance to alter their anatomical characteristics so that their anatomy would more nearly match their feelings about their true sexuality.

iii. Paraphilia

A Psychosexual disorder in which unusual or bizarre imaginary (काल्पनिक) or acts are necessary for realization of sexual excitement. Included in this disorder are—

- Bestiality
- Fetishism
- Transvestism
- Zoophilia
- Pedophilia
- Exhibitionism
- Voyeurism
- Sexual Masochism
- Sexual Sadism
- a) Bestiality—The use of animals for the purpose of sexual enjoyment.

- Fetishism**—Erotic stimulation or sexually arousing fantasies involving contact with nonliving objects such as article of dress or a braid of hair.
- Transvestism**—The desire to dress in the clothes of and be accepted as a member of the opposite sex.
- Zoophilia**—The preference for obtaining sexual gratification by having intercourse or other sexual activity with animals.
- Pedophilia**—An unnatural desire for sexual relationship with children.
- Exhibitionism**—A psychoneurosis manifesting itself in an abnormal impulse that causes one to expose the genitals to a person of either sex but usually of the opposite sex.
- Voyeurism**—The experiencing of sexual gratification by observing nude persons or the sexual activity of others.
- Sexual Masochism**—Sexual excitement produced in an individual by being humiliated or hurt by another.
- Sexual Sadism**—Conscious or unconscious sexual pleasure desired from inflicting mental or physical pain on others.

अप्राकृतिक मैथुन एवं अन्य

यौन मनोगतविकारों की सामान्य चिकित्सा सूत्र

- रोगी को सम्बन्धित विषय की सम्पूर्ण जानकारी देना (Education/Counselling of the Patient)
- आश्वासन चिकित्सा (Assurance Therapy)
- सत्वाजय चिकित्सा
- भावनात्मक परिवर्तन
- नियमित व्यायाम
- योगभ्यास
- प्राणायाम
- सात्त्विक आहार-विहार आदि

...लौटे जा...

मूत्रवह स्नोतस् की व्याधियां

सप्तम खण्ड

मूत्रवह स्नोतस् की व्याधियां

परिचय

अन्न व शरीर के द्रव किट्ठ भाग (मूत्र) को शरीर से बाहर निकालने वाल स्नोतस् को मूत्रवह स्नोतस् कहा जाता है। आहार का सार भाग रस बन जाता है और सार रहित भाग द्रव रूपीय मल होता है, उस द्रवरूपीय मल का जलीय भाग सिराओं के द्वारा बस्ति में पहुंचाया जाता है अर्थात् बस्ति में द्रवरूपीय मल भाग की 'मूत्र' संज्ञा होती है।

व्यान वायु के द्वारा रस धातु का बड़ा अंश निरन्तर वृक्कों में पहुंचता रहता है तथा मूत्र का निर्माण होता रहता है^१ जिसे अपान वायु द्वारा समय समय पर निकाला जाता है^२। अतः मूत्रवह स्नोतस् से मुख्यतः मुख्य रूप से वृक्कों की मूत्र निर्माण इकाइयों (Nephrons) का ग्रहण किया जाना उचित होगा।

मूत्रवह स्नोतस् के मूल^३

आचार्य चरक ने मूत्रवह स्नोतस् का मूल बस्ति और वंक्षण कहा है—तथा आचार्य सुश्रुत ने मूत्रवह स्नोतस् के मूल बस्ति एवं मेढ़ प्रदेश को कहा है^४।

बस्ति का अर्थ वहां वृक्क (Kidneys), गवीनियां (Ureters), मूत्राशय (Urinary bladder) लिया जाना उचित प्रतीत होता है। मेढ़ से तात्पर्य मूत्रेन्द्रिय (Penis) से लिया जाता है।

मूत्रवह स्नोतो दुष्टि के हेतु^५

मूत्रवह स्नोतस् के दुष्टि हेतु निम्न प्रकार हैं—

1. मूत्र के वेग रोककर अतिमात्रा में जल पीने से।
 2. वेग उपस्थित होने पर भोजन करना।
 3. अतिमैथुन करने से एवं मूत्र वेग उपस्थित होने पर मैथुन करने से।
-
1. “आहारस्य रसः सारः सारहीनो मल द्रवः। सिरभिस्तज्जलं नीतं बस्तौ मूत्रत्वमानुयात्॥”
(शा.स. पूर्वखण्ड 6/6)
 2. “व्योन रसधातुर्हि विक्षेपोच्चित कर्मणा।” (च.चि. 15/36)
 3. “अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशक्तिं च॥” (च.चि. 28/10)
 4. “मूत्रवहानां स्नोतसां बस्तिमूलं वंक्षणीं च।” (च.चि. 5/8)
 5. “मूत्रवहे द्वे तयोर्मूलं बस्तिं मेढ़ं च।” (सु.शा. 9)
 6. “मूत्रितोदक भृश्य स्त्रीसेवनामूत्रान्ग्रहात्। मूत्रवाहिनो दूष्यन्ति क्षीणस्याभिक्षतस्य च॥”
(च.चि. 5/20)

4. शरीर के क्षीण होने पर।
5. मूत्रालाही स्नोतस् पर आघात लगने या क्षत होने से।
मूत्रवह स्नोतो दुष्टि के लक्षण^६—मूत्रवह स्नोतस् के दुष्टि होने होने पर निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—

1. कठिनता से थाड़े-थोड़े मूत्र का बार-बार त्याग।
2. मूत्र त्याग के समय वेदना (Painful micturition)
3. शिशन, गुदा, वंक्षण, बस्ति एवं नाभि प्रदेश में शूल (Pain in penis, anus & lower abdomen)

आचार्य सुश्रुत ने भी उपरोक्त लक्षणों का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त बस्ति एवं मूत्राशय फूला रहना भी बताया है^७।

मूत्रवह स्नोतो दुष्टि जन्य व्याधियां—मूत्रवह स्नोतो दुष्टि जन्य व्याधियां निम्न हैं—

1. मूत्र कृच्छ्र
2. मूत्राघात
3. मूत्राशमरी या अशमरी

इन व्याधियों का वर्णन आगे सविस्तार किया जा रहा है।

•••८०८०•••

-
1. “प्रदुष्टनां तु खल्येषामिदं विशेषज्ञानं भवति। तदथा अतिसृष्टप्रतिबद्धं प्रकुपितमल्पमभीशं वा बहलं सशूलं मूत्रयन्तं दृष्टा मूत्रवहन्यस्य स्नोतासि प्रदुषानीति विद्यात्।” (च.वि. 57)
 2. “मूत्रस्य वेगेऽभिहते नरस्तु कृच्छ्रेण मूत्रं कुरुतेऽल्पमल्पम्।
मेढ़े गुदेवक्षणबस्तिमुक्तनाभि प्रदेशेष्वथाऽपि मूर्ध्नि॥
आनन्दवस्तिश्च भवन्ति तीव्राः शूलाद्य शूलैरिव भिन्नमूर्ध्ने॥” (सु.उ. 55/9-10)

मूत्रकृच्छ्र

अध्याय-49

मूत्रकृच्छ्र (DYSURIA)

व्याधि परिचय

“मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुखेन प्रवृत्तिः ।” (मधुकोश) अर्थात् जिस रोग में मूत्र की अत्यन्त कष्ट के साथ प्रवृत्ति होती है उसे मूत्रकृच्छ्र कहते हैं। यह लक्षण अनेक रोगों में मिलता है। आचार्य चरक ने त्रिमर्मीय चिकित्सा अध्याय में मूत्रकृच्छ्र एवं मूत्राघात का वर्णन किया है। मूत्रकृच्छ्र में कृच्छ्रता के साथ मूत्र विवन्धता (Obstruction) भी होती है तथा मूत्राघात में केवल मूत्रविवन्धता होती है। आचार्य वागभट्ट ने मूत्रकृच्छ्र व मूत्राघात का वर्णन एक साथ ही किया है।

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

1. “यत्र रोगे कृच्छ्रेण मूत्रयते, तत् मूत्रकृच्छ्रम्।” अर्थात् मूत्र का अत्यन्त पीड़ा के साथ प्रवृत्त होना मूत्रकृच्छ्र है।
2. “मूत्रे कृच्छ्रमत्र, इति मूत्रकृच्छ्रम्।” (अमर रामाश्रमी 2/6/56)

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 26
2. सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र-अध्याय 59
3. अष्टांग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 59
4. अष्टांग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 11
5. माधव निदान-अध्याय 30
6. भाव प्रकाश-अध्याय 35

निदान

मूत्रकृच्छ्र के भासान्य निदान निम्न प्रकार हैं-

1. व्यायाम
2. तीक्ष्णौषध का सेवन
3. रुक्ष मध्य का नेवन
4. शीघ्र गति वाले घोड़े या यान की सवारी

5. आनूप मांस का अधिक सेवन

7. अजीर्ण

सम्प्राप्ति²

6. अथ्यशन

8. अभिघात (Trauma)¹

उपर्युक्त निदानों के सेवन से प्रकुपित दोष मूत्रमार्ग में स्थान संत्रय कर मूत्रप्रवृत्ति में बाधा उत्पन्न करते हैं। मूत्रवह स्रोतस् अर्थात् वस्ति एवं मूत्र पथ में दोषों के द्वारा विकृति उत्पन्न होने से मूत्र त्याग के समय कष्ट होता है।

सम्प्राप्ति चक्र

निदान सेवन



वातादि दोष प्रकोप (वातप्रधान)



मूत्रवह स्रोतस् में स्थान संत्रय



मूत्रमार्ग में क्षोभ



मूत्रकृच्छ्र

सम्प्राप्ति घटक

दोष - त्रिदोष (वात प्रधान)

दूष्य - मूत्र, जल

स्रोतस् - मूत्रवह स्रोतस

अधिष्ठान - वस्ति, मूत्रमार्ग

स्रोतोद्युषि - संग

स्वभाव - आशुकारी

साध्यासाध्यता - साध्य

मूत्रकृच्छ्र के भेद

आचार्यों ने मूत्रकृच्छ्र के निम्न आठ प्रकार वर्णित किये हैं-

1. वातज मूत्रकृच्छ्र
2. पित्तज मूत्रकृच्छ्र
3. कफज मूत्रकृच्छ्र
- .. सत्रिपातज मूत्रकृच्छ्र
5. अभिघातज मूत्रकृच्छ्र
6. शकृतज मूत्रकृच्छ्र

1. “व्यायामती गौषधरूक्षमद्य प्रसङ्गनित्यद्रुत प्रष्टयानात्।

आनूपमत्स्याध्यशनादजीर्णत् स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृमिहाणौ ॥” (च.चि. 26/32)

2. “पृथक् मला: स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य बतौ।

मूत्रमार्ग परिपोद्यन्ति यदा तदा मूत्रयतोह कृच्छ्रात्॥” (च.चि. 26/33)

7. अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र
आचार्य चरक ने शकृतज मूत्रकृच्छ्र के बदले में शुक्रज मूत्रकृच्छ्र का उल्लेख किया है तथा शकृतज मूत्रकृच्छ्र को वातज मूत्रकृच्छ्र में समाविष्ट किया है। आचार्य सुश्रुत ने अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र में शुक्रज मूत्रकृच्छ्र का समावेश किया है। आचार्य माधवकर ने शर्कराज मूत्रकृच्छ्र का अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र में समावेश किया है।
8. शर्कराज मूत्रकृच्छ्र

सामान्य लक्षण¹

मूत्रकृच्छ्र का सामान्य लक्षण अत्यन्त कष्ट के साथ रुक-रुक कर बार-बार मूत्र की प्रवृत्ति होना है।

मूत्रकृच्छ्र के भेदानुसार विशिष्ट लक्षण

मूत्रकृच्छ्र के विभिन्न भेदों के विशिष्ट लक्षण निम्नानुसार हैं-

1. वातिक मूत्रकृच्छ्र के लक्षण²

- वंक्षण, वस्ति एवं मेढ़ में तीव्र वेदना। (Acute pain in lower abdomen and penis)
- बार-बार अल्पमात्रा में मूत्र त्याग। (Increased frequency & decreased quantity of urine)
- रोगी वृषण, वस्ति एवं शिशन को दबाता है।

2. पैचिक मूत्रकृच्छ्र के लक्षण³

- मूत्रेन्द्रिय एवं वस्ति में दाह (Burning in bladder & penis)
- बार-बार पीत, हरित, रक्त वर्ण का मूत्र अल्पमात्रा में त्याग।
- रुजा के साथ मूत्र प्रवृत्ति (Painful micturition)
- दाह युक्त अति ऊष्ण मूत्र प्रवृत्ति (Burning micturition)

3. कफज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण⁴

- वस्ति, अण्डकोष एवं मूत्रेन्द्रिय में भारीपन (Heaviness in bladder, testis & penis)
- वस्ति, अण्डकोष एवं मूत्रेन्द्रिय में शोथ (Swelling over bladder, testis & penis)
- पिच्छिल-स्तिघ्न, शुक्लवर्ण का शीत मूत्र त्याग (Oily, sticky, white

- "मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दूःखेन प्रवृत्ति।" (मधुकोश)
- "तीव्रातिरिक्तशणवस्ति मेढ़े स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात्।" (च.चि. 26/34)
- "पीतं सरकं सर्वजं सदाहं कृच्छ्रं मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात्।" (च.चि. 26/34)
- "वस्ते सरकिङ्गस्य गुरुत्वशोथो मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे।"

coloured & cold Urine)

- रोमहर्ष (Horripilation)
- सकष्ट मूत्र त्याग (Painful micturition)
- सन्त्रिपातज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण¹
तीनों दोपां के मिश्रित लक्षण मिलते हैं-
 - सर्वांग दाह (Burning in body)
 - शीत प्रतीति (Rigors)
 - वेदना (Pain in lower abdomen)
 - तमःप्रवेश (Darkness in front of eyes)
 - बार-बार विविध वर्ण का मूत्र त्याग (Multi coloured urine & increased frequency)
 - कष्ट पूर्वक मूत्र प्रवृत्ति (Painful micturition)
- अभिघातज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण²
मूत्रवाही स्रोतों में आँयन्तर शल्य से अथवा वाहा आघात लगने से क्षत होने पर भयंकर मूत्रकृच्छ्र होता है। इसके लक्षण वातिक मूत्रकृच्छ्र के समान होते हैं जो निम्न प्रकार हैं-
 - वस्ति में तीव्र वेदना (Acute pain in bladder)
 - वस्ति का फूलना (Distention of bladder)
 - वस्ति प्रदेश में भारीपन (Heaviness in bladder)
- शकृतज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण³
मल के वेग को रोकने से वायु विलोम होकर शकृतज मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न करती है। इसके निम्न लक्षण हैं-
 - आध्मान (Flatulence)
 - उदर शूल (Pain in abdomen)
 - मूत्रावरोध (Obstruction of urine)
- अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण⁴
जिस मूत्रकृच्छ्र का कारण अश्मरी होती है उसे अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र कहते हैं। अश्मरी जब मूत्रमार्ग में गति करती है तब बहुत वेदना होती है। इसके निम्न लक्षण वर्णित हैं-
 - "सर्वाणि रूपाणि तु सात्रिपाताद् भवन्ति तत्कृच्छ्रतम् हि कृच्छ्रम्॥" (च.चि. 26/35)
 - "मूत्रवाहिषु शल्येन क्षतेच्छभित्तेषु वा। मूत्रकृच्छ्रं तदापाताजायते भृशादारुणम्॥
वातकृच्छ्रेण तुल्यानि तस्य लिङ्गानि निर्दिशेत्॥" (मा.नि. 30/5)
 - "शकृतस्तु प्रतीघाताद्वायु विगुणितां गतः। आद्यमानं वातशूलं च मूत्रसङ्गं करोति च॥"
(मा.नि. 30/6)
 - "अश्मरी हेतु तत्पूर्व मूत्रकृच्छ्रमुदाहरेत्।"

1. हृद शूल (Chest pain)
2. कुक्षि एवं वस्ति प्रदेश में शूल (Pain in Lumbar region & Hypogastric region)
3. हस्तपाद कम्प (Tremors in Hands and Feet)
4. मंदाग्नि (Indigestion)

8. शुक्रज मूत्रकृच्छ्र के लक्षण (Stagnation of semen)

अपने स्थान से चुत हुआ शुक्र जब दोषों के प्रकोप से अवरुद्ध होकर मूत्रमार्ग में रुक जाता है तब निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं-

1. शुक्र सहित मूत्र त्वाग (Semen mixed urine)
2. कष्टदायक मूत्र त्वाग (Painful micturition)
3. वस्ति एवं मेंढ़ में पीड़ा (Pain in bladder & penis)
4. वृपण में स्तव्यता (Stiffness in testis)
5. वृपण शोथ (Oedema over testis)

चिकित्सा के सिद्धान्त

मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं-

1. वातज मूत्रकृच्छ्र में वातनाशक तैलों का अध्यंग स्लेह एवं निरुह वस्ति, उपनाह, उत्तरवस्ति, कटि प्रदेश पर वात नाशक तैलों या क्वाथ का परिषेक करना चाहिये¹।
2. पित्तज मूत्रकृच्छ्र में शीतल द्रव्यों के क्वाथ से परिषेक, अवगाह, प्रदेह एवं ग्रीष्म ऋतुचर्चाय का पालन करना चाहिये। साथ ही वस्ति, क्षीरपान एवं विरेचन का प्रयोग कराना चाहिये²।
3. कफज मूत्रकृच्छ्र में क्षार, ऊण, तीक्ष्ण एवं कटु रस वाले अन्त्रपान का सेवन, स्वेदन का प्रयोग, जौ के बने भक्ष्य पदार्थ का सेवन, निरुह वस्ति, तक्र प्रयोग एवं तिक्त द्रव्यों से सिद्ध तैल का अध्यंग एवं पान हितकर है³।
4. त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र में वात के स्थान का विचार करते हुए चिकित्सा करना चाहिये। यदि कफाधिक्य हो तो वमन, पित्ताधिक्य हो तो विरेचन एवं वाताधिक्य हो तो वस्ति का प्रयोग करना चाहिये⁴।

-
1. “अभ्यञ्जनमेहनिरुहवस्तिस्तेहोपानाहोत्तरवस्तिसेकान्। स्थिरादिभिर्वर्तहरैश्च सिद्धान् दद्याद्रसांशानिल मूत्रकृच्छ्रे ॥” (च.चि. 26/45)
 2. “सेकावगाहा: शिशिराः प्रदेहा ग्रेष्मो विधिवस्ति पयोविरेकाः। द्राक्षाविदारीक्षुसंसृतैश्च कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्याः ॥” (च.चि. 26/49)
 3. “क्षारोष्णांतीक्षणीयधमन्त्रानं स्वेदो यवान्त्रवमनं निरुहाः। तक्रं सतित्तौषधिसिद्धं तैलमयम्भूपानं कफमूत्रकृच्छ्रे ॥” (च.चि. 26/54)
 4. “सर्वत्रिदोषप्रभवे तु वायोः स्थानानुपर्वा प्रसमीक्ष्य कार्यम्। त्रिष्प्योऽधिके प्राणवमनं कफे स्थात् पित्ते विरेकः पवने तु वस्ति: ॥” (च.चि. 26/58)

5. अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र में अश्मरी भेदन व पातन करने के लिए चिकित्सा करने के साथ कफ एवं वायु से होने वाले मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा करना चाहिये¹।
6. शुक्रजन्य मूत्रकृच्छ्र में दोष प्राधान्य के अनुसार चिकित्सा करना चाहिये²।
7. अभिघातजन्य या क्षतज मूत्रकृच्छ्र में मधुर वार्ग के द्रव्यों से सिद्ध क्वाथ में मधु एवं मिश्री मिलाकर पीने दें वाथ ही इष्टु रस का सेवन करना हितकर है³।

चिकित्सा

मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा में प्रयुक्त संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्नानुसार है-

1. संशोधन चिकित्सा

- (i) स्लेहपान
- (ii) स्वेदन (अवगाह, परिषेक स्वेद)
- (iii) वमन
- (iv) विरेचन
- (v) वस्ति एवं उत्तरवस्ति

2. संशमन चिकित्सा

मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा में प्रयुक्त संशमन योगों का वर्णन निम्न अनुसार है-

1. रस/भस्म/पिष्ठी-मात्रा - 125 - 250 मि.ग्रा.

अनुपान - जल/शहद

- (i) चन्द्रकला रस-रक्पितोक्ता।
- (ii) श्वेत पर्षटी-नौसादर, कलमीसोरा, फिटकरी।
- (iii) मूत्रकृच्छान्तक रस-पारद, गंधक, नौसादर, स्वर्णभस्म, वैक्रान्त भस्म।
- (iv) तारकेश्वर रस-पारद, गंधक, लौह, वंग, अभ्रक, यवक्षार।
- (v) यवक्षार- यवक्षार।

2. वटी-मात्रा - 250 - 500 मि.ग्रा.

अनुपान - जल

- (i) चन्द्रप्रभा वटी-त्रिफला, त्रिमद, षडूषण, शिलाजीत, लौहभस्म, गुण्गुल द्विक्षार, त्रिलवण।
- (ii) वृक्षशूलान्तक वटी-कलमी सोरा, हिंगु, अकरकरा, पिपरमेण्ट।
- (iii) गोक्षुरादि गुण्गुल-गोक्षुर, यवक्षार, गुण्गुल, पुनर्नवा।
- (iv) हिंग्वादि वटी-हींग, अजमोद, काला नमक।

1. “क्रिया हिता साऽश्मरी शर्कराभ्यां कृच्छे यर्थवह कफानिलाभ्यां ॥” (च.चि. 26/59)

2. “रेतोदिभिघातप्रभवे तु कृच्छे समीक्ष्य दोषं प्रतिकर्म कुर्यात् ॥” (च.चि. 26/68)

3. “पिबेत् सिताक्षौद्रयुतानि खादेदिक्षुं विदारी त्रुपुणि चैव ॥” (च.चि. 26/73)

3. चूर्ण-मात्रा - 3 - 6 ग्राम

अनुपान - कोण्ठ जल

- (i) एलादि चूर्ण- एला, पापाणभेद, पिप्पली, शिलाजीत।
- (ii) यवक्षार चूर्ण- यवक्षार+शहद।
- (iii) यवक्षार कण्टकारी चूर्ण-यवक्षार, शर्करा का कण्टकारी स्वरस से पान।
- (iv) एर्वारुबीज योग-ककड़ी के बीज, मुलैठी चूर्ण, दारुहरिद्रा।
- (v) व्योषादि चूर्ण-त्रिकटु।
- (vi) हिंगुद्विरुत्तरादि चूर्ण-आनाहोक्त।

4. क्वाथ/आसव-अरिष्ट-मात्रा - 20 - 30 मि.ली.

अनुपान - जल

- (i) गोक्षुरादि क्वाथ-गोक्षुर।
- (ii) पुनर्नवादि क्वाथ-पुनर्नवा, गुडुची, गोक्षुर, एरण्ड।
- (iii) धात्र्यादि क्वाथ-धात्री, पापाणभेद।
- (iv) अमृतादि क्वाथ-लोध्र, शुण्ठी, आंवला, असगंध।
- (v) शतावर्यादि क्वाथ-शतावर, कुश, काश, गोक्षुर।
- (vi) पंचतृणमूलादि क्वाथ-कुश, काश, शर, दर्भ, काण्डेक्षु।
- (vii) त्रिकण्टकादि क्वाथ-गोक्षुर, अमलतास, दर्भ, कास, जवासा, पापाणभेद।
- (viii) पापाणभेदादि क्वाथ- पापाणभेद, मुलैठी, अडूसा, गोक्षुर।
- (ix) दुरालभादि क्वाथ-जवासा, पापाणभेद, हरड़, कण्टकारी, मुलैठी, धनिया।
- (x) पुनर्नवासव-पुनर्नवा, गोक्षुर, एरण्ड।
- (xi) चन्दनासव-रक्षपितोक।
- (xii) मधुकासव-महुआ, त्रिकटु, एरण्ड।

5. घृत-मात्रा - 10 - 30 मि.ली.

अनुपान - ऊण जल, दुग्ध

- (i) श्वदंष्ट्रा घृत-गोक्षुर, घृत।
- (ii) शतावरादि घृत-शतावर, कुश, काश, गोक्षुर, घृत।
- (iii) सुकुमार कुमार घृत-पुनर्नवा, शतावरी, दशमूल।
- (iv) त्रिकण्टकादि घृत-गोखरु, एरण्ड, तृणपंचमूल घृत।

आदर्श व्यवस्था पत्र

1. पर्यास मात्रा में जल सेवन कराएं।

2. प्रातः सांयम्

मूत्रकृच्छ्रान्तक रस- 250 मि.ग्रा.

श्वेत पर्पटी - 500 मि.ग्रा.

यवक्षार - 2 ग्राममधु से 1 × 2 मात्रा

भोजनोत्तर

गोक्षुरादिगुगुलु - 2 वटी × तीन मात्रा

पुनर्नवारिष्ट - 20 मि.लि.जल से 1 × 2 समभाग

4. दशमूल तैल से उत्तर वस्ति- 15 दिन

मात्रा - 20 - 40 मि.लि./वस्ति

पैचिक एवं रक्तज मूत्रकृच्छ्र

1. प्रातः सांयम्

चन्द्रकला रस- 250 मि.ग्रा.

श्वेत पर्पटी - 500 मि.ग्रा.

एर्वारुबीज चूर्ण - 2 ग्राममधु से 1 × 2 मात्रा

2. भोजनोत्तर

चन्द्रप्रभा वटी- 2 वटी × तीन मात्रा

चन्दनासव - 20 मि.लि.जल से 1 × 2 मात्रा

3. रात्रि में

अविपत्तिकर चूर्ण - 3 ग्राम

गर्म जल से एक मात्रा

4. इक्षु रस का सेवन कराना चाहिये।

5. इक्षु रस से उत्तर वस्ति देना चाहिये।

शकृतज मूत्रकृच्छ्र

1. प्रातः सांयम्

मूत्रकृच्छ्रान्तक रस-250 मि.ग्रा.

यवक्षार- 500 मि.ग्रा.जल से 1 × 2 मात्रा

2. भोजनोत्तर
हिंगुद्धिरुत्तर चूर्ण - 3 ग्राम
कोण्ठ जल से 1 × 2 मात्रा
3. रात्रि में
एरण्ड स्लेह - 20 मि.लि.
ऊष्ण जल से एक मात्रा

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र

1. प्रातः सांयम्
श्वेत पर्फटी- 500 मि.ग्रा.
शु. शिलाजीत- 500 मि.ग्रा.
एलादि चूर्ण- 3 ग्राम
मधु से 1 × 2 मात्रा
2. भोजनोत्तर
शतावर्यादि क्षाथ - 20 मि.लि.
सम जल से 1 × 2 मात्रा
3. रात्रि में
चन्द्रप्रभा वटी - 2 वटी
जल से एक मात्रा
4. स्त्री संभोग।

पथ्य एवं अपथ्य**पथ्य****आहार**

पुराणशालि, जांगल मांस रस, मुदग, शक्कर, स्वेदन, विरेचन, वस्ति, उत्तर वस्ति, मिश्री, मट्ठा, गोदुग्ध, पेटा, परवल, अति अम्बुपान, लिंगोंद्रिय पर कूर्पर ककड़ी, खरबूजा, तरबूज, खजूर, नारियल, पूरण आदि।
चौलाई, आंवला, पुनर्नवा, घी, कपूर आदि।

अपथ्य**आहार**

ऊष्ण, तीक्ष्ण, विदाही, मिर्चमसालेदार पदार्थ, विषम भोजन, ताम्बूल, मछली, नमक, अदरक, तिल, उड़द, खटाई, एवं बिष्टम्भ कारक पदार्थ आदि।

विहार**विहार****विहार**

मद्यपान, परिश्रम, मैथुनत्याग, हाथी-घोड़े की सवारी, ऊँट की सवारी, अति धूप सेवन आदि।

Latest Developments Dysuria

आधुनिक मतानुसार मूत्रकृच्छ्र से Dysuria का ग्रहण किया जा सकता है। इसे एक स्वतन्त्र व्याधि के रूप में न मानकर व्याधि के लक्षण के रूप में माना गया है। मुख्यतः Dysuria, Upper & Lower Urinary tract infection में मिलता है- जिसमें Painful micturition & burning micturition मुख्य लक्षण होते हैं। Acute sterile Urinary colic, subacute Urinary colic, Urinary calculosis, & Stagnation of semen में भी Dysuria main symptom होता है।

Causes

1. Acute & chronic UTI.
2. Stones, atonic bladder, Indwelling catheters.
3. Any congenital abnormality.

Management : Principles

1. To treat the main cause of Dysuria.
2. Increase intake of water.
3. Appropriate antibiotics.
4. Simple bland normal diet with Vitamin supplements.

• • • और • • •

मूत्राधात

अध्याय-50

मूत्राधात (RETENTION OF URINE)

व्याधि परिचय

सामान्यतः: मूत्राधात 13 प्रकार के मूत्र-अप्रवृत्तिज रोगों के समूह का नाम है। इनमें मूत्र विबन्धत्व प्रधान लक्षण है। आचार्य चरक एवं सुश्रुत ने केवल मूत्रसाद तथा मूत्रावरोध सम्बन्धी रोगों को 'मूत्राधात' में सम्मिलित किया है, परन्तु आचार्य वागभट्ट ने मूत्र कृच्छ्र एवं मूत्राधात को एक साथ ही वर्णित किया है।

जिस रोग में मूत्र त्याग करने में रुकावट तथा अवरोध उत्पन्न होता हो उसे मूत्राधात कहते हैं। इसमें मूत्रत्याग करने में कष्ट नहीं होता, किन्तु मूत्राधात में मूत्र का विवन्ध अधिक होता है। मूत्र कृच्छ्र में मूत्रत्याग में कष्ट अधिक होता है एवं कष्ट के साथ रुक-रुक कर मूत्र त्याग होता है, विवन्ध अल्प या नहीं होता है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, सिद्धि स्थान-अध्याय 9
2. सुश्रुत संहिता, उत्तर स्थान-अध्याय 58
3. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 9
4. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 11
5. माधव निदान-अध्याय 31
6. भाव प्रकाश-अध्याय 36
7. योगरत्नाकर (मूत्राधात चिकित्सा)

निदान¹

मूत्राधात के सामान्य निदान निम्न हैं-

1. मल-मूत्र व अपान वायु का वेग रोकना।
2. पुरीष एवं शुक्र के वेग को रोकना।
3. तीक्ष्ण औषध व अन्नपान सेवन।

1. "जायन्ते कुपितैदैपर्मूत्राधातस्त्रयोदशः। प्रायो मूत्र विघातादैर्वात कुण्डलिकादयः ॥"

4. रुक्ष पदार्थों का सेवन।
5. वात प्रकोपक आहार-विहार का सेवन।

सम्प्राप्ति¹

उपरोक्त निदानों के सेवन से कुपित हुए त्रिदोष मुख्यतया वात दोष, वस्ति प्रदेश में जाकर तेरह प्रकार के मूत्राधातों को उत्पन्न करते हैं।

सम्प्राप्ति चक्र



सम्प्राप्ति घटक

दोष—त्रिदोष, वात प्रधान

दूष्य—मूत्र

स्रोतस्—मूत्रवह स्रोतस्

अधिष्ठान—वस्ति

स्रोतोतुष्टि प्रकार—संग

स्वभाव—चिरकारी

साध्यासाध्यता—साध्य

भेद

आचार्य चरक ने 13 प्रकार के मूत्राधात, आचार्य सुश्रुत ने 12 प्रकार के मूत्राधात तथा

आचार्य वागभट्ट ने 20 प्रकार के मूत्राधात वर्णित किए हैं जो निम्न प्रकार हैं—

1. मूत्रसाद (Oliguria)
2. मूत्र जठर (Distended Bladder)
3. वात कुण्डलिका (Spasmodic Stricture)
4. अष्टोला (Enlarged Prostate)
5. वात वस्ति (Retention of Urine)
6. मूत्रातीत (Incontinence of Urine)

1. "मूत्रोक्तादो जठरः कृच्छ्रमुत्सङ्खसंक्षयौ। मूत्रातीतेऽनिलात्रोत्ता वात वस्त्युण्मारुतौ ॥
वातकुण्डलिका ग्रन्थिर्विघातो वस्तिकुण्डलम् ॥ त्रयोदशैते मूत्रस्य दोषास्तालिङ्गतः श्रुणु ॥"
(च.सि. 9/25-26)

7. मूत्रोत्सङ्गं (Stricture of Urethra)
8. मूत्रक्षय (Anuria)
9. मूत्रग्रंथि (Stone obstructing the neck of Bladder)
10. मूत्र शुक्र (Stagnation of Semen)
11. उर्णवात् (Urinary Infection)
12. विहित्वाधात् (Retention of Urine due to constipation)
13. वस्ति कुण्डल (Atonic Condition of Bladder)

आचार्य सुश्रुत एवं वाग्भट्ट ने वस्तिकुण्डल मानक मूत्राधात् नहीं माना है।

मूत्र कृच्छ्र-मूत्राधात् की संख्या गणना निम्न प्रकार है—

(i) चरक—8 मूत्र कृच्छ्र+13 मूत्राधात्+4 अश्मरी=25

(ii) सुश्रुत—8 मूत्रकृच्छ्र+12 मूत्राधात्+4 अश्मरी=24

(iii) वाग्भट्ट—20 मूत्राधात् (4 मूत्रकृच्छ्र+4 अश्मरी+12 मूत्राधात्)=20

सामान्य लक्षण

मूत्राधात् का सामान्य लक्षण मूत्र का विवर्ण (रुकना) है अर्थात् मूत्र का अवरोध होना परन्तु इसमें मूत्रकृच्छ्र भी थोड़ा बहुत अवश्य होता है।

मूत्राधात् के भेदानुसार विशिष्ट लक्षण—

तेरह प्रकार के मूत्राधातों का वर्णन निम्न है—

(1) मूत्रसाद का लक्षण^१—

वस्ति प्रदेश में वायु द्वारा पित्त या कफ अथवा पित्त-कफ दोनों का संघात होता है तब रक्त या पीले वर्ण का गाढ़ा मूत्र निकलता है इसे मूत्रोक्साद या मूत्रसाद कहते हैं। इसके लक्षण निम्न हैं—

1. श्वेत वर्ण का गाढ़ा मूत्र (White & Thick Urine)
2. गोरोचन तथा शंखभस्म के वर्ण का मूत्र (Whitish Urine)
3. अल्पमात्रा में दाहयुक्त मूत्रत्याग (Burning micturition)
4. मूत्र में जल की अल्प मात्रा (Oliguria)

(2) मूत्रजठर के लक्षण^२

मूत्र का वेग रोकने से, मूत्रवेग निरोधज उदावर्त के कारण अपान वायु प्रकुपित होकर उदर को फुला देती है जिससे निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—

1. नाभि के नीचे पेट का फूलना (Distension below Umbilicus)
2. आध्मान (Tympanitis)
3. तीव्र वेदना (Pain)
4. अपक्ति (Indigestion)

1. “सदाहं-श्वेत सांद वा सर्वैर्वा लक्षणैर्युतम्। मूत्रोक्सादं तं विद्यात् पित्तरलेप्त्वार्जयेत्॥”
(च.सि. 9/28)
2. “मूत्रस्य वेगाभिद्यते तदुदावर्तहेतुकः। अपानः कुपितो वायुरुदरं पूर्येद् भृशम्॥
नाभेरधस्ताध्मानं जनयेतीववेदनम्। तम्भूतजठरं विद्यादधोवस्तिनिरोधनम्॥” (सु.उ. 58)

5. मल-मूत्र अवरोध (Retention of urine & stool)

(3) मूत्रकृच्छ्र के लक्षण^३

मूत्र का वेग आने पर जो व्यक्ति विना मूत्र त्याग किए मैथुन में प्रवृत्त हो जाता है तब वही हुई वायु के द्वारा अपने स्थान से शुक्र मूत्र के पहले या बाद में निकलता है। इसके निम्न लक्षण होते हैं—

1. मूत्र त्याग के साथ शुक्र प्रवृत्ति (Micturition with Semen)

2. मूत्र का वर्ण भस्मोदक के समान होना (Grey coloured Urine)

(4) मूत्रोत्सङ्ग का लक्षण^४

मूत्रवाही स्रोतों की विकृति या वायु से मूत्र के खीर्चे जाने के कारण कुछ मूत्र मूत्रेन्द्रिय के छिद्र में ही रुक जाता है। रुक हुआ मूत्र कुछ समय बाद विना वेदना या अधिक वेदना के साथ निकलता है। इसके निम्न लक्षण हैं—

1. मूत्रेन्द्रिय में गुरुता (Heaviness in Penis)

2. मूत्र की धारा ठूट कर आना (Obstructed Urinary Flow)

3. वेदना या विन वेदना के थोड़े से मूत्र की प्रवृत्ति (Painful or Painless Micturition)

(5) मूत्र क्षय का लक्षण^५

वायु के द्वारा जब मूत्र का शोषण हो जाता है तो इसे मूत्र क्षय कहा जाता है इसके निम्न लक्षण हैं—

1. वस्ति में तोद (Pain in Bladder)

2. अल्पमूत्रता (Oliguria)

3. सदाह एवं सवेदना मूत्र प्रवृत्ति (Painful burning Micturition)

(6) मूत्रातीत का लक्षण^६

आए हुये मूत्र के वेग को बलात् देर तक रोके रहने पर पुनः मूत्र त्याग करते समय मूत्र का वेग शीघ्रता से नहीं निकलता। जब मूत्र में प्रवाहरण किया जाता है तब मन्द-मन्द

मूत्र का वेग शीघ्रता से नहीं निकलता। जब मूत्र में प्रवाहरण किया जाता है तब मन्द-मन्द
1. “मूत्रितस्य व्यवायातं रेतो वायोदातं च्युतम्। पूर्वं मूत्रस्य पश्चाद्वायाऽथ चातिल्लक्॥”
(च.सि. 9/32)

2. “ख्वैगुण्यानिलाक्षेत्रैः किञ्चिमूत्रं च तिष्ठति। मणिसंधौ ल्वते। पश्चात्दर्शवाऽथ चातिल्लक्॥”
मूत्रोत्सङ्ग स विच्छिन्नमुच्चेष्य गुरुशोक्षः।” (च.सि. 9/33)

3. “मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रे मूत्रवैवर्ण्यमेव च। पिपासा वाधते चास्य मुखं च परिशुष्यति॥”
(च.सू. 17)

4. “चिरं धारयते मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते। मेहमानस्य मंदं वा मूत्रातीतः स उच्यते॥”
(च.सि. 9/35)

धारा से मूत्र निकलता है। इसे मूत्रातीत कहते हैं। इसका निम्न लक्षण है-

1. प्रवाहण के साथ मूत्र त्याग करने पर मन्द वेग से मूत्र प्रवृत्ति होती है। (Slow passage of Urine after forceful exertion)
2. वस्ति प्रदेश में वेदना होती है। (Pan in Bladder)

(7) वाताष्टीला का लक्षण¹

प्रकुपित वायु जब वस्ति एवं गुदा को रोककर आधमान उत्पन्न करती हुई चल, उन्नत तीव्रवेदना युक्त अष्टीला रोग को उत्पन्न करती है तो उस अवस्था को वाताष्टीला कहते हैं।

1. मूत्र व मल मार्गों में रुकावट (Obstruction of Urine & feaces)
2. आधमान (Tympanitis)
3. तीव्र वेदना (Acute Pain)

(8) वात वस्ति का लक्षण²

मूत्र के वेग को रोकने का अभ्यास जिन व्यक्तियों को होता है उनमें वस्ति प्रदेश में कुपित वायु वातवस्ति रोग को उत्पन्न करती है। इसके निम्न लक्षण हैं-

1. मूत्र में रुकावट (Obstruction of Urine)
2. वेदना (Pain)
3. कण्डू (Itching)

(9) ऊष्ण वात का लक्षण³

पित के साथ कुपित वायु पित की ऊष्णा से मूत्र का शोषण करती हुई कठिनता से रक्त या पीतवर्ण का मूत्र त्याग करती है। इसे ऊष्णवात कहते हैं। इसके निम्न लक्षण हैं-

1. रक्त या पीतवर्ण का मूत्र त्याग (Reddish-Yellow Urine)
2. मूत्रेन्द्रिय व वस्ति में दाह (Burning in bladder & Penis)
3. मूत्रकृच्छ्र (Dysuria)

(10) वातकुण्डलिका का लक्षण⁴

मूत्र की गति में रुकावट होने से विगुण वायु की गति ऊपर हो जाने से विगुणित वायु मूत्रमार्ग व मूत्रस्थान में कुण्डली के समान होकर चलते हुए मूत्र की रुकावट कर देती है, उसे वातकुण्डलिका कहा है। इसके निम्न लक्षण हैं-

1. "आध्यापयन वस्तितुदं रुद्धवा वायुश्लोनाम्। कुर्यात्तीव्राति अष्टीलां मूत्रविष्मार्गोधिनाम्॥" (च.सि. 9/367)
2. "मूत्रं धारयतो वस्तौ वायुः कुद्धो विधारणात्। मूत्रोधार्तिकण्डूभिर्वाति वस्तिः स उच्यते॥" (च.सि. 9/37)
3. "ऊष्णा सोष्मकं मूत्रं शोषयन् रक्तपीतकम्। ऊष्णवातः सजेत् कृच्छ्राद्वस्त्युपस्थार्तिदाहान्॥" (च.सि. 9/37)
4. "गति सङ्कादुदावृत स मूत्रस्थानमार्गयोः। मूत्रस्य विगुणो वायुर्भग्नायाविद्व कुण्डली॥" (च.सि. 9/38)
5. "मत्रविहन्ति संस्तम्भपद्म गौरववेष्टनैः। तीव्ररुद्धमूत्रविद् सङ्गः वात कुण्डलिकेति सा॥" (च.सि. 9/39)

मूत्राधात

1. वस्ति प्रदेश में जकड़ाहट (Stiffness in Bladder)
2. वस्ति प्रदेश में टूटने सी पीड़ा (Cracking Pain)
3. वस्ति प्रदेश में भारीपन (Heaviness in Bladder)
4. तीव्र वेदना (Acute Pain in lower Abdomen)
5. मल-मूत्र की रुकावट (Retention of Urine and Faeces)

(11) रक्त ग्रंथि का लक्षण¹

वात तथा कफ से दूषित रक्त वस्ति द्वारा में आकर दारुण ग्रंथि को उत्पन्न करता है। ग्रंथि के द्वारा मूत्र मार्ग के रुक जाने से कठिनता से मूत्र त्याग होता है। इस के लक्षण निम्न हैं-

1. कठिनता से मूत्र त्याग (Difficult Micturition)
2. अश्मरी सम वेदना (Stone like pain)

(12) विद्विघात का लक्षण²

रुक्ष एवं दुर्बल व्यक्तियों में विकृत वायु के कारण जब ऊपर गया हुआ मल मूत्रवाही स्रोत में चला जाता है तो उसे विद्विघात कहते हैं। इसके निम्न लक्षण हैं-

1. कठिनता से मूत्र प्रवृत्ति (Difficult Micturition)
2. मलगंधी मूत्र त्याग (Passage of Urine with faecal smell)
3. मल मिश्रित मूत्र त्याग (Passage of Urine mixed with stools)

(13) वस्ति कुण्डल का लक्षण³

अति शीघ्र रास्ता चलने, लंघन, परिश्रम, आधातादि से वस्ति अपने स्थान से हट जाती है एवं गर्भ समान प्रतीत होती है। वस्ति प्रदेश को हाथ से दबाने पर मूत्र धारा के रूप में निकलने लगता है इसे वस्ति कुण्डल कहा है। आचार्य चरक ने इसे बहुत ही कठिन रोग कहा है तथा शस्त्र एवं विष के समान कहा है। इसके लक्षण निम्न हैं-

1. वस्ति प्रदेश में स्तम्भ (Stiffness in Bladder)
2. ऐंठन एवं पीड़ा (Twisting Pain)
3. दाह युक्त शूल (Painful Burning Micturition)

1. "रक्तं वातकफात् दुष्टं वस्तिद्वारे सुदारुणम्। ग्रंथि कुर्यात् स कृच्छ्रेण सज्जेन्मूत्रं तदवृत्तम्॥" अश्मरीसमशूलं तं रक्तग्रन्थिं प्रचक्षते॥" (च.सि. 9/41)
2. "रुक्षदुर्बलयोर्वातनोदावृतं शकृद्यादा। मूत्रं स्रोतः प्रपथत विद्संसृतं तदा नः॥" विद्गन्धं मूत्रयेत् कृच्छ्राद्विविधातं विनिर्विशेषतः॥" (च.सि. 9/42)
3. "हुताध्वनांधनायासैरभिधातात्रपीडनात्। स्वस्थानाद्विस्तर्स्वतः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवद्॥" शूलस्पद्नदाहातो बिन्दुं बिन्दुं स्वत्पर्विष्य। पीडितात्सु सृजेद्वारं संस्तम्भोद्देष्टनार्तिमान्॥" वस्तिकुण्डलमाहुस्तं धोरं शस्त्रविषोपमम्। पवनं प्रबलं प्राये दुर्निवारमयुद्धिभिः॥" (च.स. 9/44-46)

"तस्मिन्प्रत्यान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता। ऊष्णा गौरवं शोथः स्तिष्यं मूत्रं धनं सितम्॥" स्यादस्तौ कुण्डलीभूते तुष्मोहः शास एव च॥" (च.स. 9/47-48)

4. मूत्र वैवर्ण्य (Discolouration of Urine)
5. व्यासधिक्य (Polydypsia)
6. मोह (Confusion)
7. श्वास (Dyspnoea)

वस्ति कुण्डल की साध्यासाध्यता

- 1) पित्त की प्रबलता होने तथा कफ के द्वारा मूत्रमार्ग में अवरोध होने पर यह रोग असाध्य होता है।
- 2) मूत्रमार्ग बंद न होने या कुण्डलीकृत न होने पर मूत्राधात साध्य होता है।

चिकित्सा सिद्धान्त

मूत्राधात की चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार वर्णित हैं—

1. मूत्रोक्साद की चिकित्सा कफ-पित्त नाशक औषधियों द्वारा करनी चाहिये।
2. मूत्र जठर की चिकित्सा मूत्र विरेचनीय औषधियों से द्वारा करनी चाहिये।
3. मूत्राधात की चिकित्सा मूत्रकृच्छ्र नाशक चिकित्सा के समान करनी चाहिये।
4. मूत्राधात में उत्तर वस्ति का प्रयोग हितकारी है।
5. मूत्राधात के रोगी को स्नेहन स्वेदन कराकर स्निग्ध विरेचन देना चाहिये।
6. रोग जनक कारणों का त्याग करना चाहिये।
7. वात शामक आस्थापन एवं अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिये।
8. वातानुलोमन एवं उदावर्तहर चिकित्सा भी लाभकारी होती है।

चिकित्सा

मूत्राधात की संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्नानुसार वर्णित है—

(1) संशोधन चिकित्सा

1. स्नेहन
2. स्वेदन
3. स्नेह विरेचन
4. उत्तर वस्ति
5. आस्थापन एवं अनुवासन वस्ति

(2) संशमन चिकित्सा

मूत्राधात की संशमन चिकित्सा में प्रयुक्त विभिन्न शास्त्रीय योगों का वर्णन निम्नानुसार है—

1. "मूत्रोक्सादं तं विद्यात् पित्तरलेष्माहैरजयेत्।" (च.सि. 9/28)
2. "मूत्रविरेचनी तत्र चिकित्सा संप्रयोजयेत्॥" (च.सि. 9/30)

1. रस/भस्म/पिण्ठी

- | | |
|---------------------------|--------------------------------|
| मात्रा | : 125-250 मि.ग्रा. |
| अनुपान | : शहद |
| (i) शिलाजीत | : शु.शिलाजीत शहद+शर्करा के साथ |
| (ii) चन्द्रकला रस | : मूत्रकृच्छ्रोक्त |
| (iii) श्वेत पर्फटी | : मूत्रकृच्छ्रोक्त |
| (iv) मूत्रकृच्छ्रान्तक रस | : मूत्रकृच्छ्रोक्त |
| (v) तारकेश्वर रस | : मूत्रकृच्छ्रोक्त |

2. वटी/चूर्ण/व्वाथ/आसव-अरिष्ट—मूत्रकृच्छ्र में वर्णित समस्त वटी/चूर्ण व्वाथ/आसव-अरिष्ट मूत्राधात की चिकित्सा में भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं।

3. घृत/तैल

- | | |
|--|---|
| मात्रा | : 10-30 मि.ली. |
| अनुपान | : ऊण जल, दुग्ध |
| मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा में प्रयुक्त समस्त घृत योगों को मूत्राधात की चिकित्सा में भी प्रयोग कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य घृत योग निम्न हैं— | |
| (i) चित्रकाद्य घृतम् | : चित्रक, अनन्तमूल, बला, तगर, मुनक्का |
| (ii) विदारी घृतम् | : विदारीकंद, अदूसा, पायाणभेद, पुनर्नवा, वचा |
| (iii) भद्रावह घृतम् | : पाठा, पाटला श्वेतपुनर्नवा, विदारीकन्द |
| (iv) उशीराद्य तैलम् | : उशीर, तगर, कुछु, मुलैठी, चन्दन, विभीतक |
| (v) शिलोदभिदादि तैल | : तिल तैल, पायाणभेद, एरण्ड तैल, शालपर्णी |

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रातः सायंम्

- | | |
|----------------------|----------------|
| मूत्रकृच्छ्रान्तक रस | : 250 मि.ग्रा. |
| श्वेत पर्फटी | : 500 मि.ग्रा. |
| पुनर्नवा मण्डूर | : 500 मि.ग्रा. |
| प्रवाल पिण्ठी | : 500 मि.ग्रा. |
| मधु से | : 1×2 मात्रा |

2. भोजनोत्तर

- | | |
|-----------------|--------------|
| तृणपंचमूल व्वाथ | : 20 मि.ली. |
| जल से | : 1×2 मात्रा |

3. चन्दनादि वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
 4. गत्रि
 एरण्ड स्नेह : 20 मि.ली.
 कोण्ठ दूध से 1 मात्रा
 5. पंचकर्म
 उत्तर वस्ति : 10 दिन तक
 6. जल का प्रयोग पानार्थ अधिकाधिक करें एवं वेग धारण न करें।

पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार
 पुराण शालि चावल, दुग्ध, तक्र, दही, उड़द, जांगल पशुपक्षियों के मांसरस, कूप्पाण्ड फल, परबल का शाक, आद्रक, तिनीडीक, हरड़, नारियल सुपारी, खजूर आदि पथ्य हैं।

अपथ्य

आहार
 विरुद्ध भोजन, गुरु, अभिष्वन्दि, रुक्ष भोजन, करीर फल, विदाही भोजन, अति मिर्च मसालेदार भोजन आदि का सेवन अपथ्य है।

Latest Developments**Retention of Urine**

आधुनिक मतानुसार मूत्रावात का साम्य Retention of Urine से किया जा सकता है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं।

Management : Principles

1. To treat the main cause of retention.
2. Adequate fluid intake is must.
3. Diuretics.

••• ८० •••

मात्रा

वटी

मि.ली.

मात्रा

दिन

तक

पथ्य एवं अपथ्य

विहार

अध्यंग, स्नेह पान, विरेचन, वस्तिकर्म, स्वेदन, उत्तरवस्ति आदि पथ्य हैं।

विहार

अति व्यायाम, वेगधारण, मैथुन, अति मार्ग गमन, वमन आदि अपथ्य है।

अध्याय-51**अश्मरी****(URINARY LITHIASIS)****व्याधि परिचय**

आयुर्वेदीय संहिता ग्रंथों में अश्मरी का स्पष्ट उल्लेख है। आचार्य चरक ने त्रिमर्माय चिकित्सा अध्याय में अश्मरी का वर्णन किया है। जब मूत्रवह स्रोतस में पत्थर के दुकुड़े सम कोई वस्तु अटकती है तब मूत्रावरोध होने के साथ-साथ र्ख्यकर पीड़ा होती है, इसे 'अश्मरी' रोग कहते हैं। अत्यंत कष्टप्रद एवं दुश्चिकित्स्य होने से अश्मरी को 'यम' संज्ञा दी गई है। सुश्रृत संहिता में अश्मरी का बहुत वैज्ञानिक वर्णन उपलब्ध है, साथ ही अश्मरी निर्हरण के उपाय भी वर्णित किए गए हैं।

निरूक्ति/व्युत्पत्ति

"अश्मानं राति इति अश्मरी।" (अमरकोश 2/6/56)
 अर्थात् पत्थर जैसे स्वरूप की रचना को अश्मरी कहते हैं।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 26
2. सुश्रृत, निदान स्थान-अध्याय 3
3. सुश्रृत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 7
4. अष्टाङ्ग हृदय, निदान-अध्याय 9
5. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा-अध्याय 11
6. माधव निदान-अध्याय 32
7. भाव प्रकाश-अध्याय 37

अश्मरी के निदान— अश्मरी के निदान निम्न लिखित हैं-

1. शरीर का संशोधन नहीं करना।
2. कुपथ्य का सेवन करना।
3. शरीर में स्वतः कुछ ऐसी स्थितियां पैदा हो जाना जिससे अश्मरी का निर्माण होता है।
4. कफ वर्धक आहार-विहार सेवन।

1. "विशोषयेद्विस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपितं पवनः कफं वा।
 यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पितोच्चिव रोचनायोः॥
 नैकदोषाश्रयाः सर्वाः॥" (च.चि. 26/36)

सम्प्राप्ति^१

(1) आचार्य चरक के अनुसार, मूत्राशय में गए हुए शुक्र के साथ मूत्र को अथवा पित्त के साथ या कफ के साथ मूत्र को वायु सुखा देती है तब जिस प्रकार गौ के पित्त में गोरोचन बनता है उसी क्रम से वस्ति में अश्मरी बन जाती है।

(2) आचार्य सुश्रुत के अनुसार जब प्रकुपित श्लेष्मा मूत्राशय में प्रवेश करता है तब मूत्र से मिलकर अश्मरी की उत्पत्ति होती है^२।

सम्प्राप्ति चक्र



1, 2. "तत्रासंशोधनशीलस्यापथ्यकारिणः प्रकुपितः श्लेष्मा मूत्रसम्प्रकोऽनुप्रविश्य वस्तिं अश्मरी जनयन्ति ॥"
(सु.नि. 3/4)

सम्प्राप्ति घटक

दूष्य	मूत्र
स्नोतस्	मूत्रदह लोतस्
अधिष्ठान	दस्ति
स्नोतोदृष्टि	संग
स्वभाव	दारुण
साध्यासाध्यता	कृच्छसाध्य

भेद^१

आचार्यों ने अश्मरी के निम्न चार भेद बताये हैं—

1. वातज अश्मरी
2. पित्ताश्मरी
3. कफज अश्मरी
4. शुक्रज अश्मरी

पूर्वरूप^२

अष्टाङ्ग हृदयकार ने अश्मरी के निम्न पूर्व रूप वर्णित किये हैं—

1. वस्ति में आध्यान (Distention of Bladder)
2. वस्ति के चारों ओर पीड़ा (Pain in Lower Abdomen)
3. मूत्र में बकरे सी गंध (Passage of urine with Goats urine smell)
4. ज्वर (Fever)
5. अरुचि (Anorexia)
6. वस्ति, वृषण, शिशन व शिर में शूल (Pain in Bladder, testis, penis with headache)

सामान्य लक्षण^३

अश्मरी के सामान्य लक्षण निम्नानुसार हैं—

1. नाभि, वस्ति, सोवनी व शिशन में शूल (Pain in Lower Abdomen & Penis)

1. "वात पित्त कफैस्तिस्तरचतुर्थी शुक्रजाऽपरा । प्रायः स्तोषाक्रयाः सर्वा अश्मर्यः सुर्यमोपमा ॥"
(च.वि. 26/36)
2. "वस्त्याध्यानं तदासत्रदेशेषु परितोऽतिरूक्ष । मूत्रेषु वस्त्याध्यानं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽस्चि ॥"
(अ.ह.नि. 9/8)
3. "सामान्यलिङ्गं रुद्ध नाभि-सेवनीवस्तिमूर्धसु । विशीर्णधारं मूत्रं स्पातया मार्गे निरोक्षिते ॥
तदव्यापायात् सुखं भेदेदच्छं गोमेद कोपमम् । तत्सह्योभात् शते सासमायासाज्जातिरूपवेत् ॥"
(अ.ह.नि. 9/9-10)

2. मूत्र की धारा वक्र व रुक-रुककर होती है। (Fainted & rounded urine stream)
3. रक्त मूत्राता (Haematuria)
4. मूत्र में सिंकता निकलता (Crystalluria)
5. गंदला मूत्र (Turbid urine)
6. मूत्रमार्ग से अश्मरी हटने पर आएग (Relief after passing of calculus)

अश्मरी के भेदानुसार लक्षण

अश्मरी के विभिन्न भेदों के विशिष्ट लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं—

(1) वातिक अश्मरी के लक्षण (Uric Acid Stone)

1. कृष्ण या रक्ताभ वर्ण की कदम्बपुष्पवत् अश्मरी (Blackish, reddish stone like Kadamb)
2. असमान पृष्ठ (Irregular surface of stone)
3. मूत्राघात (Retention of Urine)
4. वस्ति प्रदेश में तीव्र वेदना जो शिशन की ओर गति करती है। (Acute pain in bladder & radiating to penis)
5. बार-बार मूत्र त्वाग (Increased frequency of Urine)
6. बच्चों में अधिक मिलती है (Children are more prone)
7. मूत्रेन्द्रिय को हाथ से मसलना (Pressing of Penis with Hands)

(2) पैत्तिक अश्मरी के लक्षण¹ (Calcium Oxalate Stone)

1. वस्ति में दाह (Burning in Bladder)
2. वस्ति प्रदेश व नाभि में शोथ (Inflammation in lower abdomen & Bladder)
3. पीताभ या रक्ताभ अश्मरी (Reddish stone)
4. लघु व भलातक की गुरुली के समान अश्मरी (Small & marking nut like stone)

(3) कफज अश्मरी²

1. वस्ति प्रदेश में सुई चुभने सी पीड़ा (Pricking Pain in Urinary Tract)
 1. "तत्र वाताद् भृशं चातो दन्तान् खादति वेपत् । ग्रहणाति मेहनं नाभि पीडयत्यनिशं क्वणन् ॥ सानिलं मुञ्चति शकृन्मुहर्मेहति बिन्दुशः । श्यावारुणाऽश्मरी चास्य स्याच्चिता कण्टकैरिव ॥" (अ.ह.नि. 9/11-12)
 2. "पित्तेन दद्यते वस्ति: पञ्चमान इवोभवान् । भलातकास्थि संस्थाना रक्तपीताऽसिताश्मरी ॥" (अ.ह.नि. 9/13)
 3. "वस्तिर्निस्तुद्यत इव श्लेषणा शीतलो गुहः । अश्मरी महती शलक्षणा मधुसवणाऽध्वा सिता ॥" (अ.ह.नि. 9/14)

2. वास्तु प्रदेश में शैत्य एवं गौरव की अनुभूति (Feeling of cold & heaviness in Bladder)
3. बड़ी एवं चिकनी अश्मरी (Large & smooth stone)
4. श्वेत या भूरी रंग की अश्मरी (White or Brownish stone)
5. मधु के समान वर्ण की अश्मरी (Stone of the colour of honey)
- (4) शुक्राश्मरी के लक्षण (Calcium Phosphate Stone)¹
 1. वस्ति में वेदना (Pain in Bladder)
 2. मूत्रकृच्छ्र (Dysuria)
 3. अण्डकोश में शोथ (Orchitis)
 4. मूत्रावरोध (Retention of urine)
 5. श्वेत एवं मृदु अश्मरी (White & soft stone)
 6. प्रौढ़ व्यक्तियों में अधिक होता है (Adults are more prone)

साध्यासाध्यता²

1. जिस रोगी के अण्डकोष एवं नाभि में शोथ हो गया हो,
2. जिसका मूत्र पूर्णतः रुक गया हो,
3. जिसको पीड़ा की अधिकता से बैचेनी हो,
4. अश्मरी के साथ सिकता व शर्करा का भी अनुबंध हो, वह अश्मरी असाध्य होती है।

उपद्रव³

वायु के प्रतिलोम होने पर जब अश्मरी या शर्करा मूत्रमार्ग में अटक जाती है तब निम्न उपद्रव उत्पन्न होते हैं—

1. दौर्बल्य (Weakness)
2. सदन (Heaviness in Body)
3. काश्य (Emaciation)
4. कुक्षिशूल (Pain in Abdomen)
5. अरुचि (Anorexia)

1. "शुक्राश्मरो तु महतां जायते शुक्रधारणात् । स्थानाच्च्युतं युक्तं हि मुक्योरन्तरेऽनिलः ॥ शोषयत्युपसंग्रहा शुक्रं तच्चुक्रमश्मरो । वस्तिरुद्भृकृच्छ्रत्वमुक्षश्यथुकारिणी । तस्यामुत्पत्रामात्रायं शुक्रमेति विलीयते ॥" (अ.ह.नि. 9/15-16)
2. "प्रशूननाभिवृष्टयं बद्धमूत्रं रुजातुरम् । अश्मरी अपयत्याशु सिकता शर्करान्विता ॥" (सु.नि. 3/16)
3. "मूत्रस्तेतः प्रवृत्ता सा सका कुर्यादुपद्रवान् । दौर्बल्यं संदने काश्यं कुक्षिशूलमथारुचिम् ॥ पाण्डुत्वमुष्णवातं च तुष्णां हृत्पीडनं वमिम् ॥" (सु.नि. 3/17)

6. पाण्डु (Anaemia)
7. ऊणवात् (Gonorrhoea)
8. तृष्णा (Polydypsia)
9. वमन (Vomiting)

शर्करा का स्वरूप व लक्षण¹

वायु के द्वारा शुष्क हो जाने से तथा पित के द्वारा परिपाक हो जाने से एवं संगठित करने वाले कफ द्वारा संगठित न करने से अश्मरी बालू के कण की तरह टुकड़े-टुकड़े हो जाती है, तब उसे शर्करा कहते हैं। यह मूत्र त्याग के समय बाहर निकलती है। इसके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. हृदयीडा एवं कम्पन (Pain in chest & palpitation)
2. कुक्षिशूल (Pain in abdomen)
3. मंदाग्नि (Poor appetite)
4. मूर्च्छा (Fainting)
5. भयंकर मूत्रकृच्छ्र (Severe dysuria)
6. शर्करा के बाहर निकलने पर वेदना शांत हो जाती है (Relief in pain after passage of Gravels)

चिकित्सा सिद्धान्त

अश्मरी की चिकित्सा के सिद्धान्त निम्न प्रकार वर्णित हैं—

- (1) अश्मरी में कफ वात नाशक चिकित्सा के साथ अश्मरी भेदन एवं पातनार्थ भी चिकित्सा करना चाहिये।
- (2) अश्मरी जनक निदानों का परित्याग करना चाहिये।
- (3) रोगी को अधिकाधिक तरल आहार तथा पेय जल देना चाहिये।
- (4) नूतन अश्मरी औषध साध्य होती है। इसके लिये स्नेहपान, क्षार प्रयोग, कयाय प्रयोग, क्षीर प्रयोग व उत्तर वस्ति का प्रयोग करना चाहिये²।
- (5) वाताश्मरी में वस्ति प्रयोग तथा पूर्वरूप में घृतपान करना चाहिये।
- (6) पित्ताश्मरी में विरेचन तथा कफज अश्मरी में वमन का प्रयोग करना चाहिये।

1. “अणुशो वायुना भिन्ना सा तस्मिन्नुलोमगे। निरेति सहमूत्रेण प्रतिलोम निरुद्ध्यते॥
मूत्र स्रोतः प्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान्॥” (अ.ह.नि. 9/19)
2. “क्रियाहिता लाऽश्मरोशर्कराच्यां कृच्छ्रयैवह कफानिलाभ्याम्।
कार्याऽश्मरीभेदन पातनाय विशेषयुक्तं क्षुपुकर्म सिद्धम्॥” (च.चि. 26/59)
3. “आौषधैस्तरुणः साध्यः प्रवृद्धरुद्धेदमर्हति। तस्य पूर्वेषु रुपेषु स्नेहादिक्रम इष्यते॥”

(सु.चि. 7/2)

- (7) रोगी को निगद मद्य का पान कराकर या योड़े की सफाई कराने से अश्मरी निकल जाती है।
- (8) यदि उपरोक्त क्रियाओं से लाप न हो तब अश्मरी की शल्य कर्म द्वारा निकालना चाहिये³।
- (9) पापाण भेद आदि का प्रयोग अश्मरी ऐटनार्थ करना चाहिये।

चिकित्सा

अश्मरी की संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्नानुसार की जानी चाहिये—

(1) संशोधन चिकित्सा

1. वमन
2. विरेचन
3. वस्ति (अनुवासन एवं आस्थापन)
4. उत्तर वस्ति
5. स्नेहपान
6. स्वेदन

(2) संशमन चिकित्सा

अश्मरी चिकित्सा में प्रद्युम विभिन्न शास्त्रोक्त संशमन योगों वा वर्जन निम्न प्रकार हैं—

1. रस/भस्म/पिण्डी

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: शहद/बल
(i) पापाण भिन्न रस	: पारद, गंधक, शिलांगीद, तुलसी, वल्ल
(ii) पापाण वद्र रस	: पारद, गंधक, तुलसी
(iii) त्रिविक्रम रस	: ताप्रभस्म, गंधक, निरुम्भदी
(iv) वरुणाय लौह	: वरुण छाल, आंवला, धातुकी, हरड, लौह भस्म, अप्रक भस्म
(v) कुलत्थाद्य घृतम्	: कुलत्थ, सेव, विंडंग, वद्याद, कूमार्द
2. घटी

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: कोणा बल
(i) शिवा गुटिका	: शिवांगीद, हरड, वापान भंद, तुलसी

1. “घृतः क्षीरः क्षयेष्व क्षोट सोनर वस्तिमः। योत्त्वाऽयन्दं निर्द निर्द वा नोद्रवन्द वायन्॥” (च.चि. 26/68)
2. “अश्मरी आहरणार्थ शल्यकर्म विधि विनिरतः।” (मु.चि. 7/40)

(ii) चन्द्रप्रभा चटी	: मूँफ्कूच्छेक
(iii) गोक्षुरादि गुणगुल	: पूर्वोक्त
(iv) आरोग्यवर्धनी चटी	: कामलोक
3. चूर्ण	
मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: कोण्ठ जल
(i) पापाणभेदादि चूर्ण	: पापाणभेद, अडूसा, गोक्षुर, हरण, त्रिकटु
(ii) गोक्षुरादि चूर्ण	: गोक्षुरमूल, तालमखाना, एरण्डमूल, कंटकारी
(iii) त्रिट्यादि चूर्ण	: एला, देवदारु, यवक्षार, पापाणभेद, पंचलवण
(iv) शिंगु चूर्ण	: सहिजन, सेंधव लवण
(v) अश्मरी भेदन योग	: गोक्षुर, तालमखाना, एरण्ड, कण्टकारी, चृहती
4. व्याथ/आसव-अरिष्ट	
मात्रा	: 20-30 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) गोक्षुरादि व्याथ	: गोक्षुर, एरण्ड, सोंठ, वरुण
(ii) वर्णादि व्याथ	: वरुण, यवक्षार, शर्करा
(iii) शुण्ठयादि व्याथ	: शुण्ठी, अरणी, पापाणभेद, शिंगु
(iv) एलादि व्याथ	: एला, पिप्पली, मुलैठी, पापाणभेद
(v) वीरतरादिगण व्याथ	: शर, नील, कुश, पापाणभेद
(vi) पुनर्नवारिष्ट	: पूर्वोक्त
5. घृत	
मात्रा	: 20-30 मि.ली.
अनुपान	: ऊण जल
(i) कुलत्थाद्य घृत	: कुलत्थ, सेंधव, यवक्षार, विडंग
(ii) वर्णाद्य घृत	: वरुण, शिलाजीत, ककड़ी बीज, पापाण-भेद
(iii) कुशाद्य घृत	: कुश, काशा, शर, गुडुची, इक्षु, पापाणभेद
(iv) वर्णाद्य तैल	: वरुण, तिल तैल

6. पाक/अबलेह	
मात्रा	: 20 ग्राम
अनुपान	: दृध
(i) गोक्षुराद्य अबलेह	: गोक्षुर, दशमूल, पापाणभेद, गुडुची
आदर्श चिकित्सा पत्र	
1. प्रतः सायम्	
पापाण वज्र रस	: 250 मि.ग्रा.
थेत पार्टी	: 500 मि.ग्रा.
यवक्षार	: 500 मि.ग्रा.
कुलत्थाद्य चूर्ण	: 2 ग्राम
गम्भ से	1×2 मात्रा
2. भोजनोत्तर	
चन्द्रप्रभावटी	: 2 चटी \times तीन मात्रा
रोहितकारिष्ट	: <u>20</u> मि.ली.
जल से	1×2 मात्रा
(i) पैतिक अश्मरी	
रात्रि	
अविपत्तिकर चूर्ण	: 3 ग्राम
कोण्ठ जल	1 मात्रा
(ii) कफज अश्मरी	
गोक्षुरादि गुणगुल	: 2 चटी \times तीन मात्रा
(iii) शुक्राश्मरी	
भोजनोत्तर	
दशमूलारिष्ट	: <u>20</u> मि.ली.
सम जल से	1×2 मात्रा
3. रात्रि	
त्रिफला चूर्ण	: 2 ग्राम
कोण्ठ जल	एक मात्रा

अश्मरी में पथ्य एवं अपथ्य
पथ्य

आहार

कुलत्थ, मुदग, गोधूम, पुराण शालि
चावल, यव, कूष्माण्ड, आद्रक,
चौलाई, जांगल मांस रस, यवक्षार,
वरुण, पत्रशाक, पाषाण भेद, सहिजन
फली, गोक्षुर, शालपर्णी आदि।

अपथ्य

आहार

अति अम्ल, विष्टम्भी, गुरु, रुक्ष,
विदाही अज्ञपान सेवन, विरुद्ध आहार
सेवन आदि।

कायचिकित्सा

विहार
स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, वस्ति
उत्तर वस्ति आदि।

Latest Developments
Urinary Calculus

आधुनिक मतानुसार अश्मरी रोग का साम्य Urinary Stones से किया जाता है।
अश्मरी के विभिन्न भेदों का आधुनिक मतानुसार निम्न व्यवहारिक साम्य हैं—

- (i) वातिक अश्मरी Uric acid stone
- (ii) पैत्तिक अश्मरी Calcium Oxalate Stone
- (iii) कफज अश्मरी Calcium Phosphate Stone
- (iv) शुक्राश्मरी Calcium Phosphate Stone

Management : Principles

1. To treat causative factors.
2. Adequate fluid intake.

••• शुद्धि •••

अष्टम खण्ड

पुरीषवह स्रोतस् के रोग

स्रोतस् परिचय

अन्न के किटट भाग को पुरीषवह स्रोतस् अभिवहन कर शरीर से बाहर निकालता है। भुक्त अन्न का सम्यक् परिपाक होने के बाद सार भाग का अवशोषण आंतो द्वारा हो जाता है एवं किटट भाग को ग्रहणी द्वारा आगे की ओर धकेल दिया जाता है जिसे पुरीषवह स्रोतस् (स्थूलान्त्र एवं गुद) द्वारा यथा समय बाहर निकाल दिया जाता है।

पुरीषवह स्रोतस् के दुष्ट होने पर मलों की अप्रवृत्ति, अतिप्रवृत्ति या अथवा प्रवृत्ति होने लगती है।

पुरीषवह स्रोतस् के मूल¹

पुरीषवह स्रोतस् के मूल पक्वाशय एवं गुद हैं।

यहां पर पक्वाशय से अभिप्राय Large Intestine एवं गुद से Anus से है, क्योंकि इनमें ही पुरीष का संचय एवं निर्हरण होता है।

पुरीषवह स्रोतो दुष्टि के कारण²

पुरीषवह स्रोतस् के दुष्ट होने के निम्न प्रमुख कारण हैं—

1. मल का वेग धारण करना।
2. अधिक भोजन करना।
3. अजीर्ण होने पर।
4. भोजन के बाद पुनः भोजन करने से।
5. अग्निमांद्य होने पर।
6. शरीर में कृशता होने पर पुरीषवह स्रोतस् दुष्ट हो जाते हैं।

पुरीषवह स्रोतो दुष्टि के लक्षण³

उपरोक्त निदानों के सेवन से पुरीषवह स्रोतस् के दुष्ट हो जाने पर निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—

1. “पुरीषवहनां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूलागुदं च ॥” (च.वि. 5/8)
2. “संधारणादत्पशनादजीर्णाध्यशनात्तथा । वच्चोवाही दुष्प्रन्ति दुर्बलाऽग्नेः कृशस्य च ॥” (च.वि. 5/21)
3. “प्रदुष्टानां तु खल्वेषमिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा-कृच्छ्रेणाल्पात्परं सशब्दशूलमतिद्रवमति ग्रथितमतिबहु चोपविशंतं दृष्ट्वा पुरीषवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदृष्टानीति विद्यात् ॥” (च.वि. 5/8)

1. कठिनता से मल प्रवृत्ति (Difficult defecation)
2. थोड़ा एवं शब्द व शूल के साथ मल प्रवृत्ति (Painful defecation with small quantity of stool)
3. अत्यन्त पतला मल प्रवृत्त होना (Watery stool)
4. अत्यन्त गांठ दर मल प्रवृत्त होना (Glandular stool)
5. अधिक मात्रा में मल त्याग (Passage of large quantity of stool)

पुरीषवह स्रोतो दुष्टि की चिकित्सा¹

पुरीषवह स्रोतस् के दुष्ट होने पर निम्न चिकित्सा करना चाहिये-

- (1) आचार्य चरक ने पुरीषवह स्रोतस् के दुष्ट होने पर अतिसार की चिकित्सा करने का निर्देश दिया है।

पुरीषवह स्रोतोदुष्टि जन्य व्याधियां

पुरीषवह स्रोतोदुष्टि जन्य मुख्य व्याधियां निम्न प्रकार हैं—

1. अलसक एवं विलम्बिका
2. कृमिरोग
3. अर्श
4. बिबन्ध
5. उदार्वत

इनका सविस्तार वर्णन आगे किया जा रहा है।

••• न० छ० ७६ •••

1. “मूत्रविद्युतेष्वादाहानां चिकित्सा मौत्रकृच्छ्रिको । तथाऽतिसारिकी कार्या तथाज्वरचिकित्सकी ॥”
(च.वि. 5/28)

अध्याय-52

अलसक एवं विलम्बिका

(ACUTE INTESTINAL OBSTRUCTION PARALYTIC ILEUS)

व्याधि परिचय

आचार्य चरक ने आम प्रदोषज विकार के रूप में चरकसंहिता के विमान स्थान में अलसक का वर्णन किया है¹, तथा आम विष से उत्पन्न व चिकित्सा विरुद्ध होने के कारण अत्यन्त असाध्य कहा है। आचार्य चरक ने विसूचिका व अलसक को आमज विकार के रूप में वर्णित किया है। विलम्बिका का वर्णन यहां उपलब्ध नहीं है। विलम्बिका का वर्णन आचार्य सुश्रुत एवं माधवकर ने किया है। हेमाद्रि ने अष्टांग हृदय की टीका में विलम्बिका को दण्डालसक की संज्ञा दी है²। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार लक्षणों के आधार पर अलसक को Intestinal Obstruction due to acute massive indigestion / food poisoning तथा विलम्बिका को Paralytic ileus कह सकते हैं।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, विमान स्थान-अध्याय 3
2. सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र-अध्याय 56
3. अष्टांग हृदय, सूत्र स्थान-अध्याय 8
4. माधव निदान-अध्याय 6
5. भाव प्रकाश-अध्याय 7

अलसक का स्वरूप³

आमाशय में आहार के पूर्णतः रुक जाने व ऊर्ध्व व अधः मार्ग से उसकी प्रवृत्ति न होने को अलसक कहा है। आचार्य माधवकर ने अजीर्ण से विसूचिका, अलसक एवं विलम्बिका रोग उत्पन्न होना बताया है तथा इन सबमें अग्निमांद्य एवं आम की ही मुख्य भूमिका होती है⁴।

1. “तं द्विविधमाप्रदोषमाचक्षते भिषजः विसूचिकाम् अलसकं च ॥” (च.वि. 3/10)
2. “यतूकं जेज्जटेन इयं विलम्बिका तत्रान्तरे दण्डालसकसंज्ञयोक्ता इति ॥”
(अ.ह.सू. 8/28 पर हेमाद्रि)
3. “प्रायति नोर्ध्वनाधस्तानाहारोऽपि विपच्यते । आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः ॥”
(मधुकोश)
4. “अजीर्णमार्गं विष्टव्यं विदग्धं च यदीरितम् । विसूच्यलसकौ तस्मात् भवेच्चापि विलम्बिका ॥”
(मा.नि. 6/15)

अलसक का निदान¹—

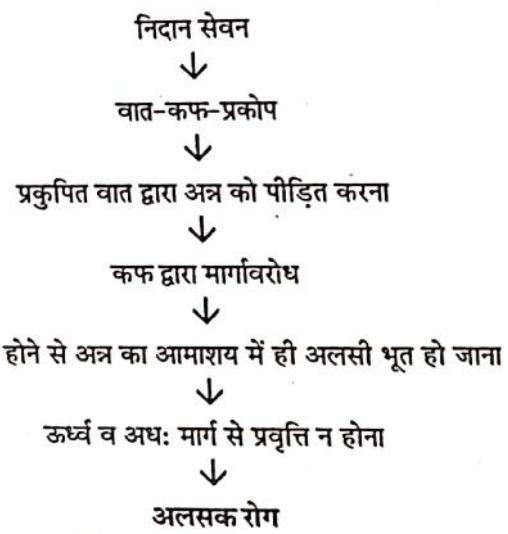
अलसक के निदान निम्न प्रकार है—

1. दुर्वलाग्नि पुरुष
2. अधिक कफ वाले पुरुष
3. वात-मूत्र-मल के वेग को धारण करने वाले
4. स्थिर, गुरु, रुक्ष, बासी, शुष्कात्र का सेवन करना
5. अध्यशन एवं विषपात्राशन

अलसक की सम्प्राप्ति¹

उपरोक्त निदानों के सेवन से कुपित वात, कफ के द्वारा मार्गावरोध होने से भुक्त आहार की गति को अवरुद्ध कर देता है एवं अन्तरान वायु से पीड़ित एवं कफ से अवरुद्ध होने के कारण अतिमात्रा में लीन होकर अलसीभूत हो जाता है जिससे उसकी प्रवृत्ति ऊर्ध्व एवं अधः मार्ग से नहीं हो पाती है।

सम्प्राप्ति चक्र



सम्प्राप्ति घटक

दोष	- वात-कफ
दूष्य	- अन्त्र
स्रोतस्	- पुरीपवह स्रोतस्
अधिष्ठान	- आमाशय

1. “दुर्वलस्यात्पानेवर्हुश्लेष्मो वातमूत्रपुरीपवेगविधारणः स्पिरगुरुवहरुक्षशीतशुष्कात्र सेवनस्तदन्तर्पान मनिलप्रपेडितं श्लेष्मा च विवर्द्ध मार्गमतिमात्रा..... दर्शयत्पतिमात्राणि ॥” (च.वि. 3/12)

स्रोतोदुष्टि

- संग

स्वभाव

- आशुकारी

अग्नि

- मंद

साध्यासाध्यता

- असाध्य

अलसक के लक्षण¹—

अलसक के निम्न लक्षण वर्णित हैं—

1. कुक्षि आध्यान (Distension of abdomen)
2. मूर्छा (Fainting)
3. शूल एवं आर्तनाद (Severe abdominal pain)
4. वायु का ऊर्ध्व प्रदेश में भ्रमण (Flatulence)
5. अधोवायु एवं मल का अवरोध (Absolute constipation)
6. अति तृपा (Polydyspsia)
7. उद्गार बाहुल्य (Belching)
8. वमन व अतिसार छोड़ विसूचिका के समस्त लक्षण

दण्डालसक²

जब अधिक मात्रा में दूषित दोष अधिक दुष्ट आमदोष के मार्ग में रुक जाने से शरीर में त्रिर्यक् चलते हुये पुरुष के सम्पूर्ण शरीर को दण्डे के समान जकड़ देते हैं उसे दण्डालसक कहते हैं। यह अलसक की उग्र अवस्था है।

अलसक की साध्यासाध्यता

विसूचिका एवं अलसक की साध्यासाध्यता निम्न प्रकार है—

1. दण्डालसक असाध्य है।
2. जिस रोगी के दांत, औषृं व नख नीले पड़ गए हों एवं ऐसी बेहेश हो, वह असाध्य है।
3. जिसे निरन्तर वमन हो रहा हो,
4. जिसके अक्षिकूट में नेत्र धंस गए हों,
5. जिसका स्वर क्षीण हो गया हो,
6. जिसके सन्धिबन्धन शिथिल पड़ गए हों, ऐसे रोगी को असाध्य माना गया है।

1. “कुक्षिरानहृतेऽत्यर्थं प्रतये परिकूजति । निरङ्गो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति ॥ वातवर्चोनिरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि । तस्यात् सकमाचेष्टे तृष्णोदारौ च यस्य तु ॥” (मा.नि. 6/19-20)
2. “अतिमात्रप्रदुषाश दायाः प्रदुषामबद्धमार्गास्तिर्यगच्छन्तः कदाचिदेव केवलमस्य शरीरं दण्डवत् स्तम्भयन्ति, ततःत्तं दण्डालसकमसाध्यं ब्रुवते ॥” (च.वि. 3/12)
3. “यः स्यावदन्तौष्ठनखोल्पसंज्ञो वस्यादितोऽयान्तरयातनेत्रम् । क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसंधिर्यात्रः सोऽपुनरागमाय ॥” (मा.नि. 26/23)

विलम्बिका (Paralytic Ileus)¹

जिस रोग में कफ एवं वायु से दृष्ट अन्न ऊपर या नीचे किसी भी मार्ग से नहीं निकलता इस दुश्कित्स्य व्याधि को विलम्बिका कहते हैं।

दण्डालसक को ही विलम्बिका कहा गया है। इसमें दोष तिर्यक् गति अर्थात् रसधातु के साथ मिलकर समस्त शरीर में व्याप्त होकर सावर्देहिक एवं विष सदृश लक्षणों को उत्पन्न करते हैं, अतः यह असाध्य व्याधि है। आधुनिक मतानुसार लक्षणों के आधार पर Cholera Sicca से इसका साम्य प्रतीत होता है। इसमें विष की अत्यंत तीव्रता होने से बिना वमन विरेचन के ही Collapse होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

अलसक एवं विलम्बिका में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अलसक में तीव्रशूल होता है किन्तु विलम्बिका में शूल नहीं होता।

विलम्बिका की तुलना आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में वर्णित Paralytic Ileus से कर सकते हैं।

अलसक एवं विलम्बिका में सापेक्ष निदान

क्र.सं.	अलसक	विलम्बिका
1.	अजीर्ण से उत्पत्ति	अजीर्ण से उत्पत्ति
2.	कफ एवं वायु का संसर्ग	कफ एवं वायु का संसर्ग
3.	मल एवं अधो वायु का पूर्ण अवरोध	मल एवं अधो वायु का पूर्व अवरोध
4.	तीव्र शूल एवं आर्तनाद उपस्थित	शूल अनुपस्थित
5.	सद्यः कालिक	विलम्ब से उत्पन्न
6.	प्रारंभ में साध्य, जीर्ण होने पर असाध्य	असाध्य

अलसक एवं विलम्बिका का चिकित्सा सिद्धान्त²

अलसक एवं विलम्बिका के चिकित्सा सिद्धान्त निम्न प्रकार वर्णित हैं—

- सर्वप्रथम निदान परिवर्जन करना चाहिये।
- साध्य अलसक में सर्वप्रथम सैंधव लवण व गर्म जल पिलाकर वमन करना चाहिये। तत्पश्चात् स्वेदन और गुदवर्ति के द्वारा चिकित्सा करना चाहिये। आमदोप से पीड़ित व्यक्ति को लंघन करना हितकर है।

- “दुष्टं तु भुक्तं कफमालताभ्यां प्रत्यतीते नोर्धमस्थ यस्य। विलम्बिकां तां भृशदुधिकित्याभावशो शास्त्रविदः पुराणाः ॥” (सु.उ.त. 56/9)
- “तत्रसाध्यामं प्रदुषमलसीभृतमुखेष्येदादीं पाययित्वा सलवणमुष्णं वारि, तातः स्वेदनवर्ति प्रणिधानाभ्यामुपाचरेदुपवासयेव्यन्म् ॥” (च.वि. 3/13)

- अलसक व विलम्बिका में वमन विरेचन करकर वस्त्र का प्रयोग यथास्थित करने का शास्त्रीय निर्देश है।
- अलसक व विलम्बिका में निदानार्थकर यिकृति व माल्हासाधन का प्रयोग करने के बाद ही चिकित्सा प्रारंभ करनी चाहिये।

अलसक व विलम्बिका की चिकित्सा

अलसक व विलम्बिका की संशोधन व संशमन चिकित्सा निम्न प्रकार की जानी चाहिए—

(1) संशोधन चिकित्सा

- वमन
- विरेचन
- लंघन
- फलवर्ति (Suppository)
- वस्त्र (निरुह वस्त्र)

(2) संशमन चिकित्सा

अलसक और विलम्बिका की चिकित्सा में प्रयुक्त प्रमुख संशमन योग्यों का वर्णन निम्मानुसार है—

1. रस/भस्म/पिण्डी/चूर्ण/वटी

अलसक व विलम्बिका की चिकित्सा में रस/भस्म/पिण्डी/चूर्ण/वटी अजीर्ण चिकित्सा में प्रयुक्त औषधियों के समान है।

2. व्याथा/आसव-अग्नि

- | | |
|-----------------|----------------|
| मात्रा | : 20-30 मि.ली. |
| अनुपान | : जल |
| (i) अभ्यारिणि | : अजीर्णोत्त |
| (ii) कुमार्यासव | : अजीर्णोत्त |

आदर्श चिकित्सा पत्र

- लंघन
- प्रातः सायम्

अजीर्णकण्टक रस	: 250 मि.ग्रा.
पंचकोल चूर्ण	: 2 ग्राम
हिंगवटक चूर्ण	: 3 ग्राम
ऊण जल से	1×2 मात्रा

- “विलम्बिकालसकयोर्ध्वाधः शोधनं हितम्। नालेन फलवर्त्या च तथा शोधनं भेदते ॥”

(च.वि.)

3. भोजनेतर हिंगवादि/लशुनादि वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
4. रात्रि पंचसकार चूर्ण : $\frac{3 \text{ ग्राम}}{\text{एक मात्रा}}$
ऊष्ण जल से
5. अति बिबंध होने पर फलवर्ति लगाना चाहिये।

अलसक व विलम्बिका में पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार

लघु, सुपाच्य आहार, कटु-तिक्क द्रव्यों का सेवन, पुणण शालि, मुदग, कृशरा, लाजमण्ड, मूली, लहसुन, आंवला, शिंगु, आद्रक, मरिच, मेथिका, धान्यक, यवानी, जीरक, ऊष्ण जल, नीबू का पानी, तक्र आदि।

अपथ्य

आहार

गुरु, विषम्भी पदार्थ, पूरी, मालपुआ, असात्म्य, गुरु अन्न पान, विषमाशन, अध्यशन, विरुद्धाहार सेवन, मिर्च मसालेदार भोजन आदि।

विहार

हल्का व्यायाम, लंघन, उपवास, वमन विरेचन, वस्ति आदि।

विहार

वेगधारण, रात्रि जागरण, तीव्र विरेचन अति भोजन, समशन आदि।

Latest Developments Acute Intestinal Obstruction

Symptoms

1. Pain in Abdomen.
2. Vomiting.
3. Absolute Constipation.
4. Abdominal Distension.
5. Visible Peristalsis.

Management : Principles

1. Treat the cause.
2. Symptomatic Treatment

Paralytic Ileus

A situation in which the peristalsis of the intestine slows down or stops, noted following abdominal surgery, electrolyte abnormalities (Hypokalaemia) or peritonitis.

••• लैन्स लैन्स •••

अध्याय-53

विबन्ध

(CONSTIPATION)

व्याधि परिचय

विबन्ध वर्तमान समय में एक प्रचिलत व्याधि है इसका कारण फास्ट फूड के प्रचलन की पाश्चात्य शैली की जीवनशैली है। इसमें मल प्रवृत्ति सम्प्रकृत व यथा समय नहीं होती तथा मल कठिन व कम मात्रा में निकलता है। सामान्य योलचाल की भाषा में इसे 'कब्ज' कहते हैं।

भोजन का अम्ल विपाकावस्था में ग्रहणी में पूर्ण पाचन हो जाता है, आहार रस शोषित हो जाता है एवं किटू भाग द्रव रूप में पक्षाशय में पहुंच जाता है जहां पर पित्त व वायु की सहायता से द्रव किटू का जलीयांश शोषित हो जाता है एवं मल संहत होकर मलाशय में चला जाता है। और समय आने पर निर्हरित कर दिया जाता है। यदि किसी कारण वश (वेग धारण से) पुरीष अधिक देर तक पक्षाशय में रह जाए या पित्त एवं वायु की विकृति से मल के जलीयांश का अधिक शोषण हो जाए तो मल कठिन (Hard Stool) हो जाता हैं और मात्रा भी कम हो जाती है। यही स्थिति विबंध कहलाती है।

संहिता ग्रन्थों में विवंध व्याधि के रूप में वर्णित नहीं है। अपितु अनेक व्याधियों के लक्षण के रूप में वर्णित है।

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

'वि' उपसर्ग पूर्वक 'बन्ध बन्धने' धातु से विवंध शब्द बनता है जिसका अर्थ 'वात पुरीषयोर्बन्धः विवंधः' है।

प्रमुख संदर्भ गंथ

1. चरक संहिता, सूत्रस्थान-अध्याय 14, 27
2. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 5
3. सुश्रुत संहिता, उत्तरतन्त्र-अध्याय 56

-
1. "पक्षाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निः। परिपिण्डतपक्षस्य वायुः स्यात् कटुभावतः ॥"

(च.चि. 15/11)

प्रमुख निदान

- विवंध के प्रमुख निदान निम्न प्रकार हैं—
1. चेग धारण
 2. अकाल भोजन
 3. अकाल व असमय में पुरीष त्याग
 4. अकाल विहार
 5. रुक्ष, विष्टप्पी, गुरुपाकी आहार सेवन
 6. भोजन में रेशे कम लेना या नहीं लेना
 7. कपाय रस प्रधान भोजन सेवन
 8. पानी कम पीना
 9. रात्रि जागरण आदि

सम्प्राप्ति

उपर्युक्त निदानों के सेवन से कुपित वायु पक्षाशय में जाकर पुरीष को सुखा देती है जिससे अल्प मात्रा में कठोर पुरीष आता है।

आयुर्वेदीय ग्रंथों में विवंध के पर्याय के रूप में पुरीष संग, पुरीषानाह, पुरीषोदावर्त आदि का उल्लेख मिलता है। ये सभी एक ही अवस्थाएँ हैं।

सम्प्राप्ति चक्र**निदान सेवन****वात प्रकोप**

कुपित वात द्वारा पक्षाशय में मल का शोषण

**विवंध****सम्प्राप्ति घटक**

दोष	- वात-कफ
दूष्	- पुरीष
स्रोतस्	- पुरीषवह स्रोतस्
अधिष्ठान	- पक्षाशय
स्वभाव	- मृदु
साध्यासाध्यता	- साध्य

लक्षण¹

विवंध के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. मल की कठोरता (Hard stool)
2. मल त्याग में कठिनाई (Difficult defecation)
3. अल्प मात्रा में मल (Decreased quantity of stool)
4. अरुचि (Anorexia)
5. अजीर्ण (Indigestion)
6. उदर शूल (Pain in abdomen)
7. आटोप (Flatulence)
8. आनाह (Constipation)
9. शिरःशूल (Headache)

विवंध, आनाह एवं उदावर्त में अंतर

क्र.स.	विवंध	आनाह	उदावर्त
1.	पुरीष संग	पुरीष संग	पुरीष संग
2.	----	आघ्यान	आघ्यान
3.	अपान संग	अपान संग	अपान संग व अपान वायु का ऊर्ध्व गमन

चिकित्सा सिद्धान्त

1. अध्यंग तथा स्वेदन कराएं।
2. स्नेहन, विरेचन तथा अनुवासन वस्ति देनी चाहिये।
3. अति विवंध की स्थिति में फलवर्ति का प्रयोग करना चाहिये।
4. वातानुलोमन व विवंधहर चिकित्सा करनी चाहिये।
5. एरण्ड स्नेह द्वारा स्नेह विरेचन देना चाहिये।
6. खाने में सलाद, हरी पत्तेदार सब्जियों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में करायें।
7. पानी का प्रयोग अधिकाधिक करें।

चिकित्सा

विवंध की चिकित्सा में प्रयुक्त संशोधन व संशमन चिकित्सा निम्न प्रकार है—

(1) संशोधन चिकित्सा

1. स्नेहन और स्वेदन

1. “पक्षाशयस्थोऽन्तर्कूञ्ज शूलाटोपी करेति च। कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकृवेदनाम् ॥”

2. विरेचन
 3. निरुह वस्ति
 4. फलवर्ति
- (2) संशमन चिकित्सा

विवरण की चिकित्सा में प्रयुक्त संशमन योग निम्न प्रकार है—

1. रस/भस्म/पिण्डी	
मात्रा	: 125-250 मि.ग्र.
अनुपात	: शहद/जल
(i) अजीर्ण कण्टक रस	
(ii) अजोर्णारि रस	
(iii) क्रव्याद रस	
2. वटी	
मात्रा	: 250-500 मि.ग्र.
अनुपात	: ठण्डा जल
(i) हिंवांदि वटी	
(ii) अग्नितुण्डी वटी	
(iii) लशुनादि वटी	
(iv) गंधक वटी	
(v) अंक वटी	
(vi) शंख वटी	
3. चूर्ण	
मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपात	: कोण्ठ जल
(i) रंचसकार चूर्ण	: सैंधव, गुन्डी, सॉन्स, शिख, सनाय
(ii) हिंवाष्टक चूर्ण	: त्रिकटु, अबनोद, सैंधव, ज्वारक, होंग
(iii) हरीतकी चूर्ण	: हरीतकी, एरण्ड संह में भर्जित
(iv) स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण	: ज्वारक ढूय, सोट, लवंग, इला, मरिच, धनिया, अबनोद
(v) हिंवादि चूर्ण	: होंग, अबनोद, ज्वारकढूय, मुस्तक, चिप्रक, त्रिकटु
(vi) मधुवट्ठी चूर्ण	: मुत्ती
(vii) अविपरिकर चूर्ण	: त्रिफला, त्रिकटु, लवंग, निशोद

(viii) निशोद चूर्ण	: निशोद
(ix) दोनदयाल चूर्ण	: सनाय, मसुद्र लवण, अजवाइन
4. क्षयाय/आसद-अग्निशु	: अज्ञीणोल्ड
5. घृत/तैल	
मात्रा	: 10-30 मि.ली.
अनुपात	: ऊष्मा जल/दूध
(i) एण्ड तैल	: एण्ड
आदर्श चिकित्सा पत्र	
1. प्रतः सांदर्भ	
पंचकोल चूर्ण	: 3 ग्राम
अबनोदादि चूर्ण	: 2 ग्राम
ऊष्मा जल से	1x2 मात्रा
2. भोजनानुसार	
अग्नि तुण्डी वटी	: 2 वटी × तीन मात्रा
3. रात्रि	
स्ट्रैड संह	: 20 मि.ली.
कोण्ठ दूध से	एक मात्रा
पद्ध एवं अपद्ध	
पद्ध	
आहार	विहार
पुण्य शालि, गोधूम, मुदग, अरहर, लघु अन्न, हरी पतेदार शाक, परीता, गावर, मूली, द्वांग, पत्तानोपी, लौकी, टिंडा, तोर्दे आदि।	स्वेदन, विरेचन, वस्ति, व्यायाम, चंक्रमण, पानी अधिक पीना, भोजन के तुरंत बाद पानी नहीं पीना आदि।
अपद्ध	
आहार	विहार
गुरु, विष्टम्पी, निर्व मसालेदार भोजन, पीजा, बर्गर, ब्रेड, टोस्ट, फास्ट फूड, केला, चावल, आलू आदि कंद शाक आदि।	रात्रि जागरण, वेगधारण, अव्यायाम, एक स्थान पर बैठे रहना आदि।

Latest Developments Constipation

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में विवरण को Constipation कहा जाता है।

Constipation is the decrease in the frequency, size, consistency & ease of bowel movement and the complaint depends upon the individual's perception.

Causes

1. Poor life style
2. Systemic diseases
3. Anorectal out let disorder like piles, tumors, rectocoele
4. Structural abnormalities
5. Neurological lesions
6. Side effects of drugs

Management : Principles

1. Minimising use of constipating medications or correcting easily corrected back ground causes like Hypothyroidism.
2. Bulk forming laxatives.
3. Ensure adequate fibre intake.
4. Ensure adequate fluid intake.
5. Avoid white bread, rusks, banana, grated apple, white rice & hard boiled eggs.
6. Regular exercises.

•••ॐ श्रुते श्रुते•••

अध्याय-54

उदावर्त

व्याधि परिचय

आयुर्वेदीय संहिताओं में उदावर्त एवं आनाह का वर्णन प्रायः एक साथ ही वर्णित है। आचार्य चरक ने सूत्र स्थान में वेगधारण जन्य 13 प्रकार के उदावर्त का वर्णन किया है तथा चिकित्सा स्थान में त्रिमर्मीय चिकित्सा में उदावर्त चिकित्सा का वर्णन किया है।

उदावर्त से सामान्यतः अपानवायु का ऊर्ध्वगमन अर्थ लिया जाता है। यह स्रोतोवरोध के कारण ~~उत्पन्न होता है।~~ आचार्य चरक, सुश्रुत एवं वागभट् ने 13 प्रकार के वेग धारण जन्य उदावर्त का वर्णन किया है। भैषज्य रत्नावली में वात, मूत्र एवं पुरीष के वेग धारण जन्य केवल तीन प्रकार के उदावर्त माने हैं।

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

“उद्भूतेन वेग विधारणेनाव्रतस्य वायोर्वतनमित्युदावर्तः ।” (मधुकोश)
अर्थात् वेग धारण से उत्पन्न वायु का प्रतिलोम होना ही उदावर्त है। वेगधारण से वायु की स्वाभाविक गति में अवरोध होता है। अतः वायु विलोम होकर ऊर्ध्वगति स्वरूप मुख से निकलने लगता है, फलतः ऊर्ध्वमार्ग से मल मूत्रादि भी प्रवृत्त होने लगते हैं।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, सूत्र स्थान-अध्याय 7
2. चरक संहिता, चिकित्सा, स्थान-अध्याय 26
3. सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र-अध्याय 55
4. अष्टाङ्ग संग्रह, सूत्र स्थान-अध्याय 5
5. अष्टाङ्ग हृदय, सूत्र स्थान-अध्याय 4
6. भैषज्य रत्नावली-अध्याय 31
7. भाव प्रकाश-अध्याय 31
8. माधव निदान-अध्याय 27

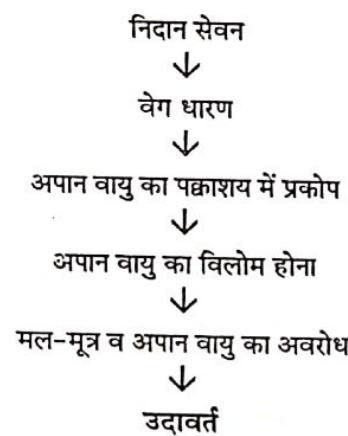
1. “यशोर्ध्वं जायते वायोरावतः सः चिकित्सकैः । उदावर्त इति प्रोक्तो व्याधिस्तत्रानिलः प्रभुः ॥”
(भा.प्र.चि. 31/2)

सामन्य निदान¹

- आचार्य चरक ने उदावर्त के निम्न निदानों का वर्णन किया है—
1. कषाय, तिक्त एवं कटु पदार्थों का अधिक सेवन।
 2. रुक्ष अत्र पान सेवन।
 3. वेगावरोध।
 4. उपवास व अति लंघन।
 5. अति मैथुन

सम्प्राप्ति²

उपरोक्त निदानों के सेवन से पक्षाशय में कुपित अपान वायु अधोगामी स्रोतों को अवरुद्ध कर मल, अपानवायु एवं मूत्र का अवरोध कर क्रमशः भंयकर उदावर्त रोग उत्पन्न करती है।

सम्प्राप्ति चक्र**सम्प्राप्ति घटक**

दोष	- अपान वायु
दूष	- रस
स्रोतस्	- पुरीषवह
अधिष्ठान	- सर्वांग
स्रोतोद्युषि	- विमर्श गमन

1. “कषायतिकोपणरूक्षभोज्यैः संधारणाभोजनमैथुनैश्च ॥” (च.चि. 26/5)
2. “पक्षाशये कुप्यति चेदपानः स्रोतांस्यधोगानि बली स रुद्वा। करोति विष्णारुतमूत्रसंज्ञं क्रमदुदावर्तमतः सुधोरम् ॥” (च.चि. 26/5-6)

- स्वभाव
- साध्यासाध्यता
- उद्भव

भेद¹

आचार्यों ने 13 प्रकार के उदावर्त वर्णित किए हैं—

- | | |
|-------------------|-------------------|
| 1. अधोवात निरोधज | 2. पुरीष निरोधज |
| 3. मूत्र निरोधज | 4. उद्गार निरोधज |
| 5. छर्दि निरोधज | 6. क्षुधा निरोधज |
| 7. तृष्णा निरोधज | 8. जृम्भा निरोधज |
| 9. अश्रु निरोधज | 10. क्षवयु निरोधज |
| 11. शुक्र निरोधज | 12. श्वास निरोधज |
| 13. निद्रा निरोधज | |

सामान्य लक्षण²

आचार्य चरक ने उदावर्त के निम्न सामान्य लक्षण वर्णित किए हैं—

1. वस्ति, हृदय, कुक्षि एवं उदर प्रदेश में पीड़ा (Pain in whole abdomen)
2. पीठ एवं पसलियों में पीड़ा (Pain in back & costal region)
3. उदर में आध्मान (Tympanitis)
4. हल्लास (Nausea)
5. गुद प्रदेश में कौची से काटने जैसी पीड़ा (Cutting pain in anal region)
6. सुईं सुभने सी वेदना (Pricking pain in body)
7. अपाक (Indigestion)
8. वस्ति शोथ (Cystitis)
9. मलावरोध (Constipation)
10. पेट में मल की गांठ बनना (Hard stool)
11. कष्ट पूर्वक मल की प्रवृत्ति (Painful defecation)
12. उद्गार (Belching)
13. खर, रुक्ष, शीत मल प्रवृत्ति (Dry, rough, cold stool)

1. “वातविष्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः । क्षुष्णाश्वासनिद्राणामुदावर्तो विधारणात् ॥” (सु.उ.त. 55/4)

2. “रूग्वस्तिहत्कुक्ष्युदरेष्वभीक्षणं, सपृष्ठपार्श्ववित्तिदारणा स्यात्। आध्मानहल्लासविकर्तिकाश तोदोऽविपाकश्च सवस्तिशोथः ॥ चर्चोऽप्रवृत्तिजर्ते च गण्डान्यूर्ध्वश्च वायुविहितो गुदे स्यात्। कृच्छ्रेण शुक्षस्य चिरात् प्रवृत्तिः स्याद्वा ततुः स्यात् खररुक्षशीता ॥” (च.चि. 26/6-7)

उदावर्त के भेदानुसार लक्षण

उदावर्त के विभिन्न भेदों के विशिष्ट लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. अधोवात् निरोधज उदावर्त के लक्षण^१

(i) वात-मूत्र-पुरीष का अवरोध (Obstruction of urine, faeces & flatus)

(ii) उदर आधान (Distention of abdomen)

(iii) वलम (Drowsiness)

(iv) उदर में शूल (Pain in abdomen)

(v) अन्य वात विकार

2. पुरीषजोदावर्त के लक्षण^२

(i) आटोप (Flatulence)

(ii) शूल (Pain in abdomen)

(iii) परिकर्तिका (Cutting pain in anus, bladder & penis)

(iv) मल का अवरोध (Constipation)

(v) उर्ध्ववात् (Excessive belching)

(vi) मुख मार्ग से मल प्रवृत्ति (Discharge of faecal matter from mouth)

3. मूत्र निरोधज उदावर्त के लक्षण^३

(i) मूत्राशय एवं मेद्र में शूल (Pain in bladder & penis)

(ii) मूत्रकृच्छ्रता (Dysuria)

(iii) शिरःशूल (Headache)

(iv) शरीर का आगे झुकना (Forward bending of body)

(v) वंक्षण प्रदेश में तनाव (Heaviness in lower abdomen)

4. जृम्भा निरोधज उदावर्त के लक्षण^४

(i) मन्या व गले का स्तम्भ (Stiffness of neck)

(ii) शिरःशूल (Headache)

1. “वातमूत्रपुरीषाणां सङ्घोषानं वलमो रुजा । जठरे वातजाशान्ये रोगः स्फुर्गतनिग्रहात् ॥” (भा.प्र.चि. 31/3)
2. “आटोपशूलौ परिकर्तिका च सङ्घः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः । पुरीषमास्यादथवा निरेति पुरीषेवेऽभिहते नरस्य ॥” (भा.प्र.चि. 31/4)
3. “वस्तिमेहनयोर्शूलं मूत्रकृच्छ्र शिरोरुजा । विनायो वंक्षणानाहः स्यात्किञ्च मूत्रनिग्रहे ॥” (भा.प्र.चि. 31/5)
4. “मन्यागलस्तुभिरेविकारा जृम्भोपद्यातात्पवनात्मका: स्फुः । तथाऽक्षिनासावदनमयाक्ष भवन्ति, तीव्राः सह कर्णरोगैः ॥” (भा.प्र.चि. 31/6)

(iii) नाक, कान एवं नेत्र में शूल (Pain in eyes, ear & nose)

(iv) शरीराश्रेष्ठ (Cramps or Convulsions)

(v) संकोच (Constriction)

(vi) शून्यता (Numbness)

(vii) कम्प (Tremors)

5. अश्रु निरोधज उदावर्त के लक्षण^५

(i) शिरःशूल (Headache)

(ii) प्रतिश्याय (Running nose)

(iii) नेत्र रोग (Eye diseases)

(iv) अरुचि (Anorexia)

(v) भ्रम (Vertigo)

6. क्षवथु निरोधज उदावर्त के लक्षण^६

(i) मन्यास्तम्भ (Stiffness of neck)

(ii) शिरः शूल (Headache)

(iii) अर्दित (Facial paralysis)

(iv) अर्धावभेदक (Migraine)

(v) इन्द्रिय दौर्बल्य (Improper coordination of senses)

7. उद्गारनिरोधज उदावर्त के लक्षण^७

(i) मुख एवं गला भरा प्रतीत होना (Feeling of fullness in throat & mouth)

(ii) कण्ठ में सुई चुभने सी पीड़ा (Pricking pain in throat)

(iii) वायु का रुक जाना (Dyspnoea)

8. छर्दि निरोधज उदावर्त के लक्षण^८

(i) कण्ठू (Itching)

(ii) चक्षे (Rashes)

1. “आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं नेत्रोदकं प्राप्तमसुद्धतो हि ।

शिरोगुरुत्वं नयनामयश्च भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन ॥” (सु.उ. 55)

2. “मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्थावभेदको । इन्द्रियाणां च दौर्बल्यं क्षवयोः स्याद्विधारणात् ॥” (च.सू. 7/16)

3. “कण्ठास्यपूर्णत्वमतोव तोदः कृजश्च वायोरेयवा प्रवृत्ति ।

उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति शोरा विकाराः पचनप्रस्ता ॥” (यो.र.उदा.नि. 8)

4. “कण्ठूकोठारुचिव्यङ्गशोयपाण्डवानय ज्वरः । कुष्ठहृष्टस विसर्पिर्छर्दि निग्रहजा गदाः ॥”

(यो.र.उदा.नि. 9)

- (iii) अरुचि (Anorexia)
- (iv) चेहरे पर काले धब्बे (Blackish spots on face)
- (v) शोथ (Swelling)
- (vi) पाण्डु (Anaemia)
- (vii) ज्वर (Fever)
- (viii) कुष्ठ (Skin diseases)
- (xi) विसर्प (Erysipelas)
- (x) हल्स (Nausea)

9. शुक्र निरोधज उदावर्त के लक्षण¹

- (i) गुद, अण्डकोश एवं मेढ़ में शोथ (Swelling over anus, testes & penis)
- (ii) गुद, मेढ़ में शूल (Pain in anus & penis)
- (iii) मूत्र निग्रह (Obstruction of urine)
- (iv) शुक्राश्मरी (Spermolith)
- (v) शुक्रस्रवण (Secretion of semen)

10. क्षुधा निरोधज उदावर्त के लक्षण²

- (i) तन्द्रा (Drowsiness)
- (ii) अंगमर्द (Bodyache)
- (iii) अरुचि (Anorexia)
- (iv) थकावट (Tiredness)
- (v) तमः प्रवेश (Darkness in front of eyes)

11. तृप्ता वेग निरोधज उदावर्त के लक्षण³

- (i) गला एवं मुखशोष (Dryness of throat & mouth)
- (ii) बाधिर्य (Deafness)
- (iii) हृदपीड़ा (Pain in chest & palpitation)

1. “मूत्राशये वैमुक्तगुदयोश्च शोथो रुजा मूत्रविनिग्राश। शुक्राश्मरी तत्त्ववर्णं भवेच्चैते विकारा विहते च शुक्रे ॥” (भा.प्र.चि. 31/11)
2. “तन्द्राऽङ्गमर्दावरुचिः त्रमश्कुधाभिधाताकृशता च द्रष्टे: ॥” (भा.प्र.चि. 31/12)
3. “कण्ठास्योषः श्रवणावरोधस्तृप्ता विघातात् हृदये व्यथा च ॥” (भा.प्र.चि.

- 12. श्वास निग्रहज उदावर्त के लक्षण¹
 - (i) श्वासकुच्छ्रता (Dyspnoea on exertion)
 - (ii) हृदरोग (Heart diseases)
 - (iii) मूर्च्छा (Fainting)
 - (iv) गुल्म (Lumps)
- 13. निद्रा वेग निरोधज उदावर्त के लक्षण²
 - (i) जृम्पा (Yawning)
 - (ii) अंगमर्द (Bodyache)
 - (iii) आंखों एवं शिर में भारीपन (Heaviness in eyes & head)
 - (iv) तन्द्रा (Drowsiness)

साध्यासाध्यता

1. उदावर्त का रोगी यदि तृप्ता, अति वमन से पीड़ित हो, अति क्षीण हो, शूल युक्त हो, मल का वमन कर रहा हो तो असाध्य समझना चाहिए।
2. उपर्युक्त अवस्था रहित उदावर्त का रोगी साध्य होता है।

चिकित्सा सिद्धान्त

उदावर्त के चिकित्सा के मुख्य सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं—

1. समस्त उदावर्त में सर्वप्रथम विगुणित वायु को प्रकृतिस्थ करने का प्रयास करना चाहिए³।
2. शीत ज्वर नाशक तैल का शरीर पर मालिश कर वात शामक स्वेदन का प्रयोग करना चाहिए। तत्पश्चात् दोप द्रवित होने पर वर्ति, निरुहवस्ति, स्नेह प्रयोग, विरेचन एवं वातानुलोमन चिकित्सा करनी चाहिए⁴।
3. उदावर्त में वायु की अधिकता हो तो अस्त एवं लवण रस के साथ स्नेह वस्ति देनी चाहिए। पित्त की प्रधानता होने पर क्षीर वस्ति तथा कफ की प्रधानता होने पर गौमूत्र के साथ वस्ति देनी चाहिए⁵।
4. निरुह वस्ति देने के बाद भी उदावर्त रहे तब विरेचन देना चाहिए।

1. “आन्तस्य निः श्वासद्विनिग्रहेण हृदरोगमोहावृ, वाऽपि गुल्मः ॥” (भा.प्र.चि. 31/14)
2. “जृम्पाऽङ्गमर्दोऽङ्गरोदतिजाइयं निद्राभिघातादथवाऽपितन्द्रा: ॥” (भा.प्र.चि. 31/15)
3. “सर्वेष्वेषु भिर्जा चोदावर्तेषु कृत्स्नशः । वायोः क्रिया विधातव्या: स्वमार्गप्रतिपत्ये ॥” (यो.र.चि. 1)
4. “तंतैलशीतज्वरनाशनाकं स्वैर्दैर्ययोक्तः प्रविलीनदोषम्। उपाचरेदर्तिनिरुहवस्तिश्चैहीविरक्तेरुलोमनानैः ॥” (च.चि. 26/11)
5. “वातेऽधिकेऽम्लं लवणं सौतैलं, क्षीरेण पित्ते तु कफे समूत्रम्। स मूत्रवर्चोऽनिलसंङ्घमाशु गुदं सिराश्च प्रगुणोकरोति ॥” (च.चि. 26/17)

चिकित्सा

उदावर्त की संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्नानुसार है—

1. संशोधन चिकित्सा

1. विरेचन
2. निरुह वस्ति
3. स्रोतपान
4. स्वेदन
5. फलवर्ति
6. क्षीर वस्ति

2. संशमन चिकित्सा

उदावर्त की संशमन चिकित्सा में प्रयुक्त शास्त्रीय योगों का वर्णन निम्नानुसार है—

1. रस/भस्म/पिण्ठि

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: ऊण जल
(i) नाराच रस	: पारद, गंधक, काली मिर्च, टंकण, पिप्पली, जयपाल, सुही दूध। जल से पीसकर नाभि पर लेप एवं सूखने मात्र से सुखपूर्वक विरेचन होता है।
(ii) इच्छाभेदी रस	: शुद्ध पारद, गंधक, टंकण, सोंठ, मरिच एवं त्रिगुण जयपाल।
अनुपान	: <u>शीतल जल</u> - विरेचनार्थ, <u>उण जल</u> - विरेचन बंद करने के लिए
(iii) उदयमार्त्तण्ड रस	: हिंगुल, जयपाल, वत्सनाभ, टंकण।
2. वटी	
मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: ऊण जल
(i) बैद्यनाथ वटी	: हरड़, त्रिकटु, सिन्दूर, जयपाल।
(ii) वृक्षशूलान्तक वटी	: हिंगु, अकरकरा, कलमी सोरा, पिपरमेण।
(iii) अभयादि मोदक	: त्रिकटु, त्रिमद, त्रिजात, दंती, त्रिवृत्।

3. चूर्ण

मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: ऊण जल
(i) हिंगुग्रांथादि चूर्ण	: हींग, वचा, विडनमक, सोंठ, जीरा, हरड़, पुष्कर मूल।
(ii) वचादि चूर्ण	: वच, हरड़, चित्रक, यजदार, पिप्पली, अदीम।
(iii) पंचलवण चूर्ण	: हींग, अर्कमूल, दशमूल, नुही, चित्रक, पुनर्नवा, पंचलवण।
(iv) हिंग्वादि चूर्ण	: हींग, वच, अजनोद, कूठ, सज्जीक्षार, विडंग।
(v) द्विरुत्तर हिंग्वादि चूर्ण	: हींग, वच, चित्रक, कूठ, सज्जीक्षार, विडंग।

4. क्वाथ

मात्रा	: 20-30 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) पिप्पल्यादि क्वाथ	: पंचकोल, दन्ती, त्रिवृत्।

5. घृत

मात्रा	: 10-30 मि.ली.
अनुपान	: ऊण जल
(i) स्थिराद्य घृत	: रालपणी, पृश्निपणी, कण्टकारी, बृहती, गोखुर, अमलतास, घृत।
(ii) शुष्क मूलाद्य घृत	: शुष्क मूली, आर्द्धक, पुनर्नवा, लघुपंचमूल, अमलतास।

आदर्श चिकित्सा पत्र

प्रातः सायम्

1. इच्छाभेदी रस	: 125 मि.ग्रा.
शंख भस्म	: 250 मि.ग्रा.
द्विरुत्तर हिंग्वादि चूर्ण	: 3 ग्राम
जल से	: 1×2 मात्रा
2. भोजनोत्तर	
चित्रकादि वटी	: 2 / 2 / 2
पिप्पल्यादि क्वाथ	: 20 मि.ली.
सम जल से	: 1×2 मात्रा

3. रात्रि
शुंठी धृत : 20 मि.ली.
ऊष्ण जल / कोणा दुध से 1 मात्रा

पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार

लघु, सुपाच्य आहार, मूँग, बथुआ,
मेथी, चौलाई, करेला, लौकी, आर्द्रक,
रसोन, होंग, अजमोद, जीरक, ऊष्ण
जलपान, तक्र, पपीता, द्राक्षा, नीबू
आदि।

अपथ्य

आहार

गुरु, विषम्पी, विदाही, रुक्ष, वासी
भोजन, असात्म्य, विस्त्रद्धात्र सेवन,
चावल, जामुन, आलू, कन्दशाक,
ककड़ी, दधि, केला आदि।

योग चिकित्सा

नियमित रूप से वज्रासन, पवनमुक्तासन, सर्वाङ्गासन तथा शवासन करना चाहिए।

००० टैम्पे ०६.०००

विहार

स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, वस्ति, फलवर्ति
प्रयोग, चंक्रमण, व्यायाम आदि।

विहार

वमन, मल, मूत्र वंग भारण, रात्रि
जागरण, समशन, अध्यशन, अति भोजन
आदि।

अध्याय-55

कृमि रोग (HELMINTHIASIS)

च्याधि परिचय

कृमियों के बारे में अथर्ववेद में भी वर्णन मिलता है। प्राचीन आचार्यों ने जिन कृमियों का उद्देश्य किया है उनसे आधुनिकोरु समस्त कृमियों का ग्रहण किया जा सकता है। ऋग्वेद में कृमियों द्वारा गर्भ को नष्ट करने की वात कही गई है।

समस्त आयुर्वेदीय ग्रंथों में कृमि रोग का मविस्तार वर्णन मिलता है। इसके माथ ही कृमिज रोगों के सन्दर्भ में कुछ रोगों यथा-कुष्ठ, यक्षमा, ग्रहणी, पाण्डु, ददरोग आदि का भी वर्णन उपलब्ध है। मुख्यतः कृमियों के दो भेद वर्णित हैं-

1. वाद्य कृमि

इनके साथ सहज व जन्मोत्तर कालज कृमि, यह भेद भी किया जा सकता है। सहज कृमि अविकारी होते हैं। अतः इनका वर्णन नहीं किया गया है। जन्मोत्तर कालज 20 प्रकार के कृमियों का वर्णन मिलता है। सहज कृमियों से Intestinal bacterial flora का ज्ञान होता है।

निरुक्ति / व्युत्पत्ति

- “क्रिमि: क्रव्ये मेद्यति।” (यास्क निर्वचन)
अर्थात् जो मांस के प्रति स्नेह रखता हो उसे क्रिमि कहा जाता है।
- “एतं च नाम विशेषः केचित् सान्वयाः केचित् निरन्वयाः व्यवहारये पूर्वाचार्यैः प्रणीताः।” (वाचस्पतिः आतंकदर्पण व्याख्या)

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

- चरक संहिता, मूत्र स्थान-अध्याय 19
- चरक संहिता, विमान स्थान-अध्याय 7
- सुश्रुत संहिता, उत्तर तंत्र-अध्याय 54
- अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 14
- अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 20
- माधव निदान-अध्याय 7
- भाव प्रकाश-अध्याय 7

क्रिमियों के भेद¹

शास्त्रों में क्रिमियों के भेद निम्न प्रकार वर्णित किए गए हैं—

I दो भेद²

1. सहज और अवैकारिक क्रिमि
2. जन्मोत्तरकालज या वैकारिक क्रिमि

II वैकारिक क्रिमियों के पुनः दो भेद हैं-

1. बाह्य क्रिमि या मलज क्रिमि
2. आध्यात्मिक क्रिमि

1. बाह्य क्रिमियों के पुनः दो भेद हैं-

- (i) यूका
- (ii) पिपीलिका

2. आध्यात्मिक क्रिमियों के पुनः तीन भेद हैं-

- (i) पुरीपञ्च क्रिमि : 5
- (ii) कफञ्ज क्रिमि : 7
- (iii) रक्तज क्रिमि : 6

(i) पुरीपञ्च क्रिमियों के पुनः 5 प्रकार हैं³

- (क) ककेस्क
- (ख) मकेल्क
- (ग) लेलिह
- (घ) सशूलक
- (ङ) सौसुराद

(ii) कफञ्ज क्रिमियों के पुनः 7 प्रकार हैं⁴

- (क) अन्ताद
- (ख) उदराद
- (ग) हृदयचर
- (घ) चुरु

1. "क्रिमियस्तु द्विषा प्रोक्ता बाह्याध्यात्मभेदतः। चाहर्यतकफञ्जसुग्विद्वज्ञमभेदाच्चतुर्विधाः॥ नामतो विशेषति विधाः।" (मा.नि. 7/1)

2. "विंशतिविधाः क्रिमयः पूर्वमुद्दिष्टा नामाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्यः....।"

3. "तेषां नामानि काकेस्काः, मकेस्काः, लेलिहाः, सशूलकाः, सौसुरादादेति।" (च.वि. 7/9)

4. "तेषां त्रिविधानां भ्रूष्मनिमित्तानां क्रिमीणां नामानि-अन्तादाः, उदरादाः, हृदयचराः, चुरवः, दर्घपुण्यः, सौगंधिकाः, महागुददेति।" (च.वि. 7/12)

(ङ) दर्घपुण्य

(च) सौगंधिक

(iii) रक्तज क्रिमियों के पुनः 6 प्रकार हैं⁵

(क) केशाद

(ख) लोमाद

(ग) लोमद्वीप

(घ) सौरस

(ङ) औदुम्बर

(च) जनुमात्र

आचार्य सुश्रुत एवं वागभट्ट ने क्रिमियों की संख्या तो 20 ही मानी है परन्तु इनके उपभेदों की संख्या में भिन्नता है, जो निम्न मारिणी में दर्शाया गया है—

क्र.सं.	क्रिमि	चरक संहिता	सुश्रुत संहिता	अष्टाङ्ग हृदय
1.	पुरीपञ्च	5	7	5
2.	कफञ्ज	7	6	7
3.	रक्तज	6	7	6
4.	बाह्य क्रिमि	2	-	2

सामान्य निदान

कृमि रोगों के सामान्य निदान निम्न प्रकार हैं⁶—

1. अजीर्ण भोजी।
2. मधुर एवं अम्ल पदार्थों का अति सेवन।
3. द्रव बहुल पदार्थ प्रेमी।
4. पिष्ठमय पदार्थ एवं गुड़ का अधिक सेवन।
5. व्यायाम न करना।
6. दिवास्वप्नशील।
7. विरुद्धान सेवी।

ये समस्त निदान आध्यात्मिक क्रिमियों के हैं।

8. शरीर व वस्त्रों की भलीभांति सफाई नहीं करना।
9. खान नहीं करना।

1. "नामानि-केशादाः, लोमादाः, लोमद्वीपाः, सौरसः, औदुम्बर, जनुमात्रर्थेति।" (च.वि. 7/11)

2. "अजीर्ण भोजी मधुराम्लनित्यो द्रवप्रियः गुडोपभोजा। व्यायामवर्जी च दिवास्वप्नाते विरुद्धभूक् स लभते क्रिमीस्तु॥" (मा.नि. 7/4)

10. त्वक्खिकारों से पीड़ित रोगी के सम्पर्क में रहना¹।
ये समस्त निदान बाह्य कृमियों के हैं।

क्रिमियों के विशिष्ट निदान

क्रिमियों के विभिन्न भेदों के विशिष्ट निदान निम्न प्रकार वर्णित हैं—

I पुरीषज क्रिमि के निदान²

1. उड़द एवं पिष्टमय पदार्थों का अति सेवन।
2. अम्ल व लवण रस युक्त पदार्थों का अति सेवन।
3. गुड़ का अति सेवन।
4. शाकों का अति सेवन करने से पुरीषज क्रिमियों की उत्पत्ति होती है।

II कफज क्रिमि के निदान³

1. मांसाति सेवन।
2. गुड़ाति सेवन।
3. मछली सेवन।
4. दूध एवं दही का अति सेवन।
5. शुरूक का अति सेवन।

III रक्तज क्रिमि के निदान⁴

1. विरुद्धाशन
2. अजीर्णशन
3. शाकों का अति सेवन

सम्प्राप्ति

उपरोक्त निदानों के सेवन से विभिन्न प्रकार के क्रिमियों की उत्पत्ति होती है जो रस धातु के साथ परिप्रमण कर विभिन्न कृमि रोगों को उत्पन्न करते हैं।

सम्प्राप्ति चक्र



1. “तेषां समुत्थानं मृजावर्जनं॥” (च.वि. 7/10)
2. “मापापिष्टानविदलपर्णशाकैः पुरीषजाः॥” (सु.उ.त. 54/17)
3. “मांसमापगुडक्षीरदधितेलैः कफोदभवाः॥”
4. “विरुद्धाजीर्णशाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि॥” (सु.उ.त. 54/18)

सम्प्राप्ति घटक

दोष	- कफ प्रधान त्रिदोष
दूष	- पुरीष, रक, रस
स्रोतस्	- पुरीषवह स्रोतस्, रकवह स्रोतस्
अधिष्ठान	- पक्षाशय, महाश्वातस्, शरीर
स्रोतोदुष्टि	- संग
सामान्य लक्षण ⁵	- साथ

सामान्य लक्षण⁶

क्रिमि रोग के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. ज्वर (Fever)
2. विवर्णता (Discolouration)
3. शूल (Pain in abdomen)
4. हृद रोग (Heart diseases)
5. सदन (Looseness of body)
6. भ्रम (Vertigo)
7. अरुचि (Anorexia)
8. अतिसार (Diarrhoea)
9. गुद प्रदेश में कण्डू (Itching in anal region)

विभिन्न क्रिमियों के विशिष्ट लक्षण

शास्त्रों में भेदानुसार विभिन्न क्रिमियों के विशिष्ट लक्षण निम्न प्रकार वर्णित किए गए हैं—

(1) बाह्य क्रिमि स्वरूप व लक्षण⁷

बाह्य क्रिमियों की आकृति मृक्षम, तिल के आकार की, बहुत पैर वाली तथा कृष्ण एवं श्वेत वर्ण की होती है। इनसे निम्न लक्षण होते हैं—

1. कण्डू (Itching)
2. कोठ (Rashes)
3. पिंडिका (Boils)

बाह्य क्रिमि मुख्यतः केश, लोम, शमश्रु, पक्षम व गंदे कपड़ों में निवास करते हैं।

1. “ज्वरो विवर्णता शूलं हत्रोः सदनं भ्रमः। भल्द्रेयोऽतिसारश्च मंजातकृमिलयणम्॥”
(सु.उ. 54/18)
2. “तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बरात्रयाः। वह्यादथा सूक्ष्माद्य यूका लिक्षा नामतः। द्विधा ते कोठपिंडिका कण्डूगण्डान् प्रकृयते॥”
(अ.ह.नि. 14/43-45)

(2) आभ्यान्तर क्रिमियों का स्वरूप व लक्षण

I. पुरीषज क्रिमियों का स्वरूप व लक्षण¹

ये क्रिमि पक्षाशय से नीचे गुद मार्ग की ओर तथा ऊपर आमाशय की ओर संचरित होते हैं। इनकी आकृति सूक्ष्म गोलाकार, सफेद, लम्बे, ऊन के सदृश मोटे, श्याव, नीले हरे एवं पीले वर्ण के होते हैं। इनसे निम्न लक्षण प्रकट होते हैं—

1. अतिद्रव मल प्रवृत्ति (Watery stool)
2. अतिसार (Diarrhoea)
3. पाण्डुता (Anaemia)
4. दौर्बल्य (Weakness)
5. कठोरता (Hardness of abdomen)
6. रोमहर्प (Horripilation)
7. गुद प्रदेश में कण्ठू (Itching in anus)
8. पुरीष के साथ बाहर निकलते हैं (Worms are passed out with stools)

II. कफज क्रिमि का स्वरूप व लक्षण²

कफज क्रिमियों का स्थान आमाशय है। ये आकृति में लम्बे फीते के समान, पृथु एवं गण्डूपद सदृश तथा रकाभ होते हैं। कुछ कफज कृमि सूक्ष्म, दीर्घ व पतले, श्वेत-ताम्रवर्ण के भी होते हैं। इनसे निम्न लक्षण प्रकट होते हैं—

1. हल्लास (Nausea)
2. अतिप्रसेक (Excessive salivation)
3. अरोचक (Anorexia)
4. अविपाक (Indigestion)
5. ज्वर (Fever)
6. मूर्छा (Fainting)
7. जृम्भा (Yawning)
8. क्षवथु (Sneezing)

-
1. “संस्थानवर्णविशेषास्तु-सूक्ष्मवृत्तपरीणाहः श्वेता दीर्घा ऊर्णाशुसंकाशाः। प्रभावं पुरीषभेदकार्यपार्थंलोमहर्पाभिनिवर्तनं च। त एव चास्य गुदमुखं परितुदन्तः।” (च.वि.7/13)
 2. “तेपामामाशयरथानं, संस्थानवर्णविशेषास्तु श्वेताः पृथुव्रह्मसंस्थाना केचित् केचिद् वृत्तपरिणाहा गण्डूपदा कृतयः श्वेतास्ताप्रावभासाश्च, केचिदणवो दीर्घास्तान्वाकृतयः श्वेताः, प्रभवो हल्लास, आस्यसंस्थबणम्, अरोचका विपाकौ, ज्वरः, मूर्छा, क्षवथुः, आनाहः, अंगमर्दः, छर्दि कार्यं पारुष्यं चंति।” (च.वि. 7/12)

9. आनाह (Flatulence)
10. अंगमर्द (Bodyache)
11. छर्दि (Vomiting)
12. कार्य (Emaciation)
13. पारुष्य (Dryness)

III. रक्तज क्रिमि का स्वरूप व लक्षण³

रक्तज क्रिमि रक्तवाहिनी सिराओं में होते हैं तथा अतिसूक्ष्म, गोल व पादविहीन होते हैं। ये अदृश्य होते हैं एवं सूक्ष्मदर्शी (Microscope) द्वारा देखे जा सकते हैं। इनका वर्ण ताम्र होता है। इनसे निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—

1. कण्ठू (Itching)
2. रोमाञ्च (Abnormal feelings)
3. सुई चुभने सी पीड़ा (Pricking Sensation)
4. बाल झड़ना (Hair fall)
5. शरीर पर कुछ रेंगने की अनुभूति (Hypersensitivity)
6. अधिक बढ़ने पर त्वचा, सिरा, स्नायु, मांसपेशियों व तरुणस्थियों को खा जाते हैं (May eat out skin, veins, nerves, muscles, cartilages)
7. नख, प्रक्षम, श्मशु के बालों का गिरना (Falling of eyelashes, nails & hair)

चिकित्सा सिद्धान्त

क्रिमि रोग की चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार वर्णित हैं—

1. आचार्य चरक ने क्रिमि चिकित्सा के तीन प्रमुख सिद्धान्त वर्णित किए हैं—
 1. अपकर्षण
 2. प्रकृति विघात
 3. निदान परिवर्जन
2. संशोधन चिकित्सा—क्रिमि रोग की चिकित्सा में संशोधन चिकित्सा भी महत्वपूर्ण है। वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन आदि संशोधन कर्म क्रिमि रोग की चिकित्सा में प्रशस्त हैं। इनका समावेश चरकोक्त अपकर्षण के अन्तर्गत किया गया है।

-
1. “स्थानं-रक्तवाहिन्यो धमन्यः संस्थानं अणवो वृत्ताधापादाश सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः वर्णातप्राप्रभावः केश-श्मशुलोमनखपक्षमापध्वसं व्रणगतानां च कण्ठूहर्पतोदसंसर्पणानि अति वृद्धानां च त्वक्सिरानायुमांससंस्थित्यभक्षणमिति।” (च.वि. 7/11)

- I. अपकर्षण^१—अपकर्षण से तात्पर्य खींचकर बाहर निकालना है। इसमें क्रिमियों को यन्त्रों से या हाथ से पकड़कर बाहर निकालने का विधान है। स्वस्थान (आमाशय, पक्षाशय) स्थित क्रिमियों को बाहर निकालने के लिये संशोधन चिकित्सा की सहायता ली जाती है। इसमें शिरोविरेचन के द्वारा शिरस्थ क्रिमियों को, वमन द्वारा आमाशयस्थ कृमियों को तथा पक्षाशयस्थ क्रिमियों को विरेचन व वस्ति के द्वारा बाहर निकाला जाता है। संशोधन विधि—7 दिन स्नेहन एवं स्वेदन कराने के पश्चात् क्रिमि वर्धक आहार का सेवन कराने के पश्चात् वमन, विरेचन व आस्थापन का प्रयोग एक ही दिन में कराना चाहिये।
- II. प्रकृति विघात^२—क्रिमियों की प्रकृति का नाश करना प्रकृति विघात है। इसमें क्रिमियों की प्रकृति के विरुद्ध, कटु, तिक्त, कषाय, क्षार एवं उष्ण द्रव्यों का प्रयोग कराकर क्रिमियों को नष्ट किया जाता है। प्रकृति विघात के लिये मूषाकर्णी स्वरस में फिसे हुए रक्तशालि के आटे की रोटी बनाकर विडंग तैल व नमक मिलाकर उसके साथ रोगी को खाने के लिए देना चाहिये। तत्पश्चात् खट्टी कांजी या मट्ठा में पीपर, पिप्पली मूल, चब्ब, चित्रक, सोंठ व नमक मिलाकर पिलाना चाहिये।
- III. निदान परिवर्जन^३—क्रिमि रोग के विभिन्न निदानों का परित्याग करना निदान परिवर्जन है। अपकर्षण व प्रकृति विघात के द्वारा क्रिमि निर्हरण के पश्चात् निदान परिवर्जन करने से क्रिमि उत्पत्ति पुनः नहीं होती है।
3. बाह्य क्रिमियों को सफाई द्वारा व क्रिमिघ तैल व लेप के प्रयोग द्वारा जीतना चाहिये।

चिकित्सा

क्रिमि रोग की संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्नानुसार वर्णित है—

(1) संशोधन चिकित्सा

1. वमन

1. “तत्रापकर्षणं हस्तेनाभिग्रहय विमृश्येपकरणवातऽपनयनमनुपकरेणवा:। स्थानगतानां तु क्रिमीणां भेषजेनापकर्षणं न्यायते: तत्त्वतुर्विचं, तद्यथा शिरोविरेचनं वमनं विरेचनम् आस्थापनं च, इत्यपकर्षण विधिः ॥” (च.वि. 7/13)
2. “प्रकृतिविघातस्वेतेषां कटुतिकपायक्षारोषाणां द्रव्याणामुपयोगः यच्चान्यदपि किञ्चिच्छ्लोभ्यपुरीष प्रत्यनीकभूतं तत् स्यात्। इति प्रकृति विघातः ॥” (च.वि. 7/14)
3. “अनन्तरं निदानोकानां भावानामनुपसेवनं-युक्तं निदानविधौ तस्य विवर्जनं तथा प्रायाणां चापरेणां द्रव्याणाम्।” (च.वि. 7/15)

2. विरेचन
3. निरुह वस्ति
4. ऊण तीक्ष्ण लेखन वस्ति
5. शिरो विरेचन

(2) संशमन चिकित्सा

क्रिमि रोग की संशमन चिकित्सा में प्रयुक्त शास्त्रोक्त योगों का वर्णन निम्न अनुसार है—

1. रस/भस्म/पिण्डि

- | | |
|------------------------|---|
| मात्रा | : 125-250 मि.ग्रा. |
| अनुपान | : ऊण जल |
| (i) क्रिमि मुद्गर रस | : पारद, गंधक, अजमोद, विडंग, शुद्ध कुचला, पलाश बीज |
| (ii) क्रिमिहर रस | : पारद, इन्द्रयव, अजमोद, मनःशिला |
| (iii) क्रिमिकालानल रस | : विडंग, वत्सनाभ, लौह भस्म, पारद, गंधक |
| (iv) क्रिमिघ रस | : विडंग, पलाशबीज, निम्ब बीज, रस सिन्दूर |
| (v) कीटारि रस | : शुद्ध पारद, इन्द्रयव, अजमोद, मनःशिला, पलाशबीज |
| (vi) विडंग लौहम् | : पारद, गंधक, मरिच, जायफल, लवंग, शुण्ठी, हरताल |
| (vii) क्रिमि विनाशन रस | : शुद्ध पारद, गंधक, अभ्रक, लौह, मनःशिला |

2. वटी

- | | |
|------------------------|--|
| मात्रा | : 250-500 मि.ग्रा. |
| अनुपान | : जल |
| (i) क्रिमिघातनी गुटिका | : पारद, गंधक, अजमोद, विडंग, पलाश बीज, कुचला |
| (ii) लाक्षादि वटी | : लाख, भलातक, विडंग, अर्जुन, सफेद रात, गुण्गलु (यह धूप है इसको जलाने से कीट मर जाते हैं) |
| (iii) संजीवनी वटी | : विडंग, नागर, कृष्णा, वचा, गुडुची भलातक, वत्सनाभ |

3.	चूर्ण	
	मात्रा	: 3-6 ग्राम
	अनुपान	: कोण्ण जल
(i)	विडंग चूर्ण	: विडंग, सेंधव, यवक्षार
(ii)	पलाश बीज चूर्ण	: पलाश बीज, इन्द्रयव, नीम, विडंग
(iii)	यमान्यादि चूर्ण	: अजवाइन, सेंधव
(iv)	पारसीकादि चूर्ण	: पारसीक यवानी, मोथा, पिप्पली, विडंग, अतीस
(v)	कम्पिल्लक चूर्ण	: कबीला फल रज
4.	क्वाथ/आसव-अरिष्ट	
	मात्रा	: 20-30 मि.ली.
	अनुपान	: जल
(i)	खर्जूर पत्र क्वाथ	: खर्जूर पत्र, मधु
(ii)	मुस्तादि क्वाथ	: मोथा, मूषकर्णी, पलाश, त्रिफला, शिष्ठु छाल
(iii)	विडंगारिष्ट	: विडंग, पलाश, चित्रक, इन्द्रयव, चीनी, धातकी
5.	घृत/तैल	
	मात्रा	: 10-30 मि.ली.
	अनुपान	: ऊण जल
(i)	विडंग घृत	: त्रिफला, विडंग, दशमूल एवं पंचकोल
(ii)	त्रिफलाद्य घृत	: त्रिफला, त्रिवृत, दन्ती, वच, कम्पिल्लक
(iii)	विडंग तैल	: विडंग, गंधक, मनःशिला, गोमूत्र (तैल बाह्य प्रयोगार्थ है)
(iv)	धुस्तूर तैल	: धतूरा, सर्वष तैल (बाह्य क्रमि नाशक बाह्य प्रयोगार्थ)

6.	पाक/अवलोह	
	मात्रा	: 15-20 ग्राम
	अनुपान	: दूध
(i)	पारिभद्रावलोह	: पारिभद्र, हरिद्रा, विडंग, चित्रक, मोथा
(ii)	विडंगावलोह	: विडंग, मुस्तक, चित्रक, अजमोद, यमानी, चीनी
7.	क्रिमिष्ट एकल औषधियां—पारसीक यवानी, विडंग, कम्पिल्लक, पारिभद्रपत्र, पलाशबीज, सुपारी, तुम्बी के बीज, दाढ़िम बीज, स्वर्णक्षीरी बीज, चक्रमद बीज आदि के चूर्ण क्रिमिष्ट हैं।	
	आदर्श चिकित्सा पत्र	
	प्रातः सायम्	
1.	कृमिमुद्गर रस	: 250 मि.ग्रा.
	नवायस लौह	: 500 मि.ग्रा.
	अजमोदादि चूर्ण	: 3 ग्राम
	कोण्ण जल	1×2 मात्रा
2.	भोजनोत्तर	
	क्रिमिधातनी गुटिका	: 2 / 2 / 2
	विडंगारिष्ट	: 20 मि.ली.
	सम जल से	1×2 मात्रा
3.	रात्रि	
	पारिभद्रावलोह	: 20 ग्राम
	दूध से	1 मात्रा
	विशिष्ट योग	
(i)	श्लेष्मज क्रिमि या गण्डूपदक्रिमियों में	: पलाशबीज चूर्ण (Round worms)
(ii)	पुरीषज क्रमि या अंकुश मुख क्रिमियों में	: यवानी सत्त्व (Hook worm)
(iii)	स्फीत क्रिमि (Tape worm) में	: कम्पिल्लक, पूण, दाढ़िम चूर्ण
(iv)	तन्तुक्रिमि (Thread worm) में	: चिरायता, निष्व चूर्ण

(v) श्लीपद क्रिमि (Filariasis) में

- : शाखोटक
- : निरुण्डी एवं शिगु का प्रयोग
- करना चाहिये।

(vi) स्नायुक क्रिमि में

पथ्य एवं अपथ्य

पथ्य

आहार
रक्तशालि, गेहूँ, मूंग, अरहर, हरी सब्जी, घी, दूध, कटु, तिक्त कषाय पदार्थ, तक्र, यवागु, लशुन, शिगु, प्लाण्डु, पान, कथा, मधु, पटोल/पत्र, शाक, बथुआ, आदि।

अपथ्य

आहार
दुग्ध-मछली का सेवन, द्रव व पिष्ठभय पदार्थों का अतिसेवन, घृत, उड्ढ, दही, पालक आदि पत्रशाक, मांस, ऊंटनी का दुग्ध, अम्ल एवं मधुर रस प्रधान भोजन आदि।

Latest Developments Helminthiasis

आधुनिक मतानुसार क्रिमि रोग को Helminthiasis कहा जाता है। आयुर्वेद में वर्णित रक्तज क्रिमि, पुरीषज क्रिमि, कफज क्रिमियों का साम्य आधुनिकोक्त Round worm (Ascaris lumbricoides), Thread worm (Enterobius Vermicularis) तथा Tape worm (Tinia solium) से किया जा सकता है जिनका मुख्य कारण दूषित, गंदे, बिना धुले हुए खाद्य पदार्थों को खाना तथा बिना हाथ साफ किए खाना खाने से तथा नाखून आदि को नहीं काटना है। इनके कारण क्रिमि बाह्य वातावरण से मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

Management : Principles

1. Appropriate Anti helminthic drugs.
2. Proper hygiene.
3. Balanced Diet.

विहार

बमन, विरेचन, शिरोविरेचन, आस्थापन बस्ति, धूमपान, अभ्यंग, लेप, उत्सादन आदि।

विहार

वेग धारण, बमन के वेग का धारण, दिवास्वप्न आदि।

अध्याय-56

अर्श रोग

(PILES-HAEMORRHOIDS)

व्याधि परिचय

शरीर में शत्रु की भाँति मार्ग अवरुद्ध कर पीड़ा उत्पन्न करने वाले रोग को 'अर्श' कहा है। अर्श एक प्रकार का मांसाकुर या मांस प्रोत्रों है जो महसूतस् के गुद मार्ग में उत्पन्न होता है। गुदमार्ग में स्थित मांसाकुरों को ही अर्श संज्ञा दी गई है। अन्य स्थानों पर उत्पन्न मांसाकुरों को 'अधिमांस' कहा गया है। अर्श की गुणना मांसज विकारों में की गई है। अतः इसे मांसवह स्रोतोगत व्याधि भी माना जा सकता है। किन्तु इसका अधिष्ठान पुरीषवह स्रोतस् (गुद बलि) है। अतः इसे पुरीषवह स्रोतस् की व्याधियों में वर्णित किया जा रहा है। आचार्यों ने सविस्तार से अर्श का वर्णन किया है। आचार्य चरक ने अर्श में त्वक् मांस व मेद की दुष्टि भानी है तथा आचार्य सुश्रुत ने धमनी की विकृति भी भानी है जो वैज्ञानिक दृष्टि से उपयुक्त है।

आचार्यों ने अर्श को दुर्नाम एवं दुष्कित्स्य व्याधि माना है। इस रोग में पांचों पित्त, पांचों वायु व पांचों प्रकार के कफ की दुष्टि होती है। गुद प्रदेश को त्रय गुदबलियों ऊपर से नीचे क्रमशः संवरणी, विसर्जनी एवं प्रवाहणी में अर्श को उत्पत्ति होती है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में इसे (Piles or Haemorrhoids) कहा जाता है जिसमें यकृत दोष एवं विबंध के कारण गुदमार्ग गत रक्तवाहनियाँ फूल जाती हैं एवं कमी-कभी ये अधिक फूल जाने पर फट जाती हैं जिससे रक्तसाव (Bleeding) होता है। यकृत की दुष्टि से गुदबलियों की भित्ति जो मांस तंतुओं से निर्मित होती है अति क्षीण हो जाती है। इस स्थिति में गुदबलियाँ रक्त एवं मेद से आवृत्त हो जाती हैं। बाद में गुदगत सिराओं में शोथ उत्पन्न हो जाता है तथा अधिक रक्तभर जाने से वे फूल जाती हैं और मांत्रन्त्र कठिन हो जाते हैं एवं पीड़ा देते हैं। आयुर्वेद में अर्श को कृच्छ्र साध्य माना गया है एवं महाव्याधि व अष्ट महागद में गिना गया है।

1. "अरिवत् प्राणिनो नांसकोलका विशसन्ति यत्। अशास्त्रिस्मादुत्पत्ते गुदमार्गनिरोधतः ॥" (अ.ह.नि. 7/1)
2. "तत्र स्थूलान्त्रप्रतिवद्धमर्थपञ्चमाङ्गुलं गुदमाहुः। तरिमन् बलयस्त्रिसोऽध्यर्थाङ्गुलसामतः प्रवाहणी संवरणी चेति ॥" (सु.नि. 2/5)

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

1. “अरिवत् प्राणान् शृणाति इति अर्शः ।” (मधुकोप)
2. अर्थात् जो शत्रु के समान ग्रामों को संकट में डाले उसे ‘अर्श’ कहा है।
2. “अरिवत् प्राणिनो मांस कीलका, विशसन्ति यत्। अर्शासि तस्मादुच्चने गुदमार्गनिरोधतः ॥” (अ.ह.नि. 7/1)
- अर्थात् जो मांस कीलक गुदमार्ग में अवरोध उत्पन्न करके शरीर को शत्रु के समान नष्ट करते हैं उसे ‘अर्श’ कहते हैं।

प्रमुख संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 14
2. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 2
3. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 6
4. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 7
5. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 8
6. माधव निदान-अध्याय 5
7. भाव प्रकाश-अध्याय 5
8. योग रत्नाकर-अर्शोऽधिकार

सामान्य निदान¹

आचार्य चरक ने अर्श के निम्न सामान्य निदानों का वर्णन किया है—

1. गुरु, मधुर, शीत, अभिष्यन्ति, विदाही एवं विरुद्धात्र का सेवन।
2. अजीर्णाशन, प्रमितानशन (नपा तुला अत्यन्त भोजन)।
3. असात्म्य भोजन सेवन।
4. गौ, मछली, सुअर, भैंस, बकरी, भेड़ का मांस सेवन।
5. पिटान्न, खीर, मालपुआ, दही, मण्ड, तिल-गुड़ के बने आहार सेवन।
6. उड्ढ, इक्षु, आलू, सिंघाड़ा, नवीन शूक एवं शामी धान्य सेवन।
7. अति स्नेह पान व उचित संशोधन नहीं होना।
8. व्यायाम नहीं करना।
9. अनुचित तरीके से मैथुन करना।
10. दिवास्वप्न, आस्यासुख, स्वप्नसुख।
11. मंदाग्नि, विवंध होने पर।
12. विषमआसन पर बैठना, उत्कट बैठना।
13. ऊंट सवारी।
14. वस्ति नेत्र का विधिपूर्वक प्रयोग नहीं होने से।

1. “गुरु मधुर शीताभ्यन्ति विदाहि विरुद्धाजीर्ण प्रमिताशनमसात्म्यभोजनाद् गव्यमात्स्यवाराह-माहिपजाविकपिशत् भक्षणात् कृशाशुष्कपृति..... व्यापानं चामगर्भप्रशाद् गर्भोन्ति इनद्विषमप्रसुतिपञ्च ॥” (च.चि. 14/9)

अर्श रोग

15. अति प्रवाहण।
16. विषम ग्रसव।
17. आम गर्भपात होने पर।

विशिष्ट निदान²

अर्श के विभिन्न भेदों के विशिष्ट निदान निम्न अनुसार वर्णित हैं—

(I) सहज अर्श के निदान

सहज अर्श के निर्माण में बीजावयव दुष्ट प्रधान कारण है क्योंकि गुदा का निर्माण आर्तव से होता है। अतः आर्तव के दुष्ट होने पर सहज अर्श उत्पन्न होता है। आर्तव दुष्ट के निम्न दो कारण हैं—

1. माता पिता का अपचार
2. पूर्व जन्म कृत दुष्कर्म

(II) जन्मोत्तर कालज अर्श के निदान

जन्म के पश्चात् मिथ्या आहार-विहार करने से उत्पन्न अर्श जन्मोत्तर कालज कहलाते हैं। इनके विभिन्न भेदों के निदान निम्नानुसार वर्णित हैं—

(1) वातिक अर्श के निदान³

1. कपाय, कटु, तिक्क, रुक्ष, शीत, लघु पदार्थ सेवन।
2. प्रमिताशन, भोजन काल बीतने पर भोजन करना।
3. तीक्ष्ण मद्य सेवन।
4. अति मैथुन।
5. लंघन।
6. शीतकाल।
7. अति व्यायाम।
8. शोक, वायु एवं धूप का स्पर्श।

(2) पैत्तिक अर्श के निदान³

1. कटु, अम्ल, लवण पदार्थ एवं ऊष्ण द्रव्यों का सेवन।
2. व्यायाम, अग्नि एवं आतप सेवन।

1. “तत्र बीजं गुदबलिबीजोपतसमायतनमर्शसां सहजानाम्।

तत्र द्विविधो बीजोपतसौ हेतुः मातापित्रोपचारः, पूर्वकृतं च कर्मः ॥” (च.चि. 14/5)

2. “कपायकटुतिक्काति रुक्षशीतलघूनिच। प्रमिताशनं तीक्ष्णं मद्यं मैथुनसेवनम् ॥

लघनं देशकालौ च शीतो व्यायाम कर्म च। शोको वातातपस्पर्शो हेतुवातार्शसां च तत् ॥”

(च.चि. 14/12-13)

3. “कट्वम्ललवणोऽप्यानि व्यायामान्यातप्रभा:। देशकालावशिशरौ ऋषो मद्यमसूयनम् ॥

विदाहि तीक्ष्णमूष्णं च सर्वपानत्र भेषजम्। पितोल्बणानं विज्ञेयः प्रकोप हेतुरशसाम् ॥”

(च.चि. 14/15-16)

कायचिकित्सा

3. ऊर्ण देश व ऊर्ण ऋतु ।
 4. मधुपान ।
 5. ईर्ष्या, क्रोध करना ।
 6. विदाही, ऊर्ण, तीक्ष्ण औषध सेवन ।
- (3) कफज अर्श के निदान¹
1. मधुर, स्निग्ध, शीत, लवण, अम्ल, गुरु द्रव्य सेवन ।
 2. व्यायाम का सर्वथा त्याग ।
 3. दिवास्वाप ।
 4. अधिक गुदगुदे विस्तर पर बैठने एवं लेटने की इच्छा ।
 5. पूर्वी वायु का अधिक सेवन ।
 6. आनूप देश व शीत ऋतु ।
 7. सदा निश्चित रहना ।

(4) द्वन्द्ज अर्श के निदान²

दो दोषों के प्रकोपक हेतु सम्मिलित रूप से द्वन्द्ज अर्श के निदान हैं ।

(5) त्रिदोषज अर्श के हेतु³

वातादि तीनों अर्शों के पृथक्-पृथक् हेतु सम्मिलित रूप से त्रिदोषज अर्श के निदान हैं ।

(6) रक्तज अर्श के निदान

रक्तज अर्श के निदान पैत्तिक अर्श के समस्त हेतुओं के समान होते हैं ।

सम्प्राप्ति

उपरोक्त निदानों के सेवन से प्रकुपित त्रिदोष रस तथा रक्त को दूषित करते हुए गुद प्रेश में पहुँचकर गुदबलियों में त्वक् मंस व मेद क्षे विकृत कर मांसाहुर द्वप्न कर देते हैं ।

सम्प्राप्ति चक्र

मंदाग्नि निदान सेवन



वातादि त्रिदोष प्रकोप



गुद में स्थान संश्रय

1. "मधुरस्त्वाद्यशीतानि लवणाम्लगुरुनि च । अव्यायामो दिवास्वनः शम्यासनसुखे रतिः ॥ प्राच्यातसेवाशीतौ च देशकालावचित्तनम् । श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत् कारणमर्शसाम् ॥" (च.चि. 14/18-19)
2. "हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्यात् द्वन्द्वोत्पानि च ।" (च.चि. 14/20)
3. "सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम् ॥" (च.चि. 14/20)

अर्श रोग



सम्प्राप्ति घटक

दोष	- त्रिदोष
दूष	- मांस, रक्त, मेद, त्वक्
स्रोतस्	- मांसवह, रक्तवह, पुरीपवह
अधिष्ठान	- गुद वलित्रय
स्रोतोदुष्टि	- संग
अग्नि	- अग्निमांद्य
उद्भव	- आमाशयोत्थ
स्वभाव	- दारूण
साध्यासाध्यता	- कृच्छसाध्य

अर्श के भेद

आचार्य चरक ने अर्श के दो भेद वर्णित किए हैं⁴

1. सहज अर्श
2. जन्मोत्तर कालज अर्श— इसके पुनः 6 भेद हैं—
 1. वातज अर्श
 2. पित्तज अर्श
 3. कफज अर्श
 4. द्वन्द्ज अर्श
 5. सत्रिपातज अर्श
 6. रक्तार्श

अतः कुल सात प्रकार के अर्श आचार्य चरक ने माने हैं ।

आचार्य सुश्रुत एवं माधवकर ने छः प्रकार के अर्श रोगों का वर्णन किया है⁵

1. वातिक अर्श
-
1. "द्विविधान्यर्शासि-कानिचित् सहजानि कानिचिज्ञातस्योत्तरकालजानि ॥" (च.चि. 14/15)
 2. "यडशासि भवन्ति वातपितकफरोणितसत्रिपातै सहजानि चेति ॥" (सु.नि. 2/22)

2. पैत्तिक अर्श
3. कफज अर्श
4. रक्ताश
5. सत्रिपातज अर्श
6. सहज अर्श

आचार्य चरक एवं वागभट् ने अर्श के पुनः 2 भेद और वर्णित किए हैं—

1. आर्द्र अर्श
2. शुष्काश्च

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में दो प्रकार के अर्श माने गये हैं—

1. External Piles
2. Internal Piles

द्वन्द्वज अशों में प्रकृति सम समवेत सम्मूर्च्छना होती है, अतः आचार्य सुश्रुत ने इनका वर्णन तो किया है पर अशी भेदों में समावेश नहीं किया है।

पूर्वरूप^१

अर्श के पूर्वरूप निम्न प्रकार वर्णित हैं—

1. विष्टम्भ (Indigestion)
2. आटोप (Flatulence)
3. दौर्बल्य (Weakness)
4. विबंध (Constipation)
5. काश्य (Emaciation)
6. उद्गार बाहुल्य (Excessive belching)
7. सक्थि सदन (Pain in thighs)
8. ग्रहणी दोष (Sprue)
9. पाण्डु (Anaemia)
10. उदर रोग (Abdominal disorder)
11. पिपासा (Polydypsia)
12. अल्प विटकता (Small quantity of stool)

1. “वातस्तेष्योत्त्वणान्याहुः शुष्काष्यशासि तद्विदः । प्रसावोणि तथाऽऽर्द्धणि रक्तपित्तोत्त्वणनि च ॥”
(च.चि. 14/38)
2. “विष्ट्योऽन्तस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च । कार्यमुदारारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविटकता ॥
ग्रहणीदोषपाण्डवतेरशंका चोदरस्य च । पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्ये ॥”
(च.चि. 14/22)

सामान्य लक्षण

अर्श के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं—

1. गुद प्रदेश में शूल एवं दाह के साथ रक्त प्रवृत्ति (Bleeding per anus with pain & burning)
2. मलबद्धता (Constipation)
3. अतिसार (Diarrhoea)
4. उदर में आटोप तथा आध्मान (Flatulence)

अर्श के भेदानुसार विशिष्ट लक्षण

शास्त्रों में अर्श के विभिन्न भेदानुसार लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं—

(1) वातज अर्श के लक्षण^२

1. शुष्क, चुनचुनाहट युक्त (Dry, Irritant)
2. हल्के रक्तवर्ण, कड़े एवं खुरदुरे (Rough, hard & reddish piles)
3. ककोंटक फल के समान कण्टक युक्त
4. खजूर, बेर, कार्पास, कदम्ब पुष्प सदृश होते हैं ।
5. ऊण एवं स्निग्ध सेवन से लाभ होता है ।
6. इसके रोगी में निम्न लक्षण मिलते हैं—
 - (i) छींक (Sneezing)
 - (ii) उद्गार (Belching)
 - (iii) मलावरोध (Constipation)
 - (iv) हृद पीड़ा (Chest Pain)
 - (v) अरोत्क (Anorexia)
 - (vi) श्वास, कास (Dyspnoea & Cough)
 - (vii) कर्णनाद एवं भ्रम (Tinnitus & Vertigo)
 - (viii) कठोर, फेनयुक्त प्रवाहण करने पर अल्पमल त्वाग ।
 - (ix) रोगी का त्वचा, नेत्र, नख, मूत्र एवं मल काले हो जाते हैं ।

(2) पित्तार्श के लक्षण^२

1. पित्तार्श के मांसाकुर का मुख नीले रंग का, वर्ण लाल पीला तथा काला होता है ।
2. पतला दुर्गन्ध युक्त रक्तस्राव ।

1. “गुदाकुंर बहिनिला: शुष्काश्चिमचिमावितः । विष्ट्योखर्जूरकक्न्युकार्पासीफलसत्रिभाः ॥
शिरः पार्श्वासकद्यूर्वंक्षणाद्यधिकव्यथाः । क्षवथृद्गार विष्ट्यहदग्रहारोचकप्रदः ।
कासशासाग्निवैष्ट्यकर्णनाद भ्रमावहाः ॥ संभवस्तत एव च ॥”
(च.नि. 7/8)
2. “पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः । तन्वसविणो विक्षास्तनवो मृदवः श्लथाः ॥
शूक जिहायकृत्खण्ड जलौकोववत्र सत्रिभाः । दाहापाकज्वरस्वेदतुष्मूर्च्छाऽरतिमोहदाः ॥”
(भा.प्र.चि. 5/18-19)

3. अर्श की आकृति तोते की चोंच के समान तथा यकृत पिण्ड के समान होती है।
4. गुद पाक (Inflammation of anus)
5. दाह एवं ज्वर (Burning & fever)
6. स्वेद प्रवृत्ति (Sweating)
7. तृष्णा (Polydipsia)
8. मूर्छा (Fainting)
9. बैचेनी (Restlessness)
10. रोगी का मल पतला, नीला पीला व आमयुक्त होता है।

(3) कफज अर्श के लक्षण¹

1. अर्श काफी गहरा होता है (Deep seated piles)
2. हल्की पीड़ा युक्त, सघन, श्वेत, स्नाध, स्तब्ध, गोल, गुरु, स्थिर, पिच्छल,
3. बांस के अंकुर व मुनक्का के समान अर्श।
4. रोगी को बंक्षण प्रदेश में बंधन सी अनुभूति (Tightness in inguinal region)
5. कास एवं श्वास (Cough & Dyspnoea)
6. मुख वैरस्य (Bitter Taste of Mouth)
7. अरुचि (Anorexia)
8. पीनस (Running Nose)
9. प्रमेह (Diabetes)
10. मूत्रकृच्छ्र (Dysuria)
11. मष्टिष्ठ जाइय (Dullness of Mind)
12. वमन (Vomiting)
13. नंपुसकता (Impotence)

(4) सहज अर्श के लक्षण²

1. सहज अंशकुर छोटे, बड़े, गोल, जालीदार, अन्दर की ओर मुख वाले होते हैं।
2. रोगी जन्म से दुर्बल, दीन, क्षीण होता है।
3. विबद्ध मल, मूत्र एवं अपान वायु (Obstruction of urine, faeces & flatus)

1. "तत्र यानि प्रमाणवत्युपचितानि, श्लक्षणानि, स्पर्शसहानि स्नाधश्वेतपाण्डु, पिच्छलानि, स्तब्धानि, गुरुणि, स्तिमितानि परिकर्तिकाहलासनिष्ठिविकाविपाकासारोचकप्रतिशयायगौवच्छर्दि..... श्लेष्मोल्बणानि अर्शास्ति विद्यात् ॥" (च.चि. 14/17)
2. "तत्र सहजान्यशासि कानिचिदण्णनि, कानिचिम्महान्ति कानिचिद् दीर्घाणि..... ॥"

(च.चि. 14/7)
"तैरुपहतो जन्मप्रभृति भवत्पतिक्षयो विवरणः क्षामो दीनः प्रचुरविबद्धवात्मूत्रपुरीषः शर्कराशर्मरीमान् तयाऽनियत विवद्ध मुक्तपक्षामशुष्कभिन्नवर्चा..... सहजान्यशासि" (च.चि. 14/7)

4. अश्मरी एवं शर्करा (Stones, Crystalluria)
5. कभी विवन्ध, कभी द्रव मल, कभी आम व शुष्क मल की प्रवृत्ति।
6. उदावर्त (Upward Movement of wind)
7. गुदपाक (Inflammation of anus)
8. आटोप (Flatulence)
9. हृद प्रदेश का कफ पित्त लिस रहना
10. मंदाग्नि (Indigestion)
11. दुर्बल (Weak)
12. अल्पवीर्ययुक्त (Oligospermia)
13. उद्गार बाहुल्य (Excessive Belching)
14. वमन (Vomiting)
15. अरुचि (Anorexia)

(5) रक्तार्श के लक्षण¹

1. रक्तार्श वट प्रोरोह, प्रवाल, गुंजाफल की आकृति के होते हैं।
2. इनके लक्षण पित्तज अर्श से मिलते हैं।
3. कठिन मल प्रवृत्ति से अर्श फट जाने से रक्त प्रवृत्ति (Bleeding due to hard stool)
4. शिरःशूल (Headache)
5. आक्षेप (Convulsions)
6. रक्ताल्पता एवं दुर्बलता (Anaemia & Weakness)
7. कटि, गुद, उरु व मस्तक में शूल (Pain in Low back, Anus, Thighs & Head)
8. पतला एवं फेनिल रक्त साव (Liquid & foamy bleeding)

साध्यासाध्यता-अर्श को दुश्मिकित्य एवं दुर्नाम कहा है। उत्पत्ति काल में पाँचों वायु, पाँचों पित्त व पांचों कफ कुपित होकर गुद वलि में आश्रित होकर अर्श उत्पन्न करते हैं। अतः अर्श रोग दुःखकारक तथा अनेक प्रकार के रोगों के कारण सम्पूर्ण शरीर में ताप उत्पन्न करने वाले प्रायः कृच्छ्र साध्य होते हैं²। स्थान विशेष के कारण अर्श की साध्यता एवं कृच्छ्रसाध्यता होती है।

1. "रक्तोल्बणा गुदे कीला: पित्ताकृतिसमन्विता। वटप्रोहसदृशा गुञ्जाविद्रुमसन्त्रिभा: ॥ तेऽत्यर्थं दुष्टमुण्डं च गादविद्युप्रतिपीडिता: । स्ववन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तिः ॥ भेकाभः पीड्यते दुखैः शोणितक्षयसम्बैः । हीनवर्णवलोत्साहो हतौजाः कलुयेन्द्रियः ॥"
(अ.ह.नि. 7/43-45)
2. "पंचात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम् । सर्वं एवं प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवै ॥ तस्मादर्शासि दुःखानि बहुव्याधिकारणं च । सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥"
(च.चि. 14/24-25)

1. साध्य अर्श के लक्षण^१

- (i) एकदोपज
- (ii) संवरणी गुद बली में उत्पन्न
- (iii) नवीन अर्श (1 वर्ष से अधिक पुराने न हों) सुख साध्य होते हैं।

2. कृच्छ्रसाध्य अर्श के लक्षण^२

- 1. द्वन्द्ज अर्श
- 2. द्वितीय बलि में उत्पन्न
- 3. एक वर्ष से पुराने अर्श कृच्छ्रसाध्य होते हैं।

3. असाध्य अर्श के लक्षण^३

- 1. जिस रोगी के हाथ, पैर, मुख, नाभि, गुदा एवं अण्डकोश में शोथ हो, हृदय एवं पसलियों में शूल हो।
- 2. जिस रोगी में मूर्च्छा, वमन, सर्वाङ्ग वेदना, ज्वर, प्यास एवं गुद प्रदेश में पाक हो।
- 3. सहज अर्श।
- 4. त्रिदोषज अर्श।
- 5. तृतीय (आध्यन्तर) बलि में स्थित अर्श असाध्य होते हैं।

सापेक्ष निदान

क्र.सं.	अधोग रक्त पित्त	रक्तार्श	रक्तातिसार
1.	मांसाकुर नहीं होते	मांसाकुर होते हैं	मांसांकुर नहीं होते।
2.	मल के बिना भी रक्तस्राव	मल त्याग के पूर्व व पश्चात् रक्तस्राव	मल रक्त युक्त होता है।
3.	रक्त स्राव अधिक	रक्त स्राव कुछ कम	रक्तस्राव बहुत कम।
4.	पीड़ा नहीं होती	मल त्याग में पीड़ा	पीड़ा नहीं होती।
5.	दूषित रक्त स्राव	शुद्ध रक्त स्राव	शुद्ध रक्त स्राव।
6.	अग्निमांद्य नहीं	अग्निमांद्य ++	अग्निमांद्य+++

1. “बाह्यान्तु बलौ जातान्यैकदोपोल्वणाने च । अर्शासि सुखसाध्यानि न चिरात्पातितानि च ॥”
(च.चि. 14/31)
2. “द्वन्द्जानि द्वितीयाना बलौ यान्यत्रितानि च । कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसवंत्सरणि च ॥”
(च.चि. 14/30)
3. “हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा । शोधो हत्पार्श्वशूलं च ययासाध्योऽर्शसो हि सः ॥ हत्पार्श्वशूलं संमोह छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः । तृष्णा गुदस्य पाकक्ष निहन्ति गुदजातुरम् । सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाध्यन्तरां बलिम् । जायन्ते इशासि संक्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥”
(च.चि. 14/26-28)

चिकित्सा सिद्धान्त-अर्श की चिकित्सा के प्रमुख सिद्धान्त निम्न हैं-

शुष्कार्श चिकित्सासूत्र

1. अर्श रोग शीघ्र चिकित्स्य है यदि उसकी शीघ्र चिकित्सा न की गई तो वह मलवाही स्रोत द्वारा गुदा के मार्ग को बंद कर शीघ्र ही बद्धगुदोदर उत्पन्न करता है।
2. जकड़ाहट युक्त शुष्कार्श में सर्वप्रथम स्वेदन कर्म कराना चाहिये । तत्र, काञ्जी या गर्म गोमूत्र में अवगाहन कराना हितकर है।
3. अग्निमांद्य की स्थिति में भोजन पूर्व हरड़ व गुड़ को पाचनार्थ प्रयोग कराया जाय।
4. वात-कफज अर्श में तत्र का प्रयोग त्रेष्ठ है । वातज अर्श में स्नेहयुक्त तत्र व कफज में स्नेह रहित तत्र का प्रयोग कराना चाहिये।
5. शुष्कार्श के रोगी को उदार्वत होने पर अनुवासन एवं निरुहवस्ति का प्रयोग कराना चाहिये।

रक्तार्श चिकित्सा सूत्र

1. रक्तार्श में यदि वात का भनुवंध है तो स्निग्ध एवं शीतल आहार विहार तथा औषध का प्रयोग करायें तथा कफानुवंध है तब रक्ष एवं शीतल आहार विहार एवं औषध द्रव्यों का प्रयोग हितकर है।
2. पित्त एवं कफ की अधिकता देखकर रक्तार्श के रोगी में वमन कराना चाहिये।
3. अर्श से होने वाले रक्त स्राव की उपेक्षा करना चाहिये व लघुनं कराना चाहिये।

-
1. “तेषां प्रशमने यत्तमाशु कुर्याद्विचक्षणः । तान्याशु हि गुदं बद्धध्वा कुर्याद्बद्धगुदोदरम् ॥”
(च.चि. 14/32)
 2. “स्तव्यानि स्वेदयेत् पूर्वं शूलशोकान्वितानि च ॥” (च.चि. 14/39)
 3. “बिल्वक्षणै तथात्रकदिप्तिमाण्डान्तकाञ्जिके । गोमूत्रे वा सुदांप्राणे तं स्वभक्तमवगाहयेत् ॥”
(च.चि. 14/47)
 4. “पाचनं पाययेद्वा तद्युक्तं हयातिसारके । सगुडामभयां वापि प्राशयेत् पौर्वभक्तिकोम् ॥”
(च.चि. 14/65)
 5. “वातश्लेष्मार्शसां तक्रात् परं नास्तीहन्तेष्वेत् । तत् प्रयोग्य यथा दोषं सञ्ज्ञेत् रक्षमेव वा ॥”
(च.चि. 14/78)
 6. “स्निग्धशीतं हितं वाते रक्षशीतं कफानुगे । चिकित्सतमिदं तस्माद् संप्रधार्य प्रयोजेयत्”
(च.चि. 14/175)
 7. “पित्तश्लेष्माधिकं मत्वा शोधनेनोपादयेत् ॥” (च.चि. 14/176)
 8. “स्रावणं चायुपेक्षेत लंघनैवा समाचरेत् ॥” (च.चि. 14/176)

4. दुष्ट रक्त के निकल जाने पर रक्तस्राव को बंद करने के लिये तिक्त द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।
 5. गर्भों के दिनों में पितृ प्रधान रक्तार्श में रक्तस्राव को तुरन्त बंद करना चाहिये।
 6. रक्तार्श में पिच्छावस्ति व अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिये।
 7. अर्श से पीड़ित रोगी में बारी-बारी से मधुर-अम्ल एवं शीत-ऊष्ण द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।
 8. अर्श, अतिसार एवं ग्रहणी रोग परस्पर एक दूसरे के हेतु हैं एवं अग्निमांय से उत्पन्न होते हैं तथा अग्नि की वृद्धि होने पर स्वतः शांत हो जाते हैं।
- शल्य प्रधान ग्रंथों में अर्श की चिकित्सा के 4 सिद्धान्त वर्णित हैं-
1. भेषज-अल्पदोष व अल्प उपद्रव युक्त अर्श में।
 2. क्षारकर्म-मृदु अवगाढ़, रक्तज, चित्तार्श में।
 3. अग्निकर्म-कर्कश, कठिन, वात-कफज अर्श में।
 4. शस्त्रकर्म-तनुमूल, समस्त दोषज अर्श शस्त्रकर्म साध्य हैं।

चिकित्सा-अर्श की संशोधन एवं संशमन चिकित्सा निम्नानुसार है-

1. संशोधन चिकित्सा

1. वमन
2. विरेचन
3. आस्थापन एवं अनुवासनवस्ति
4. पिच्छावस्ति

2. संशमन चिकित्सा-अर्श की शास्त्रोक्त संशमन चिकित्सा के प्रमुख योगों का वर्णन निम्न प्रकार है-

1. रस/भस्म/पिण्डी

मात्रा - 125 - 250 मि.ग्रा.

अनुपान - ऊण जल

- (i) अर्शकुठार रस- पारद, गंधक, लौहभस्म, अभ्रक भस्म, दन्ती, शूरण।
1. “अग्निसंदीपनार्थं च रक्तसंग्रहणाय च। दोषाणां पाचनार्थं च परं तिक्तरूपाचरेत्॥”
(च.चि. 14/182)
 2. “पिच्छावस्तिरयं सिद्धः सघृतक्षौद्रशर्करः ॥” (च.चि. 14/128)
 3. “व्यत्यासान्मधुराम्लानि शीतोष्णानि च योजयेत्। नित्यमग्निवलापेक्षी जयत्यर्शः कृतान् गदान्॥”
(च.चि. 14/243)
 4. “त्रयोविकारा प्रायेण ये परस्पर हेतवः। अर्शासि चातिसारक्ष ग्रहणीदोष एव च ॥
एषामग्निवले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः। तस्मादग्निवलं रक्ष्यमेषु त्रिपु विशेषतः ॥”
(च.चि. 4/244-245)
 5. “दुर्नामां साधनोपायक्षतुर्धा परिकीर्तिः। भेषजक्षारशस्त्राग्नि साध्यत्वादद्य उच्यते ॥”
(भै.र. 9/1)

- (ii) चक्राख्यो रस- पारद, अभ्रकभस्म, वैक्रान्त भस्म, ताम्रभस्म, कांस्यभस्म।
- (iii) नित्योदित रस-पारद, गंधक, अभ्रकभस्म, लौहभस्म, शुद्ध वत्सनाभ।
- (iv) अष्टाङ्ग रस- पारद, गंधक, मण्डूर, त्रिफला, त्रिकटु, दालचीनी।

2. वटी

मात्रा - 250 - 500 मि.ग्रा.

अनुपान - कोण्ठ जल

- (i) पंचानन वटी-पारद, रस सिन्दूर, लौह, अभ्रक, सूर्याकंद, मानकंद।
- (ii) जातिफलादि वटी-जायफल, लवंग, बिडंग, पिप्पती, सुष्ठी, सैंधव।
- (iii) शिलांगधक वटी- मनःशिला, गंधक।
- (iv) चन्द्रप्रभा वटी-त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, सैंधव, यवक्षार, स्वर्ण माक्षिक, शिलाजीत।

3. चूर्ण

मात्रा - 3 - 6 ग्राम

अनुपान - ऊण जल

- (i) त्र्यूषणाद्य चूर्ण- षडूषण, पाठा, होंग, पुष्करमूल, चीरक।
- (ii) समशर्कर चूर्ण- चतुर्जाति, त्रिकटु, चीनी।
- (iii) व्योषाद्य चूर्ण- त्रिकटु, भलातक, बिडंग, तित, हरड़।
- (iv) विजय चूर्ण-त्रिफला, त्रिकटु, त्रिजात, वचा, होंग, पाठा, यवक्षार।
- (v) धत्तुरादि चूर्ण-धत्तूर, पिप्पली, हरीतकी, नेत्रबाला।

4. क्लाथ/आसव-अरिष्ट

मात्रा - 20 - 30 मि.ली.

अनुपान - जल

- (i) चन्दनादिक्लाथ-चन्दन, किरात तिक्कक, यवासा, दालचीनी।
- (ii) चिरबिल्वादिक्लाथ-करंज, पुनर्नवा, हरड़, पीपर, सौंठ, सैंधव।
- (iii) दन्त्यरिष्ट-दन्ती, चित्रक, दशमूल, गोक्षुर।
- (iv) द्राक्षासव-द्राक्षा, जावित्री, लौंग, त्रिजात।
- (v) अभयारिष्ट-हरड़, मुनक्का, बिडंग, गोक्षुर।
- (vi) तक्रारिष्ट-स्याहजीरा, धनिया, जीरा, कचूर, अजवाइन, पिप्पलीमूल।
- (vii) फलारिष्ट-हरड़, आंवला, पाठा, चित्रक, कपित्थ।
- (viii) कनकारिष्ट-आंवला, पीपर, विडंग, मरिच, पाठा, पिप्पलीमूल, चब्ब, चित्रक।

5. घृत

मात्रा - 10 - 30 मि.ली.

अनुपान - कोण्ठ जल/तक्र

- (i) चब्बादि घृत- चब्ब, त्रिकटु, पाठा, यवक्षार, विडलवण।
- (ii) नागराद्य घृत- सोंठ, पिप्पलीमूल, चित्रक, गोक्षुर, पीपर, धनिया।
- (iii) पिप्पल्यादि घृत- पीपर, सोंठ, गोक्षुर, पाठा।
- (iv) सुनिषेण चांगेरीघृत- सॉफ, बला, दारुहरिद्रा, उदुम्बर, गोक्षुर।

अनुवासनार्थ

- (v) कासीसाद्य तैल-कासीस, दन्ती, सैंधव, कनेर, चित्रक।
- (vi) पिप्पल्याद्य तैल-पीपल, मुलैठी, बिल्व गूदा, सॉफ, मदनफल, सुण्ठी।

6. पाक/अवलेह

मात्रा - 15 - 20 ग्राम

अनुपान - दूध

- (i) गुडभलातक प्रयोग-दशमूल, अमृता, भांगा, श्वदष्टां, चित्रक, शटी।
- (ii) श्रीबाहुशाल गुड़-त्रिवृत, दन्ती, चब्ब, गोक्षुर, चित्रक, कंचूर, मोथा, शुण्ठी।
- (iii) दशमूल गुड़- दशमूल, चित्रक, दन्ती, पीपल।
- (iv) कुटजादि रस क्रिया- कुटज छाल, मोचरस, मंजीठ।

7. मोदक

मात्रा - 250 मि.ग्रा.

अनुपान - तक्र

- (i) कांकायन मोदक-हरीतकी, जीवक, कालीमिर्च, पिप्पली, चित्रक, भिलावा।
- (ii) प्राणदा गुटिका-आर्द्रक, सोंठ, मरिच, पीपल, चब्ब, तालीस, नागकेशर।
- (iii) मणिभद्र मोदक-विंडंग, आंवला, हरड़, त्रिवृत, गुड़।
- (iv) सूरण मोदक-काली मिर्च, सुण्ठी, पीपल, मरिच।
- (v) भलातकादि मोदक-भलातक, काला तिल, हरड़।
- (vi) कृष्णतिलादि योग-कृष्ण तिल।

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रातः सांयम्

अर्शकुठर रस -	250 मि.ग्रा.
समशर्कर चूर्ण -	2 ग्राम
विजय चूर्ण -	2 ग्राम
तक्र से	1 × 2 मात्रा

अर्श रोग

- 2. भोजनोत्तर
कांकायन गुटिका - 2/2/2
अभयारिष्ट - 20 मि.ली.
समभाग जल से 1 × 2 मात्रा
- 3. रात्रि
पंचसकार चूर्ण - 3 ग्राम
कोण्ठ जल 1 मात्रा
- 4. अर्श पर लगाने हेतु- जात्यादि तैल
(स्थानिक प्रयोगार्थ)

रक्तार्श में

- 1. प्रातः सांयम्
नित्योदित रस - 250 मि.ग्रा.
जातीफलादि वटी - 250 ग्राम
शंखभस्म - 500 मि.ग्रा.
मधु से 1 × 2 मात्रा
- 2. भोजनोत्तर
समशर्कर चूर्ण - 3 ग्राम
कोण्ठ जल से 1 × 2 मात्रा
चन्दनासव 20 मि.लि.
समजल 1 × 2 मात्रा
- 3. रात्रि
अविपत्तिकर चूर्ण 3 ग्राम
कोण्ठ जल से 1 मात्रा
- 4. स्थानिक प्रयोगार्थ - कासीसाद्य तैल, जात्यादि तैल

पथ्य एवं अपथ्य

1. शुष्कार्श

पथ्य आहार	विहार
साठी चावल, गेहूँ, अरहर, जौ, आंवला, मुद्ग, घृत, लौकी, परवल, पालक, शूरण, हरीशाक, मांसरस, सैंधव, पपीता, सेव, तक्र, खीरा, अंगूर, आम आदि।	व्यायाम, वमन, विरेचन, अनुवासन, पिच्छावस्ति आदि।

अपथ्य आहार	विहार
गुरु, विषभी पदार्थ, उड़द, चना, गर्ममसाले, अचार, आलू, कन्दशाक, अध्यशन, अति मात्रा में भोजन आदि।	दिवास्वाप, उत्कट बैठना, घोड़ा-जंट की सवारी, वेगावरोध आदि।

2. रक्ताश्र

पथ्य आहार

साठी चावल, गेहूं, जौ, मूँग, अरहर, मसूर, मिश्री, गाय एवं बकरी का दूध, घृत, खरणोश, तीतर, बटेर का मांसरस, हरी सब्जी, कुलत्थ, कांजी, फल, सूरण, तक्रा, आमलकी, कपित्थ, पटोल आदि।

अपथ्य आहार

गुरु, अभिष्यन्ती पदार्थ, लवण, गर्ममसाले, विदाही पदार्थ, मैथुन आदि।

Latest Developments

Piles-Haemorrhoids

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में अर्श को Piles या Haemorrhoids कहते हैं।

Varicosities of the haemorrhoidal venous plexus which could be acute, chronic or relapsing is called Haemorrhoids. Divided into four degrees, all of which bleed, but 2nd degree prolapses, 3rd degree needs manual reduction & 4th degree gets incarcerated.

Clinical Features

1. Bleeding per rectum
2. Pain in piles locally
3. Pruritus
4. Mucoid local discharge
5. Straining of stool
6. Constipation
7. Occasional painful prolapsed thrombosed mass
8. Anaemia in chronic bleeding

Management : Principles

1. Treatment is medical on an outpatient basis except for severe cases needing surgery.
2. Avoidance of constipation.
3. Local measures and Sitz's Baths for relief of symptoms.
4. High fibre diet & increased intake of fluids.
5. Elimination of constipating foods like cheese, unripe fruits.
6. More exercise, and reduction of time spent on the commode.
7. Detail patient on use of Haemorrhoidal creams.

••• ट्रॉफि ७ •••

नवम खण्ड

त्वक् गत रोग

त्वचा परिचय

शुक्र शोणित का संयोग होने पर एवं भूतात्मा के प्रवेश के पश्चात्, त्रिदोषों विशेषतः पित दोष के द्वारा वर्धित होते हुए गर्भ के पृष्ठ भाग पर त्वचा को कड़ तहे (stratifiers) बनती हैं एवं सर्वाङ्गपरिपूर्ण गर्भ के शरीर पर ये सब तहें मिलकर त्वचा (Skin) बनती हैं। अतः सम्पूर्ण शरीर को बाहर से आवृत करने वाला अंग त्वचा है। आचार्य सुश्रूत ने त्वचा के सात भेद वर्तलाएँ जो निम्न प्रकार हैं—

(i) अवभासिनी

यह सभी वर्णों (कृष्ण, श्याम, गौर आदि) को प्रकट करती है और याँचों प्रकार की छाया को प्रकाशित करती है। यह सबसे पतली व बाहरी तह है। यह सिध्ध और पद्धकण्टक रोग का अधिष्ठान है²। आचार्य चरक ने इसे उद्कृधरा कहा है। आधुनिक मतानुसार यह Horny layer है।

(ii) लोहिता³

इसे आचार्य चरक ने रक्तधरा कहा है। इसमें रक्तवाहिनियाँ (Capillaries) रहती हैं इसलिए इसका रंग या वर्ण लाल होता है। इसमें तिलकालक, न्यच्छ व व्यङ्ग रोग का अधिष्ठान होता है। आधुनिक मतानुसार यह Stratum lucidum है।

(iii) श्वेता

इसका वर्ण श्वेत या सफेद होता है। आधुनिक मतानुसार इसे Stratum Granulosum कहते हैं। इसमें चर्मदल, अजगली, व मशक रोगों का अधिष्ठान होता है। आचार्य चरक ने इसे तीसरी त्वचा कहा है।

1. “तस्य खल्वेवं प्रवृत्तस्य शुक्ररोणितस्याभिपच्चामानस्य क्षीरस्येव सनानिकाः सतत्वद्यो भवन्ति।” (सु.शा. 4/3)
2. “तासां प्रथमाऽवभा॑जनी नाम, या सर्ववर्गवभासयति पञ्चविधां च छायां प्रकाशयति, सा ग्रीहेरण्डशभाग इमाणा, सिध्धपद्मकण्टकाअधिष्ठाना;” (सु.शा. 4/3)
3. “द्वितीया लोहिता नाम, ग्रीहियोऽशभागप्रमाणा, तिलकालकन्यच्छव्यङ्गाभिष्ठाना;” (सु.शा. 4/3)
4. “तृतीयाश्वेता नाम, ग्रीहेरण्डशभाग प्रमाणा, चर्मदलाजगली मशकाभिष्ठाना।” (सु.शा. 4/3)

(iv) ताप्ता^१

इसका वर्ण ताप्त की तरह रक्तवर्ण होता है। आधुनिक मतानुसार इसे Malpighian layer कहा जाता है। इसका समावेश आचार्य चरकोक्त तीसरी त्वचा में होता है^२। इसमें किलास (शित्र) व कुष्ठ (Skin diseases) का अधिष्ठान होता है।

उपर्युक्त वर्णित चारों प्रकार की त्वचाओं को आधुनिक मतानुसार बाह्यत्वचा (Epidermis) के अंतर्गत समाविष्ट किया जाता है।

(v) वेदिनी^३

यह आधुनिक मतानुसार Papillary layer कहलाती है। इसमें कुष्ठ तथा विसर्प रोग का अधिष्ठान होता है। आचार्य चरक ने इसे चौथी त्वचा के अंतर्गत माना है जिसमें ददु व कुष्ठ की उत्पत्ति बताई है। अतः स्पष्ट है कि कुष्ठ रोग का आश्रय आचार्य चरक ने चौथी त्वचा में व आचार्य सुश्रूत ने पांचवी (वेदिनी) त्वचा में माना है।

(vi) रोहिणी^४

इसे आचार्य चरक ने पांचवी त्वचा माना है। यह आधुनिक मत से Reticular Layer कहलाती है। यह त्वचा ग्रंथि, अपची, अर्बुद, श्लीपद, गलगण्ड एवं अलजी आदि रोगों का अधिष्ठान मानी गयी है।

उपर्युक्त वेदिनी व रोहिणी को मिलाकर अन्तस्त्वचा (Dermis) कहा जाता है।

(vii) मांसधरा^५

इसे आधुनिक मतानुसार "Subcutaneous tissue & muscles" माना जाता है। आचार्य सुश्रूत ने इसमें भग्नदर, विद्रधि एवं अर्श रोग का अधिष्ठान माना है। आचार्य चरक ने इसे छठी त्वचा के अंतर्गत माना है। इसके कट जाने पर मनुष्य अन्धे की तरह अपने को अन्धकार में प्रविष्ट हुआ अनुभव करता है।

1. “चतुर्थी ताप्ता नाम ब्रीहेरष्टभागप्रमाणा विविधकिलासकुष्ठाधिष्ठाना ॥” (सु.शा. 4/3)
2. “तृतीया सेष्यकिलाससंभवाधिष्ठाना ॥” (च.शा. 7/4)
3. i) “पञ्चमी वेदिनी नाम, ब्रीहिपञ्चभागप्रमाणा कुष्ठविसर्पाधिष्ठाना ॥” (सु.शा. 4/3)
ii) “चतुर्थी ददूकुष्ठसंभवाधिष्ठाना ॥” (च.शा. 7/4)
4. i) “षष्ठी रोहिणीनाम, ब्रीहिप्रमाणा ग्रंथ्यपच्यर्बुदश्शीपदगलगण्डाधिष्ठाना ॥”
(सु.शा. 4/3)
ii) “पञ्चमी त्वलजीविद्रधिसम्भावाधिष्ठाना ॥” (च.शा. 7/4)
5. i) “सप्तमी मांसधरा नाम, ब्रीहिद्वयप्रमाणा, भग्नदरविद्रध्यशोऽधिष्ठाना ॥” (सु.शा. 4/3)
ii) “षष्ठी तु यस्यां । पदत्वचः ॥”
(च.शा. 7/4)

त्वचा रोग

पित दोषज एवं रक्त धातु प्रदोषज विकार त्वचा रोगों के अंतर्गत आते हैं। यह सम्बन्ध आश्रय-आश्रयी भाव से है। पित दोष ये होने वाली स्थगदाह, स्थगददाह (त्वचाओं का फटना), चर्मदलन (चमड़ी फट जाना), रक्त कोठ, रक्तविष्टन्त्र, रक्तपाङ्गुल (रक्तवर्ण के गोलाकार चक्कते) आदि रोग^६, कफ दोष ये होने वाले उद्दद आदि रोग^७ एवं रक्त धातु से होने वाले कुष्ठ, वीसर्प, पिङ्का, व्यङ्ग, पिञ्जु, तिलकालक, ददू, चर्मदल, श्वित्र, पामा, कोठ, रक्तमण्डल आदि रोग त्वचा रोगों के अंतर्गत सम्मिलित किये जाते हैं। उपर्युक्त रोगों में से कुछ रोग क्षुद्र रोगान्तर्गत आते हैं, अतः उनका विस्तृत वर्णन कायचिकित्सा तृतीय भाग में किया गया है। यहाँ पर कुष्ठ, किलास (शित्र), विसर्प, शीतपित्त-उदर्द-कोठ एवं त्वचा रोगों में रोगाणुजन्य संक्रमण आदि का विस्तृत वर्णन किया जा रहा है—

••• तृतीय भाग •••

1. “पितविकारांक्षत्वारिशतमल । व्याख्याताः ॥”
(च.सू. 20/14)
2. “श्वेष विकारांक्ष । व्याख्याता भवन्ति ॥”
(च.सू. 20/17)
3. “वक्ष्यन्ते रक्तदोषजाः । कुष्ठवीसर्पिङ्का । श्वितं पामा कोठालमण्डन् ॥”
(च.सू. 28/11,12)

अध्याय-57

कुष्ठ रोग

(SKIN DISEASES)

व्याधि परिचय

कुष्ठ को रक्तज विकार माना गया है। इसे महागद भी कहा गया है। आचार्य सुश्रूत ने औपसर्वीक (Infectious) रोगों में इसकी वर्णना की है। व्यापक रूप से त्वचा में होने वाले समस्त विकारों को कुष्ठ के अंतर्गत समाविष्ट कर सकते हैं। आचार्य सुश्रूत ने कुष्ठ के लिए त्वगामय शब्द का प्रयोग किया है। पर्याप्त ग्रन्थों में इसका कारण पापाचरण माना गया है, यह इसके दीर्घकालीन व्याधि दारणता को देखकर किया गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान (Allopathy) में भी इसे दूत का रोग (Infectious Disease) माना गया है। यह जीर्ण स्थररूप (Chronic) की व्याधि है। त्वचा से प्रारंभ होकर उत्तरोत्तर धातुओं में प्रवेश करके गम्भीर रूप भारण करती है। भ्रमवश कुष्ठ रोग का अर्थ आजकल Leprosy से लिया जाता है। शास्त्रीय दृष्टि से आयुर्वेदीय कुष्ठ रोग के अंतर्गत Leprosy के अतिरिक्त अन्य समस्त त्वचागत विकारों का समावेश भी हो जाता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. चरक संहिता, निदान स्थान-अध्याय 5
2. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 7
3. सुश्रूत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 5
4. सुश्रूत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 9
5. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 14
6. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 19
7. माधव निदान, उत्तरार्ध-अध्याय 49

1. “प्रसद्धाद् गात्रसंस्पर्शान्तिः थासात् गहनोजनात्। सहशस्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलोपनात्॥
कुष्ठं च्चरश्च शोपथं नेत्राभिप्रन्द एव च। औपसर्विकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥”
(सु.नि. 5/33-34)
2. “एवं कुष्ठं समुपात्रं त्वचि कालप्रकर्पतः। क्रमेण धातुन् व्याप्रोति नरस्याप्रतिकारणः॥”
(सु.नि. 5/21)

निरक्ति/व्युत्पत्ति

- i. “कुष्णाति वपु इति कुष्म्” अर्थात् जो शरीर की त्वचा को विकृत करे वह कुष्ठ है। देह को कृत्यत करने वाले रोग को कुष्ठ कहा जाता है।
- ii. कुष्णाति अङ्गम्। कुप निष्कर्ष (क्रया.प.सं.) ‘निकृषि’ (उ.2/2) इति व्यन्। कुत्सिनं निष्ट्रिति च। ‘सुषि-’ (3/2/4) इति कः। ‘अप्लाव्व-’ (8/3/97) इति पः। अमस्कोप-रामाश्रमी दोक्षा 2/6/54

अर्थात् जो रोग शरीर के अंग, प्रत्यंग, पातु, उपधातु को गलाकर विकृत कर दे उसे कुष्ठ कहते हैं।

परिभाषा—मानव शरीर की त्वचा आदि धातुओं का नाश करने के कारण इसे कुष्ठ रोग कहते हैं।

पर्याय—त्वगामय, कुष्ठ

निदान

विभिन्न आचार्यों के अनुसार कुष्ठ रोग के निदान निम्नानुसार वर्णित हैं—

(1) आहार जन्य निदान

- i. विरुद्धाहार यथा शोत-उष्ण, गुरु-लघु, मधुर-लवण, रुक्ष-स्निध आदि का व्यतिक्रम।
- ii. द्रव व स्नेह वहुत्व गुरु (गरिष्ठ) पदार्थों का अत्यधिक सेवन

1. “त्वचः कुर्वन्ति वैयपर्य दुष्टाः कुष्ठमुशन्ति तत्। कालेनोपेक्षितं यस्मात् सर्वं कुष्णाति तदप्युः॥”
(अ.स.नि. 14/4-5)

2. i) “तत्रेदं गर्वकुष्ठ निदानं.....। कुष्टान्यभिन्वर्त्यन्ति॥”
(च.नि. 5/6)

ii) “विरोधीन्यत्रपानानि द्रवनिध्यगुरुन्निः च। भजताभागातां छर्वि वेगांश्चान्याम् प्रतिन्दाताम्॥
व्यापादमतिसन्तापमति भुक्त्योसेविनाम्। शोतोण्टलद्वृनाहारान् कर्म मुक्त्या निषेविणाम्॥
पर्गंश्रवभयार्तानां द्रुतं शोताम्बुरोसेविनाम्। अजीर्णाभ्यशिनां चैव पञ्चकर्मापवारिणाम्॥
नवान्नदाभिमत्स्यातिल लवणाम्ननिषेविणाम्। मायमूलकपिष्ठाकृतिनक्षीरगुडाशिनाम्॥
व्यवायां चाप्यजोर्णेऽन्ने निद्रां च भजां दिवा। विप्रान् गुरुन् धर्मयतो पापं कर्म न कृवताम्॥”
(च.चि. 7/4-8)

iii) “मिथ्याहाराचारस्य। उद्दिं वा प्रतिहन्ति॥”
(सु.नि. 5/3)

iv) “मिथ्याहारविहारेण विशेषेण विरोधिना। साधुनिदावधान्यत्वहरणादैश सेवतैः॥
पापभिः कर्मभिः सद्यः प्राकनैर्वैरिता मत्ता।” (अ.ह.नि. 14/1-2)

v) “प्राप्तस्त्रीसज्जनवधारपरस्यहरणादिभिः। कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य संभवम्॥”
(सु.नि. 5/30)

- iii. नवीन अन्न, दधि, मत्स्य (मछली), लवण अम्ल, माष (उड्ड), मूली, पिण्डान्, गुड़, दूध, तिल का अति मात्रा में सेवन करना
- vi. अजीर्ण रहने पर भोजन करना
- v. अध्यशन करना
- vi. मधु, राब, लकुच, काकमाची का अतिसेवन
- vii. क्षीर के साथ चिलचिम मछली का सेवन
- viii. हायनक, यवक, उदालक, कोरटूष का प्रायः दूध, दही, तक्र, कुल्थी, उड्ड व स्नेह के साथ सेवन करना
- ix. अति स्नेह सेवन करना

(2) विहार जन्य निदान

- i. अति भोजन के पश्चात् व्यायाम करना, धूप सेवन करना
- ii. दिन में निद्रा सेवन करना
- iii. धूप, परिश्रम तथा भय के पश्चात् सहसा शीतल जल सेवन करना या स्नान करना
- vi. भोजन के न पचने पर मैथुन करना
- v. मल-मूत्रादि का वेग धारण करना

(3) अन्य निदान

- i. पंचकर्म की व्यापत्ति होना
- ii. विप्र, ब्राह्मण व गुरु का तिरस्कार करना
- iii. पापों का आचरण करना
- vi. सज्जन, साधु व श्रेष्ठजन का तिरस्कार व निंदा करना
- v. वमन (छर्दि) के वेग को रोकना
- vi. पूर्व जन्म के पाप कर्म
- vii. ब्रह्महत्या, स्त्रीहत्या, सज्जनवध के कारण इस पाप कर्म जन्य कुष्ट की उत्पत्ति होती है
- viii. रक्तज क्रिमि होना¹
- ix. वंशानुगत

आचार्य सुश्रुत ने स्पष्ट किया है कि यदि मनुष्य कुष्ट रोग से पीड़ित होकर मरता है तो अगले जन्म में भी उसे कुष्ट रोग ही होता है। इसलिये कुष्ट से अधिक दुःखदायी कोई रोग नहीं है²।

1. “सर्वाणि कुष्टानि सवातानि सपित्तानि-सस्तेष्माणि सक्रिमीणि च भवन्ति ॥”
(सु.नि. 5/6)
2. “ग्रियते यदि कुष्टेन पुनर्जातेऽपि गच्छति । नातः कष्टरो रोगो यथा कुष्टं प्रकीर्तिम् ॥”
(सु.नि. 5/31)

भेद

आचार्य चरक ने कुष्ट रोग को सात प्रकार का (महाकुष्ट), अठारह प्रकार का (क्षुद्रकुष्ट) एवं अपरिसंख्येय माना है¹।

अतः बृहत्त्रयी के अनुसार महाकुष्ट व क्षुद्रकुष्ट के विभिन्न भेद निम्नानुसार वर्णित हैं—

1. महाकुष्ट²

क्र.स.	आचार्य चरक	आचार्य सुश्रुत	आचार्य वाघट
1.	कपाल	कपाल	कपाल
2.	औदुम्बर	उदुम्बर	औदुम्बर
3.	मण्डल	अरुण	मण्डल
4.	ऋष्यजिह्वा	ऋष्यजिह्वा	ऋष्यजिह्वा
5.	पुण्डरीक	पुण्डरीक	पुण्डरीक
6.	सिध्म	दद्दु	दद्दु
7.	काकणक	काकणक	काकणक

आचार्य वाघट³ ने दोषानुसार महाकुष्ट के निम्न सात भेद वर्णित किए हैं—

- i. वातज
- ii. पित्तज
- iii. कफज
- iv. वात पित्तज
- v. वात कफज
- vi. पित्त कफज
- vii. त्रिदोषज

1. “स सप्तविधोऽष्टादशविधोऽपरिसंख्येयविधो वा भवन्ति ॥” (च.नि. 5/4)
2. i) “कपालोदुम्बरमण्डलर्घजिह्वपुण्डरीकरिष्यकाकणकैक ॥” (च.चि. 7/13)
 - ii) “तत्र महाकुष्टान्यरुणोदुम्बरर्थ्य(क्ष)जिह्वकपालकाकणकपुण्डरीकदद्दुकुष्टान्ति ॥”
(सु.नि. 5/5)
3. “कुष्टानि सप्तधा दोषैः पृथक्मित्रैः समागतैः ॥”
(अ.स.नि. 14/7) (अ.ह.नि. 14/6)

2. कुष्टरोग¹

क्र.सं.	आचार्य चरक	आचार्य सुश्रुत	आचार्य वाग्भट्
1.	एककुष्ट	एककुष्ट	एककुष्ट
2.	चर्माख्य	स्थूलारूप्क	चर्मकुष्ट
3.	किटिभ	किटिभ	किटिभ
4.	विपादिका	महाकुष्ट	विपादिका
5.	अलसक	विसर्प	अलसक
6.	दहु	परिसर्प	सिध्ध
7.	चर्मदल	चर्मदल	चर्मदल
8.	पामा	पामा	पामा
9.	विस्फोट	सिध्म	विस्फोट
10.	शतारु	रक्षा	शतारु
11.	विचर्चिका	विचर्चिका	विचर्चिका

कुष्ट के विभिन्न भेदों (18 भेद) में दोष प्राधानता²

- कापाल कुष्ट वात प्राधान्य
- औदुम्बर कुष्ट पित्त प्राधान्य
- मण्डल व विचर्चिका कुष्ट कफ प्राधान्य
- ऋष्यजिह्वा कुष्ट वात-पित्त प्राधान्य
- चर्मकुष्ट, एककुष्ट, किटिभ, सिध्म, वात-कफ प्राधान्य
अलसक, विपादिका कुष्ट
- दहु, शतारु, पुण्डरीक, विस्फोट, पामा, चर्मदल कुष्ट
कफ-पित्त प्राधान्य
- काकणक त्रिदोष प्राधान्य

यद्यपि सभी कुष्ट त्रिदोषज होते हैं, किन्तु जिस कुष्ट में जिस दोष की अधिकता होती है उसी के अनुसार उसका नामकरण किया जाता है।

- i) "एककुष्टर्चमाख्य किटिभ विपादिकालसकददूर्चर्मदलपामाविस्फोटकशतार्विचर्चिका ॥"
(च.चि. 7/13)
- ii) "कुष्टकुष्टान्यपि स्थूलारूप्क महाकुष्टमेककुष्टं चर्मदलं विसर्पः परिसर्पः सिध्मं विचर्चिका किटिभं (मं) पामा रक्षा चेति ॥" (सु.नि. 5/5)
- "सर्वोच्चपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः । वातेन कुष्टं कापालं पित्तादौदुम्बरं कफात् ॥
मण्डलाख्यं विचर्चीं च ऋष्याख्यं वातपित्तजम् । चर्मकुष्टं किटिभसिध्मालसविपादिका ॥
वातरलेप्तोद्धवा: श्लेष्मपित्तादौशतारुपो । पुण्डरीकं सेविस्फोटं पामा चर्मदुलं तथा ॥
सर्वे: स्यात् काकणं पूर्वं त्रिकं दहु सकाकणम् । पुण्डरीकर्वजिह्वे च महाकुष्टानि सततु ॥"
(अ.स.नि. 14/8-1)

कुष्ट रोग

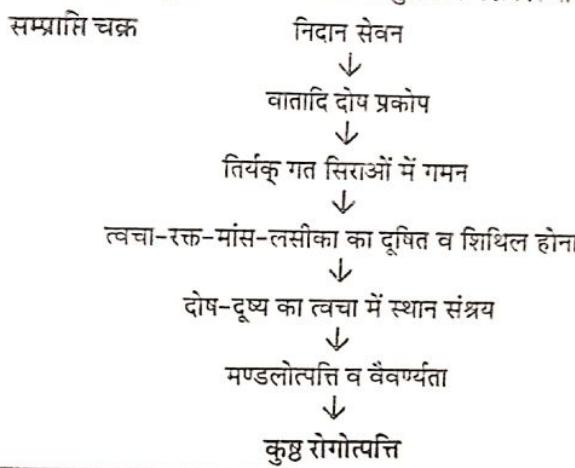
सम्प्राप्ति

पूर्व वर्णित निदानों के सेवन से प्रकुपित हुए त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) त्वचा, रक्त, मांस, लसीका (अम्बु) को शिथिल कर दूषित करते हैं। तत्प्रथात ये मात्र कारण इत्य त्वचा में स्थान संत्रय करते हैं, वहाँ पर ये एक प्रकार का मण्डल (चक्का) बनाते हैं। इस अवस्था में चिकित्सा नहीं करने पर ये दोष अन्य रोगमार्ग से विभिन्न धातुओं में पहुँचकर उन्हें दूषित करते हैं। इस प्रकार कुष्ट रोग (Skin Disorders) की उत्पत्ति होती है¹।

आचार्य सुश्रुत एवं आचार्य वाग्भट् ने स्पष्ट किया है कि प्रकुपित दोष तिर्यक्गत सिराओं में पहुँचकर त्वचा-लसीका-रक्त व मांस धातु को दूषित कर उन्हें शिथिल कर अपने-अपने स्थानों से बाहर निकालकर त्वचा के स्वाभाविक प्राकृत वर्ण को विकृत कर कुष्ट रोग को उत्पन्न करते हैं²।

कुष्ट रोग की उचित समय पर चिकित्सा नहीं करने से रोगी का सम्पूर्ण शरीर सड़-गल जाता है। यह शरीर की समस्त धातुओं के भीतर प्रवेश करके एवं उन्हें गलाकर-सड़ाकर शरीर में कृमि उत्पन्न कर देता है। इससे स्वेद, अस्नेद तथा सड़न पैदा होती है। ये कृमि रोग, त्वचा, स्नायु, धमनी, तरुणस्थि को भी खा जाते हैं³।

कुष्ट रोग की सम्पूर्ण, सम्प्राप्ति क्रम को चित्रानुसार निम्न प्रकार वर्णित कर सकते हैं—



- i) "वातादयस्त्रयो दुष्टस्त्वग्रकं मांसमम्बु च। दूषयन्ति स कुष्टानां सतको द्रव्यसंग्रहः ॥"
(च.चि. 7/9)
- ii) "तत्पि पित्तश्लेष्माणौ प्रकुपितौ परिगृह्यानिलः प्रवृद्धिस्तिर्यग्नाः सिराः संप्रपद्य.....
..... धातूमिहृषयम् ॥" (सु.नि. 5/3)
- "सिरा: प्रपद्य तिर्यग्नास्त्वलसीकासूक्ष्मामिषम् ॥ दूषयन्ति श्लेषीकृत्य निश्चरन्तस्तो बहिः ।
त्वचः कुर्वन्ति वैवर्यं दुष्टाः कुष्टमुशन्ति तत् ॥" (अ.ह.नि. 14/2-3)
- "कालेनपेक्षितं यस्मात्सर्वं कुष्टाति तद्वपुः । प्रपद्य धातूव्याप्यान्तः सर्वान् संकलेय चावहेत् ॥
सस्वेदक्लेदसङ्कोथान् कृमीन् सूक्ष्मान् सुदारणान् । लोमत्वक्स्नाद्युधमनीतरुणास्थीनि यैः क्रमात् ॥"
(अ.ह.नि. 14/4-5)

कायचिकित्सा

818

सम्मानि घटक

कुष्ठ रोग के विभिन्न सम्मानि घटक निम्नानुसार हैं—

दोष -	त्रिदोष प्रधान
दृष्टि -	त्वक्, रक्त, मांस, लसीका (अम्बु)
स्रोतस् -	रक्तवह स्रोतस्
अधिष्ठान -	बाह्य रोग मार्ग-त्वक् व मांस
स्रोतोद्युषि -	संग
स्वभाव -	चिरकारी (Chronic)
उपसर्प -	रक्तज कृमि

पूर्वरूप

कुष्ठ रोग के पूर्वरूप (Prodromal Sign/Symptoms) निम्नानुसार वर्णित हैं—

- i. अतिस्वेदन (अधिक पसीना आना) (Excessive Sweating)
- ii. अस्वेदन (पसीना नहीं आना) (No Sweating)
- iii. त्वक् पारुष्य (त्वचा में कठोरता) (Hard Skin, Dry Skin)
- vi. अकस्मात् रोमहर्ष (बिना कारण ही रोमांच) (Tingling Sensation)
- v. वैवर्ण्य (Discolouration)
- vi. कण्डू (Itching)
- vii. सुस्ता (Sensation Loss/Numbness)
- viii. स्पर्शज्ञाननाश (No Sensation)
- ix. कोठ (Eruptive Rashes)
- x. त्वक् शोथ (Skin Inflammation)
- xi. श्रम (अल्पश्रम धकावट) (Easy Fatiguability)
- xii. चलम (बिना परिश्रम धकावट) (Fatigue)
- xiii. ब्रण का फैलना व जल्दी नहीं भरना (Delayed wound Healing)
- xiv. रक्त का काला होना (Blackish Colouration of Blood)

1. i) "तेषामिगानि पूर्वरूपाणि.....। चेति ॥" (च.नि. 5/7)
- ii) "स्पर्शज्ञात्वमतिस्वेदो न वा वैवर्ण्यमुक्तिः। कोठानां लोमहर्षद्य कण्डूस्तोदः श्रमः चतुर्मासः ॥ ब्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्तितिधिरस्थितिः। दाहः सुमाङ्गता चेति कुष्ठलक्षणमग्रजम् ॥" (च.चि. 7/11-12)
- iii) "तस्य पूर्वरूपाणि-त्वक्-पारुष्यमकरमादोमहर्षः, कण्डूः, स्वेदबाहुल्यमस्वेदनं वाऽङ्गप्रदेशानां स्वां क्षतिविसर्पणमसृजः; कृष्णता चेति ॥" (सु.नि. 5/4)

सामान्य रूप

पूर्व वर्णित पूर्वरूप ही व्यक्तावस्था में कुष्ठ के रूप में प्रकट होते हैं।

विशिष्ट रूप (भेदानुसार लक्षण)

(I) महाकुष्ठ

शास्त्रों में सममहाकुष्ठों के भेदानुसार लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं—

1. कपाल कुष्ठ (Non Lepromatous Leprosy)^१—काले-अम्बु रंग के कपाल (मिट्टी के खण्डे) के समान कानिवाले, स्त्रेश, कटोर, एवं लेप, विषम रूप से फैलने वाले, दोष बहुल, अल्प कण्डू युक्त, अल्प दाह-पूर्व युक्त तथा वात दोष प्रधानता वाले 'कपाल' कुष्ठ कहलाते हैं।
2. औंदूप्वर कुष्ठ (Lepromatous Leprosy)^२—दाह, कण्डू, शीढ़ा व लालिमा युक्त एवं कुष्ठ अधिष्ठान के रूप क्षयित वर्ण हो एवं जो कुष्ठ पक्के गूलर के फल के समान हो उसे 'औंदूप्वर' कहते हैं।
3. मण्डल कुष्ठ (Non Lepromatous Leprosy-Psoriasis)^३—श्वेत व रक्त वर्ण वाला, स्थिर, घना, स्निध एवं जो कुष्ठ मण्डल (Coin Shaped) आकार वाला हो, कुछ ऊंचता (उटा हुआ-Elevated) हो तथा परम्पर एवं दूसरे से सटे मण्डल हों तो उसे 'मण्डल' कहते हैं। यह द्रव्यमाण होता है।
4. ऋष्यजिह्वा कुष्ठ (Non Lepromatous Leprosy)^४—कर्कश (कटोर), किनारों पर रक्तवर्ण, अन्दर से श्याय, वेदनाद्युक्त तथा ऋष्य (रीक) की जिह्वा के समान आकार वाला कुष्ठ 'ऋष्यजिह्वा' कहलाता है।
5. पुण्डरीक कुष्ठ (Lepromatous Leprosy)^५—श्वेत वर्ण युक्त, लाल किनारे वाला, रक्तकमल के सदृश्य, ऊंचता एवं मध्य में लालिमा युक्त कुष्ठ जो 'पुण्डरीक' कुष्ठ कहते हैं।

1. i) "कृष्णारुपाकपालार्भं यदूक्षं परहयं तनुः। कायालं दोष बहुलं तद्वृक्षं विषयं स्मृतम् ॥" (च.चि. 7/14)
- ii) "तदाया-रक्ताश्वरणप्रवाणि.....। च कपाल कुष्ठोर्विद्यते ॥" (च.नि. 5/8)
2. "दाहकण्डूरुजारागपरीतं लोमपिन्जरम्। उदुम्बरसदाभासं कुष्ठमोद्युप्वरं विदुः ॥" (च.चि. 7/15)
3. "श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्वानं स्निधमुख्तनमण्डलम्। कृष्णमन्योन्यसंसंक्षेपं कुष्ठं अण्डलमुच्छते ॥" (च.चि. 7/16)
4. "कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तः श्यावं सवेदनम्। यदृष्यजिह्वासम्बन्धनमृष्यजिह्वा उदुच्छते ॥" (च.चि. 7/17)
5. "संधेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम्। संत्सर्पं च सदाहं च पुण्डरीकं उदुच्छते ॥" (च.चि. 7/18)

6. सिध्म कुष्ठ (Pityriasis Leprosy)¹—जो कुष्ठ थेत या ताप्र वर्ण हो, पतला हो, रगड़ने से जिससे धूलि समान चूर्ण निकलता हो, जो लौंकी के फूल के समान हो उसे 'सिध्म कुष्ठ' कहा जाता है। यह कुष्ठ प्रायः बक्षस्थल (Thorax region) में होता है। आचार्य सुश्रुत ने इसे क्षुद्र कुष्ठ के अन्तर्गत वर्णित किया है।
7. काकणक कुष्ठ (Lepromatous Leprosy)²— जो कुष्ठ घुघची (गुंजा) के वर्ण का (मध्य में कृष्ण वर्ण व इधर-उधर लाल वर्ण या मध्य में लाल व चारों तरफ कृष्ण) हो, जो पकता न हो, जिसमें तीव्र वेदना होती हो, जिसमें तीनों दोषों के सम्मिलित लक्षण हों, उस कुष्ठ को 'काकणक' कुष्ठ कहा जाता है। यह कुष्ठ असाध्य होता है।

(II) क्षुद्र कुष्ठ

शास्त्रों में क्षुद्र कुष्ठ के भेदों के लक्षण निम्न प्रकार वर्णित हैं—

1. एककुष्ठ (Psoriasis)³—जिस कुष्ठ में स्वेद नहीं आवे, जो बहुत बड़े स्थान में हो अर्थात् समस्त शरीर में फैला हो, मछली की त्वचा के समान (Scaly Lesions) हो उसे 'एककुष्ठ' कहते हैं।
2. चर्माख्य (Xeroderma)⁴—जिस कुष्ठ में त्वचा हाथी के चमड़े के समान मोटी हो उसे 'चर्माख्य' कहते हैं।
3. किटिभ (Lichen Planus or Psoriasis)⁵—जो कुष्ठ श्याववर्ण हो, ब्रण के स्थान के समान खुरदुरे स्पर्श वाला हो एवं कठोर हो उसे 'किटिभ' कुष्ठ कहते हैं।
4. विपादिका (Phagades)⁶—तीव्र वेदना युक्त हस्त तथा पाद स्फुटन (फटना) को 'विपादिका' कहा जाता है।
5. अलसक⁷—कण्डू एवं रक्त वर्ण के फोड़ों से युक्त कुष्ठ को 'अलसक' कहते हैं।

1. "थेतं ताप्रं ततु च यद्रोग्युं विमुच्यते। अलावूप्यवर्णं तत् सिध्मं प्रयेण चोरसि ॥" (च.चि. 7/19)
2. "यत् काकणन्तिका वर्णमपाकं तीव्रवेदनम्। चिदोपलिङ्गं तत् कुष्ठं काकणं नैव सिद्ध्यति ॥" (च.चि. 7/20)
3. "अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्यशक्लोपमम्। तदेककुष्ठं ॥" (च.चि. 7/21)
4. "चर्माख्यं बहलं हस्ति चर्मवत् ॥" (च.चि. 7/21)
5. "श्यावं किंगखरस्सर्पं परुं किटिभं स्मृतम् ॥" (च.चि. 7/22)
6. "वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम् ॥" (च.चि. 7/22)
7. "कण्डूमद्धिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम् ॥" (च.चि. 7/23)

6. दद्रूमण्डल (Ringworm)¹—कण्डू एवं नालिमा युक्त पिडिका जो उच्चत हो उसे 'दद्रूमण्डल' कहते हैं।
7. चर्मदल (Impetigo)²—जो कुष्ठ गृद्वारों का हो, कण्डू युक्त हो, जिसमें विस्फोट हो, वेदना के साथ त्वचा फटती हो एवं जिस पर मार्ग का महन न हो उसे 'चर्मदल' कहते हैं।
8. पामा (Scabies)³—जो कुष्ठ थेत, अरुण एवं श्याव वर्ण की पिडिकाओं से युक्त हो एवं तीव्र कण्डू युक्त हो उसे 'पामा' कहते हैं।
9. विस्फोट (Exanthymeta)⁴—थेत या अरुण वर्ण की आभा से युक्त पिडिकाओं वाला एवं पतली त्वचा से युक्त कुष्ठ 'विस्फोट' कहलाता है।
10. शतारु (Erythema Induratum)⁵—जो कुष्ठ रक्त व श्याव वर्ण के दाह व पीड़ा युक्त हो, अनेक ब्रणों वाला हो, उसे 'शतारु' कुष्ठ कहा जाता है।
11. विचर्चिका (Eczema)⁶—श्याव वर्ण की पिडिकाओं से युक्त, कण्डू युक्त, अधिक स्वाव वाला कुष्ठ 'विचर्चिका' कहलाता है। जन भाषा में उसे 'उकवत' भी कहा जाता है। आचार्य सुश्रुत ने महाकुष्ठों में अरुण कुष्ठ व क्षुद्रकुष्ठों में स्थूलारुण, महाकुम्र, विसर्प, परिसर्प, रक्सा का अलग से वर्णन किया है जिनके लक्षण निम्नानुसार वर्णित हैं—
 - i. अरुण कुष्ठ⁷—यह कुष्ठ वात दोष की प्रधानता से अरुण वर्ण का, तनु त्वक् (पतली त्वचा वाला), फैलने वाला, तोद युक्त (सुर्द की चुभन जैसा) एवं सुन्त्रता युक्त रहता है।
 - ii. स्थूलारुण कुष्ठ⁸—यह संधिस्थानों में स्थूल तथा कठिन अरुणी (फुन्सी) युक्त अतिदारुण कुष्ठ है।
 - iii. महा कुष्ठ⁹—इसमें त्वचा का संकोच, स्फुटन, सुन्त्रता तथा अंगसाद (ग्लानि) होती है।

1. "सकण्डूरागपिडिकं दद्रूमण्डलमुद्वन् ॥" (च.चि. 7/23)

2. "रक्तं सकण्डू सम्प्रोटं सरुदलति चापि यत्। तद्यम्बदलमाछ्यातं संस्यांसहमुच्यते ॥" (च.चि. 7/24)

3. "पामा थेतारुणश्यावाः कण्डूलाः पिडिका भृशम् ॥" (च.चि. 7/25)

4. "स्फोटाः थेतारुणाभासो विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः ॥" (च.चि. 7/25)

5. "रक्तं श्यावं सदाहरितं शतारुः स्याद्वृणम् ॥" (च.चि. 7/26)

6. "सकण्डूः पिडिका श्यावा बहुत्वावा विचर्चिका ॥" (च.चि. 7/26)

7. "तत्र वातेनारुणाभासि तनूनि विसर्पणं तोदभेदस्वायुक्तान्यरुणानि" (सु.नि. 5/8)

8. "स्थूलानि सन्धिप्वातिदारुणानि स्थूलारुणी स्मुः कठिनान्यव्यल्पि ॥" (सु.नि. 5/9)

9. "त्वक्संकोचभेदस्वपनाङ्गसादाः कुष्ठे महत्वर्वयुते भवन्ति ॥" (सु.नि. 5/9)

- iv. विसर्प^१—जो कुष्ठ त्वचा, रक्त, मांस को दूषित करके शीघ्र ही विसर्प रोग की भाँति फैलने लगता है एवं जो मूर्च्छा, विदाह, अरति (वैचेनी), तोद व पाक युक्त भी हो।
- v. परिसर्प^२—इसमें शरीर के कपार धीरे-धीरे फैलने वाली एवं सावयुक्त पिण्डिकाएं निकल आती हैं।
- vi. रक्सा^३—सम्पूर्ण शरीर में कण्ठ युक्त, व स्रावरहित जो पिण्डिकाएं होती हैं उन्हें रक्सा कहते हैं।

कुष्ठ में त्रिदोष उल्वण्टा के अनुसार लक्षण^४

कुष्ठ रोग में त्रिदोष के कारण अलग-अलग लक्षण निम्न प्रकार प्रकट होते हैं—

वातिक लक्षण	पैतकिक लक्षण	कफज लक्षण
रुक्षता (रुखापन)	दाह (जलन होना)	श्वेतता
शोष (शुक्ता)	राग (लालिमा)	शीतलता
तोद (चुभन)	परिसाव	कण्ठ (खुजली)
शूल (पीड़ा)	पाक (पकना)	स्थिरता (अधिक न फैलना)
संकोच	विस्त गन्ध (आम गन्ध)	उत्सेध युक्त (Elevated)
आयाम (तनाव/खिंचाव)	क्लेद (गीलापन)	गौरव (गुरुता युक्त)
पारुष्य (कठिनता)	अंगपतन (अंगों का गल कर गिरना)	स्त्रिगन्ध (चिकनापन)
खरता (खुरदुरापन)	कर्णनासा भंग	क्लेदाधिक्य
रोमांच	अक्षिरोग	कृमि द्वारा भक्षण किया जाना
श्यावता या अरुणता		

सभी प्रकार के कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं, फिर भी दोषों के हीन व उत्तम संयोग के कारण भिन्न-भिन्न कुष्ठों में वर्ण, वेदना, आकार तथा लक्षणों में विभिन्नता पाई जाती है। तदनुसार ही विभिन्न कुष्ठों का नामकरण किया जाता है^५।

1. “विसर्पवत् सर्पति सर्वतो यस्त्वयग्रकमांसान्वयभूय शीघ्रप्रम्। मूर्च्छाविदाहारपितोदपकां कृत्वा विसर्पः स भवेद्विकारः ॥” (सु.नि. 5/11)
2. “शनैः शरीरे पिण्डिकाः स्वयन्त्यः सर्पन्ति यास्तं परिसर्पमाहुः ।” (सु.नि. 5/12)
3. “कण्ठवन्विता या पिण्डिका शरीरे संसावहीनारकसोच्चते सा ॥” (सु.नि. 5/15)
4. “रीश्यं शोपरतोदः शूलं संकोचनं तथाऽयामः । पारुष्यं खरभावो हर्षः श्यावारुणत्वं च ॥ कुष्ठेषु वातलिङ्गं, दाहो रागः परिसावः पाकः । विस्त गन्धः क्लेदस्तथाऽङ्गपतनं च पितकतम् ॥ श्वेत्वं शैत्यं कण्ठः, स्थैर्यं चोत्सेधांरवस्नेहाः । कुष्ठेषु तु कफलिङ्गं जनुभिरभिलक्षणं क्लेदः ॥” (च.चि. 7/34-36) (च.नि. 5/4)
5. “न च किञ्चिदस्मित कुष्ठमेकदोष प्रकोपनिमित्तम् अस्ति तु खलु समान प्रकृती नामपि कुष्ठानां दोषांशां विकल्पानुबन्धस्थानविभागेनवेदनावर्णसंस्थानप्रभावनाम चिकित्सातविशेषः ॥” (च.नि. 5/4)

सात धातु गत कुष्ठ के लक्षण

आचार्य सुश्रुत ने सप्तधातुगत (उत्तरोत्तर) कुष्ठों के लक्षण वर्णित किए हैं। उन्होंने स्मृष्टि किया है कि त्वचा में उत्पन्न कुष्ठ की यथासमय चिकित्सा नहीं करने पर वह रक्तादि धातुओं में फैल जाता है। सप्त धातु गत कुष्ठों के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

त्वक (रसगत ^६)	रक्तगत ^७	मांसगत ^८	मेदगत ^९	अस्ति-मज्जागत ^{१०}	शुक्रगत ^{११}
स्पर्शहानि	स्पर्शनाश, बहुलता	दौर्गन्धि	--	अंगों में	विकलता,
कण्ठ	स्वेदा-	मुख शोष	पृथृ-कृमि	नासाभंग,	गतिक्षय,
धिक्य,	धिक्य,		उत्पत्ति,	अक्षि रोग,	अंगों का
अल्पस्वेद	कण्ठ,	पिण्डिका-	शरीर का	क्षत-व्रण	फूटना,
		उत्पत्ति,	विदीर्ण होना,	में कृमि-	व्रण का
रुक्षता	पूयोत्पत्ति	तोद,	गति करने	उत्पत्ति	फैलना
		स्फोट,	स्फोट		
		स्थिरत्व	अंगों में पीड़ा		

सापेक्ष निदान

सम्प्राप्ति घटकों की दृष्टि से कुष्ठ व विसर्प में समान दोष-दूष्य होते हैं। अतः सापेक्ष निदान (Differential Diagnosis) करते समय कुष्ठ को विसर्प से निम्न विन्दुओं के आधार पर पृथक् करते हैं—

1. “स्पर्शहानि: स्वेदनत्वमीयत्कण्ठश्च जायते। वैवर्ण्यं स्वभावश्च कुष्ठे त्वचि समाश्रिते ॥” (सु.नि. 5/22)
2. “त्वक्स्वापौ रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम्। कण्ठूर्विपूयकथैव कुष्ठे शोणितसंश्रिते ॥” (सु.नि. 5/23)
3. “बाहुत्वं वक्त्रशोषश्च कार्कश्यं पिण्डिकोदगमः । तोदः स्फोटः स्थिरत्वं व कुष्ठे मांससमाश्रिते ॥” (सु.नि. 5/24)
4. “दौर्गन्धिमुपदेहश्च पूयोऽर्थं क्रिमयस्तथा । गात्राणां भेदनं चापि कुष्ठे मेदः समाश्रिते ॥” (सु.नि. 5/25)
5. “नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षते च क्रिमिसंभवः । भवेत् स्वयोपधातुश्च भवेदस्थिमज्जसमाश्रिते ॥” (सु.नि. 5/26)
6. “कौण्यं गतिक्षयोऽज्ञानां संभेदः क्षतसर्पणम् । शुक्रस्थानगते लिङ्गं प्रागुक्तानि तथैव च ॥” (सु.नि. 5/27)

कुष्ठ	विसर्प
1. यह अविसर्पणशील रोग है।	1. यह विसर्पणशील रोग है।
2. रक्त प्रधान दोष नहीं है।	2. रक्त प्रधान दोष है।
3. वेदना अल्प या न के बराबर होती है।	3. शोणित दुष्टि के कारण प्रबल वेदना होती है।
4. सप्त द्रव्यों की दुष्टि आवश्यक है।	4. सप्त द्रव्यों की दुष्टि आवश्यक नहीं है।
5. चिरकारी (Chronic) रोग है।	5. यह अचिरकारी (Subacute) रोग है।
6. इसकी उत्पत्ति में पापाचरण आदि कारण नहीं होते हैं।	6. इसकी उत्पत्ति में पाप आदि कारण नहीं होते हैं।

साध्यासाध्यता

- कापाल, औटुम्बर, ऋष्यजिह्वा, पुण्डरीक, सिध्म, पाँच कुष्ठ साध्य होते हैं।
- मण्डल कुष्ठ कृच्छ्रसाध्य माना गया है।
- काकणक (त्रिदोषज) कुष्ठ असाध्य होता है।
- वात कफ प्रधान कुष्ठ सुखसाध्य होते हैं।
- वात पित्त या कफपित्त प्रधान कुष्ठ कृच्छ्र साध्य होता है।
- एक दोषज कुष्ठ साध्य होता है।
- पित्तज कुष्ठ, द्वन्द्वज कुष्ठ, रक्त व मांसगत कुष्ठ कृच्छ्रसाध्य होता है।

सामान्यतः त्वचा, रक्त, मांस में स्थित तथा वातकफ की प्रधानता से होने वाला कुष्ठ याप्त होता है। अस्थि व मज्जा में होने वाला कुष्ठ असाध्य होता है। कृमियुक्त, तृष्णा-पिपासा युक्त, दाहयुक्त, मन्दाग्नि पीड़ित तथा त्रिदोषज कुष्ठ असाध्य होता है। जिसका शरीर फट गया हो, जिसके अंग सड़ने लगे हों, जिसके नेत्र लाल हों, स्वरोपथात हो गया हो एवं जो पंचकर्म गुणातीत कुष्ठ हो वह असाध्य होता है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार आदिबलप्रवृत्त कुष्ठ, पुण्डरीक व काकणक कुष्ठ असाध्य होते हैं²।

- i) “साथ्यं त्वग्रक्तमांसस्थं वातभैष्पाधिकं च यत्। मेदसि द्वन्द्वजं याथं वर्ज्य मज्जास्थिसंश्रितम्॥ क्रिमित्रूदाहमन्दाग्निसंयुक्तं यत् त्रिदोषजम्। प्रभिन्नं प्रस्तुताङ्गं च रक्तनेत्रं हतस्वरम्॥ पञ्चकर्माणुणातीतं कुष्ठं हन्तीह मानवम्॥”
(मा.नि. 49/31-32)
- ii) “सर्वैलिङ्ग्युकं मतिमान् विवर्जयेदबलम्। तृष्णादाहपरीतं शान्ताग्निं जन्मुभिर्जग्धम्॥ वातकफप्रबलं यद्यदेकदोपोत्पाणं न तत् कृच्छ्रम्। कफपित्त-वातपित्त प्रबलानि तु कृच्छ्रसाध्यानि।”
(च.चि. 7/37-38)
- “त्रादिबलप्रवृत्तं पौण्डरीकं काकणं चासाध्यम्॥” (सु.नि. 5/19)

उपद्रव-

साध्य कुष्ठ की उपेक्षा करने से त्वचा, रक्त, मांस तथा लसिका में क्लोदन, स्वेद तथा कोथ के कारण कृमि पड़ जाते हैं। ये कृमि भातुओं का भक्षण करके उपद्रव ऐदा करते हैं। ये उपद्रव निम्न हैं—

- प्रस्वरण (पूर्णसाव)
- अंगभेद (अंगों का टूटना)
- अंगों के अवयवों का टूटकर गिरना
- तृष्णा
- ज्वर
- अतीसार
- दाह
- दौर्बल्य
- अरोचका
- अविपाक

चिकित्सा सूत्र

- सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं। अतः दोषों के बलाबल को जानकर प्रबल दोष की चिकित्सा सर्वप्रथम करनी चाहिए। इसके पश्चात् अनुबन्ध दोष की चिकित्सा करनी चाहिए।
- वात प्रधान कुष्ठ में घृतपान, पित्त प्रधान कुष्ठ में रक्त मोक्षण व विरेचन एवं कफ प्रधान कुष्ठ में वमन कर्म कराना चाहिए।
- बहुदोष कुष्ठ के रोगी में बल की रक्षा करते हुए संशोधन (वमन-विरेचन) कराना चाहिए। थोड़े-थोड़े, बार-बार दोषों का निर्हरण करने से बल का हास नहीं हो पाता है।
- आचार्य सुश्रुत ने निर्दिष्ट किया है कि 15-15 दिन पर वमन कर्म, एक-एक मास पर विरेचन कर्म, तीन-तीन दिन पर अवपीड़न नस्य एवं छह-छह मास पर रक्तमोक्षण कराना चाहिए।

- “अस्यां चैवावस्थायामुपद्रवाः कुष्ठिनं स्पृशन्ति, तद्यथा-प्रस्वरणमङ्गभेदः पतनान्यङ्गावयवानां तृष्णा ज्वरातीसारदाहदौर्बल्यादेवकाविपाकात्, तद्याविधमसाध्यं विद्यादिति ॥” (च.नि. 5/11)
- “सर्व त्रिदोषजं कुष्ठं दोषाणां तु बलाबलम्। यथास्वैलक्षण्येवृद्ध्या कुष्ठानां क्रियते किया ॥ दोषस्य यस्य परयेत् कुष्ठेषु विशेषतिन्द्रित् । तस्यैव शमं कुष्ठाताः परं चानुबन्धम् ॥” (च.चि. 7/31-32)
- “वातोत्तरेषु सर्पिर्वर्म-१ श्रेष्ठोत्तरेषु कुष्ठेषु। पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाये ॥” (च.चि. 7/39)
- “बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुरोद्नुरक्षता प्राणान्। दोषे हातिमात्रेहो यायुर्हस्तादबलमाग्नु ॥” (च.चि. 7/41)
- “पक्षात् पक्षाच्छर्दनान्यभ्युपेयान् मासान्मासात् ससंन् साथ्यं रक्तं वत्सरे हि द्विरुपं नस्य दण्डाच्च त्रिरात्रान्-त्रिरात्रान् ॥” (सु.चि. 9/43)

5. बल के घट जाने पर वायु प्रकोप हो जाता है। अत्यं च अनवगाढ़ दोष वाले कुष्ठ रोग में प्रच्छान कर शृङ्ग या अलावू से रक्त निकालना चाहिए, अधिक दोष होने व अवगाढ़ (Deep seated) दोपों में सिरावेध द्वारा रक्त निकालना चाहिए¹।
6. विरेचन (वमन) के द्वारा कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर तथा रक्तमोक्षण के पश्चात् स्लेहपान कराना चाहिए। क्योंकि संशोधन से दुर्बल कुष्ठ के शुद्ध कोष्ठ में वायु प्रवेशित हो जाने से विकृति हो जाती है²।
7. जिस कुष्ठ रोगी में शस्त्रकर्म प्रयोग नहीं किया जा सकता है अथवा जिसकी स्पर्शन्द्रिय (त्वचा) नष्ट हो गयी हो ऐसे कुष्ठों में दोष तथा रक्त निकालने के बाद क्षार का प्रयोग करना चाहिए³।
8. संशोधन के पश्चात् कुष्ठ रोगियों में लेपों का प्रयोग करना चाहिए⁴।
9. दूषित कफ, पित्त व रक्त के निकल जाने के पश्चात् तिक्त कषाय द्रव्यों से संशमन चिकित्सा करना चाहिए⁵।

अतः कुष्ठ रोग की चिकित्सा में संक्षेपतः निम्न चिकित्सा सिद्धान्त अपनाना चाहिए—

1. निदान परिवर्जनम्
2. संशोधन (दोषानुसार यथापूर्वक बलानुसार)
 - (i) वमन कर्म
 - (ii) विरेचन कर्म
 - (iii) रक्तमोक्षण
 - (iv) बस्ति कर्म
 - (v) नस्य कर्म
3. संशमन औषध प्रयोग
 - (i) अन्तःपरिमार्जन
 - (ii) बहिःपरिमार्जन

1. "प्रच्छनमल्पे कुष्ठे महति च शस्त्रं सिराव्यधनम् ॥" (च.चि. 7/40)
2. "स्नेहस्य पानमिष्टं शुद्धे कोष्ठे प्रवाहिते रक्ते । वायुहिशुद्धकोष्ठं कुष्ठिनमवलं विंशति शीघ्रम् ॥" (च.चि. 7/42)
3. "येषु न शस्त्रं क्रमते स्पर्शन्द्रियनाशनानि यानि स्युः । तेषु निपात्यः क्षारो रक्तं दोषं च विश्वाय ॥" (च.चि. 7/54)
4. "ये लेपाः कुष्ठानां युज्यन्ते निर्हतासदोषाणाम् । संशोधिताशयानां सद्यः सिद्धिर्भवेतेषाम् ॥" (च.चि. 7/53)
5. "कफपित्तरक्तहरणं तिक्तकपायैः प्रशमनं च ॥" (च.चि. 7/58)

कुष्ठ रोग

चिकित्सा

- (1) संशोधन चिकित्सा
 - (i) आभ्यन्तर स्नेहन—महातिक्त घृत, महाखदिर घृत, पंचतिम्त घृत, तिक्तपट्पल घृत, त्रिफला घृत आदि से।
 - (ii) वमन कर्म—कुटज, मदनफल, मधुक, पटोल व निम्ब के योग से वमन कराना चाहिये¹।
 - (iii) विरेचन कर्म—क्षेत्र निशोथ, दन्तीमूल व त्रिफला से विरेचन कराना चाहिये²।
 - (iv) निरुह बस्ति—दारुहरिद्रा, बृहती, खश, पटोल, निम्ब, मदनफल, अमलतास के क्वाथ में कुटज, मुस्तक कल्क व घृत-तैल मिलाकर आस्थापन बस्ति देना चाहिये³।
 - (v) नस्य कर्म—दन्तीमूल, मरिच, तुलसी बीज, पिप्पली, करंजफल, विडंग, सैंधव के समभाग चूर्चा का नस्य देने से शिरोगत कृमि, कुष्ठ तथा कफ प्रकोप शान्त होता है⁴।
 - (vi) धूमपान—वैरेचनिक धूमपान से शिर में रहने वाले कृमि एवं रुद्ध जनुगत कुष्ठ व किलास शान्त होता है⁵।
 - (vii) रक्तमोक्षण—जो कुष्ठ स्थिर, कठिन मण्डल वाला हो उसमें प्रस्तर या नाड़ी स्वेद करके धर्षण के पश्चात् उत्क्लेशित रक्त को रक्तमोक्षण करें। अत्यं मात्रा में दोष रहने पर प्रच्छान कर शृङ्ग या अलावू यन्त्र से या जलौका से रक्तमोक्षण करावें⁶।
- (2) संशमन चिकित्सा

कुष्ठ रोग में संशमन चिकित्सान्तर्गत अन्तःपरिमार्जन व बहिःपरिमार्जन औषध द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। बहिःपरिमार्जन के अन्तर्गत विभिन्न लेप, प्रलेप, प्रदेह, तैल, स्नान प्रयोग किए जाते हैं। अन्तःपरिमार्जन चिकित्सा के अन्तर्गत तिक्तकपायरस प्रधान औषध का प्रयोग किया जाता है। संशमन चिकित्सा के अन्तर्गत प्रयोग किए जाने वाले औषध योग निम्नानुसार वर्णित हैं—

1. "दोषोत्क्लिष्टे हृदये वाय्यः कुष्ठेषु चोर्ध्वभागेषु । कुटजफलमदनमधुकैः सपटोलर्निम्बरसयुक्तैः ॥" (च.चि. 7/43)
2. "कुष्ठेषु त्रिवृता दन्ती त्रिफला च विरेचने शस्ता ॥" (च.चि. 7/44)
3. "दार्ढी बृहती सेव्यैः पटोल पिचुमर्दमदनकृतमालैः सस्नेहैरास्थायः कुष्ठी सकलिङ्गयवमुस्तैः ॥" (च.चि. 7/46)
4. "सैंधवदन्तीमरिचफणिङ्गकः पिप्पलीकरञ्जफलम् । नस्य स्यात्स विडङ्गं क्रिमिकुष्ठकफ प्रकोपन्म ॥" (च.चि. 7/48)
5. "वैरेचनैर्धूमैः श्लोकस्थानेरितेः प्रशास्यन्ति । कृमयः कुष्ठकिलासाः प्रयोजितैरुत्तमाङ्गस्याः ॥" (च.चि. 7/49)
6. "स्थिरकठिनमण्डलानां स्वत्रानां प्रस्तरप्राणीभिः । जलौकोभिः ॥" (च.चि. 7/50-52)

कायचिकित्सा	
(अ) अन्तः प्रयोगार्थ योग	
1. रस/भस्म	
मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, गोघृत, आमलकी स्वरस, गोमूत्र
(i) शुद्ध गंधक (लेलीतक)	: शु. आंवलासार गंधक
(ii) रस माणिक्य	: हरताल
(iii) गन्धक रसायन	: शु. गंधक, त्रिकटु, त्रिफला, विडंग आदि
(iv) तालकेश्वर रस	: हरताल, ताप्र, मनःशिला आदि
(v) व्याधिहरण रस	: कज्जली, संखिया, हरताल आदि
(vi) स्वर्ण माक्षिक भस्म	: शु. स्वर्ण माक्षिक
(vii) शु. शिलाजतु	: शु. शिलाजतु
(viii) गलत्कुष्ठारि रस	: संखिया, दन्ती, रसकर्पूर आदि
(ix) कुष्ठ कुतार रस	: रस सिन्दूर, गंधक, लौह, ताप्र आदि
2. वटी/गुग्गुलु	
मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, उण्ठोदक
(i) आरोग्यवर्धनी वटी	: कुटकी, ताप्र, शिलाजतु आदि
(ii) योगराजगुग्गुलु	: शुण्ठी, चित्रक, विडंग, गुग्गुलु आदि
(iii) शशिलेखा वटी	: कज्जली, ताप्र, बाकुची आदि
(iv) कैशोर गुग्गुलु	: त्रिफला, निष्व, गिलोय, गुग्गुलु आदि
(v) पंचतिक्त घृत गुग्गुलु	: निष्व, अमृता, वासा, गुग्गुलु आदि
3. चूर्ण	
मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: उण्ठ जल
(i) बाकुची चूर्ण (सोमराजी चूर्ण)	: बाकुची चूर्ण
(ii) मंजिष्ठादि चूर्ण	: मंजिष्ठा, हरीतकी, निशोथ आदि
(iii) पंचनिष्व चूर्ण	: निष्वपंचाङ्ग
(iv) नारसिंह चूर्ण	: शतावरी, गोक्षुर, चित्रक, भिलावा
(v) मुस्तादि चूर्ण	: मुस्तक, त्रिकटु, त्रिफला आदि
(vi) त्रिफलादि चूर्ण	: त्रिफला, अतीस, कुटकी आदि
4. क्वाथ	
मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: मधु, गोमूत्र, घृत आदि
(i) बृहदमहामंजिष्ठादि क्वाथ	: मंजिष्ठा, कुटज, अमृता आदि

(ii) पटोलादि क्वाथ	: पटोल मूल, इन्द्रायण मूल, त्रिफला आदि
(iii) खदिराष्टक	: खदिर, त्रिफला, निष्व, पटोल, गुडुची, वासा आदि
5. आसव/अरिष्ट	: 20-40 मि.ली.
मात्रा	: समभाग जल
अनुपान	: खदिर, देवदारु, बाकुची आदि
(i) खदिरारिष्ट	: अनन्तमूल, नागरमोथा, लोभ्र आदि
(ii) सारिवाद्यासव	: खदिरसार, त्रिफला, त्रिकटु आदि
(iii) कनकविन्दु रिष्ट	: खदिर, देवदारु, लोह भस्म आदि
(iv) मध्वासव	: त्रिफलासव
(v) त्रिफलासव	: 10-20 मि.ली.
6. घृत	: क्षीर, जल
मात्रा	: ऋतिवन, अतीस, कुटकी, चिरायता आदि
अनुपान	: खदिर, शीशम, असन, करंज आदि
(i) महातिक्तक घृत	: निष्व, पटोल, गुडुची, वासा आदि
(ii) महाखदिर घृत	: हरीतकी, विभीतकी, आमलकी आदि
(iii) पंच तिक्त घृत	: यथावस्यक (आम्यान्तर एवं वाह्य प्रयोगार्थ)
(iv) त्रिफला घृत	: बाकुची तैल
7. तैल	: कनक क्षीरी तैल
मात्रा	: चाउलमोगरा तैल
(i) बाकुची तैल	: कुष्ठवैरी तैल
(ii) कनक क्षीरी तैल	: पारद, गन्धक, कूठ, सप्तपर्ण आदि
(iii) चाउलमोगरा तैल	: बाकुची, हरिद्रा, कूठ आदि
(iv) कुष्ठराक्षस तैल	: मरिच, हरताल, मनःशिला आदि
(v) सोमराजी तैल	: करंज व नीम
(vi) मरिचाद्य तैल	: 10-20 ग्राम
(vii) करंज-निष्व तैल	: दुग्ध
8. पाक/लेह	: भलातक, गोघृत, शर्करा आदि
मात्रा	: निष्व, अतीस, कुटकी, त्रिफला, भलातक आदि
अनुपान	: त्रिफला, विडंग, चित्रक आदि
(i) अमृत भलातक लेह	: बाकुची, विडंग, चित्रक आदि
(ii) भलातकावलेह	
(iii) धात्र्यवलेह	
(iv) शशाङ्कलेखादि लेह	

कायचिकित्सा

9. (अ) एकल द्रव्य
 मंजिष्ठा
 सारिवा
 खदिर
 हरीतकी
 विभीतकी
 आमलकी
 हरिद्रा
 भिलावा
 बिंडग
 अमलतास
 करबीर
 चमेलीपत्र
 बाकुची आदि
- (ब) बाह्य प्रयोगार्थ औषध योग
1. तैल (पूर्व में वर्णित)
 2. प्रलेप
 - (i) मनःशिलादि लेप : मनःशिला, हरताल आदि
 - (ii) करञ्जादि लेप : करंज, कूठ आदि
 - (iii) करबीरादि लेप : कनेर, इन्द्रजौ आदि
 - (iv) हरीत्यादि लेप : हरड़, हरिद्रा, सर्पष आदि
 3. कल्क—भृष्ट सर्पष कल्क
- (स) रसायन या कल्प चिकित्सा
- (i) गंधक रसायन
 - (ii) सोमराजी रसायन
 - (iii) हरीतकी रसायन
 - (iv) तुवरक रसायन
 - (v) भल्लातक रसायन
 - (vi) हरिद्रा रसायन
 - (vii) शिलाजतु रसायन

कुष्ठ रोग

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. वात प्रधान कुष्ठ रोगार्थ

प्रातः सायम्

- (i) महातालेश्वर रस : 250 मि.ग्रा.
 रसमाणिक्य : 250 मि.ग्रा.
 सुवर्ण माक्षिक भस्म : 250 मि.ग्रा.
 मधु से 1×2 मात्रा
- (ii) आरोग्यवर्धनी वटी : 2 वटी × तीन मात्रा
 महा योगराज गुग्गुलु : 2 वटी × तीन मात्रा
- (iii) भोजनोत्तर खदिरारिष्ट : 20 मि.ली.
 समभाग जल से 1×2 मात्रा
- (iv) त्रिफला घृत : 20 मि.ली.
 दूध से 1×2 मात्रा

2. पित्त प्रधान कुष्ठ रोगार्थ

प्रातः सायम्

- (i) आमलकी रसायन : 2 ग्राम
 पंच निष्व चूर्ण : 2 ग्राम
 आरोग्यवर्धनी वटी : 250 मि.ग्रा.
 मधु या घृत से 1×2 मात्रा
- (ii) भोजनोत्तर सारिवाद्यासव : 20 मि.ली.
 समभाग जल से 1×2 मात्रा
- (iii) महातिक्त घृत : 20 मि.ली.
 दूध से 1×2 मात्रा

3. कफ प्रधान कुष्ठ रोगार्थ

प्रातः सायम्

- (i) तालकेश्वर रस : 250 मि.ग्रा.
 आरोग्यवर्धनी वटी : 250 मि.ग्रा.
 त्रिकटु चूर्ण : 1 ग्राम
 मधु से 1×2 मात्रा
- (ii) भोजनोत्तर खदिरारिष्ट : 20 मि.ली.
 समभाग जल से 1×2 मात्रा
- (iii) अमृत भल्लातक रसायन : 10 ग्राम
 जल से 1×2 मात्रा

4. गलत्कुष्ट में

प्रातः सायम्

(i) गलितकुष्टारि रस	: 250 मि.ग्रा.
गंधक रसायन	: 250 मि.ग्रा.
आरोग्यवर्धनी वटी	: <u>250 मि.ग्रा.</u>
मधु से	1×2 मात्रा

(ii) भोजनोत्तर खदिरारि	: 20 मि.ली.
समभाग जल से	1×2 मात्रा
(iii) पंचतिक घृत	: 20 मि.ली.
दूध से	1×2 मात्रा

5. पामा, दद्धू, कण्डू, विचर्चिका में

प्रातः सायं

(i) गंधक रसायन	: 500 मि.ग्रा.
मधु से	1×2 मात्रा
(ii) बृहदमंजिष्ठादि क्वाथ	: 20 मि.ली.

समभाग जल से

6. सामान्य व्यवस्था पत्र
1. निदान परिवर्जनम्
2. संशोधन चिकित्सा (वमन व विरेचन)
3. संशमन चिकित्सा

प्रातः सायम्

(i) रसमाणिक्य	: 250 मि.ग्रा.
शु. गंधक	: 250 मि.ग्रा.
अमृता सत्व	: 500 मि.ग्रा.
पंचनिष्ठादि चूर्ण	: 2 ग्राम
मधु से	1×2 मात्रा
(ii) भोजनोत्तर खदिरारि	: 20 मि.ली.
समभाग जल से	1×2 मात्रा
(iii) आरोग्यवर्धनी वटी	: 2 वटी × तीन मात्रा
(iv) महातिक घृत	: 20 मि.ली.
दूध से	1×2 मात्रा
(v) बाह्य प्रयोगार्थ महामरिच्यादि तैल	
(vi) विवर्ध रहने पर रात्रि में सोते समय	
हरीतकी चूर्ण	: 3 ग्राम
गर्म जल से	एक मात्रा

पथ्यापथ्य

कुष्ट रोग मिथ्या आहार-विहार, असात्म्य व वैरोधिक आहार से उत्पन्न होने वाली मुख्य व्याधि है। अतः कुष्ट रोगी को निम्न आहार-विहार (पथ्य व अपथ्य) का पालन करना चाहिये।—

पथ्य

आहार

लघु-हल्का-रुक्ष भोजन, तिक्क रस प्रधान अन्न, मूँग-मसूर की दाल, गेहू यव (जौ), पुराण घृत, गोमूत्र, निष्व-हरिद्रा-आमलकी-खदिर, पटोल (पर-वल) शाक, करेला शाक, मधु (शहद) लशुन, तोरई, दाढ़िम, जायफल, फालसा, जाङ्गल मांस आदि।

विहार

लघु व्यायाम, स्नान (मिठार्थक नामक) अस्यंदृ आदि।

अपथ्य

आहार विरुद्धाहार (यथा-दूध व मत्स्य), नवान्न (नये अन्न), पिष्टान्न, विदाही, अभिष्यन्दी गुरु-शीत-स्निग्ध आहार, दधि, मत्स्य, तिल, लवण-अस्ल, उड़द, मूली, गुड़, मद्य, लकुच, काकमाची, आनूपमांस, दुग्ध आदि।

विहार

दिवाशयन, मल-मूत्र वेग धारण, तनाव, अति व्यायाम आदि।

Latest Developments

Leprosy

कुष्ट रोग का अर्ध आम भाषा में लेप्रोसी (Leprosy) नामक व्याधि से लिया जाता है। शास्त्रीय दृष्टि से कुष्टरोग के अन्तर्गत लेप्रोसी के अतिरिक्त अन्य समस्त त्वचागत विकारों का समावेश हो जाता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से कुष्ट एक जीवाणु जनित संक्रामक रोग है। कुष्ट रोग संभवतया मानव में पाया जाने वाला सबसे पुराना संक्रामक रोग है। व्याधिग्रस्त व्यक्ति के सम्पर्क में रहने से इसकी उत्पत्ति होती है। कुष्ट का संचय काल सबसे अधिक तीन से सात वर्ष है। प्रौढ़ व्यक्ति की अपेक्षा बालकों तथा युवाओं में इसके संक्रमण की सम्भावना अधिक रहती है। लेप्रोसी की उत्पत्ति

1. “लघूनि चात्रानि हितानि विद्यात् कुष्टेषु शाकानि च तिष्ठकानि। भल्गतकैः सत्रिफलैः सनिष्टैर्युक्तानि चात्रानि घृतानि चैव॥

पुराणधान्यान्यथ जाङ्गलानि मांसानि मुद्राश्च पटोलयुक्ताः।

शस्ता, न गुर्वम्लपयोदधीनि नानूपमत्स्या न गुडस्तिलाश्च॥” (च.चि. 7/82-83)

'Mycobacterium leprae' नामक जीवाणु से होती है जो राजयक्षमा (Tuberculosis) के जीवाणु से साम्यता रखता है। ये दोनों जीवाणु अम्लसह (Acid-fast Bacilli) हैं। लेप्रोसी को Hansen's Disease भी कहा जाता है।

Types

- I. Lepromatous (Multibacillary)
- II. Tuberculoid (Polybacillary)

Sign/Symptoms

I. Lepromatous Leprosy (LL)

- (i) Skin lesions & symmetrical involvement of peripheral nerves with anaesthesia, muscle weakness, paralysis.
- (ii) Lesions are limited to the cooler portions of the body such as skin, upper respiratory tract & testes.

II. Tuberculoid Leprosy (TL)

- (i) Usually Benign
- (ii) The nerve lesions are asymmetrical and skin anaesthesia is an early occurrence.
- (iii) Visceral involvement is not seen.
- (iv) Because of the anaesthesia, rats have been able to remove digits while the patient sleeps.

Lepromatous Leprosy is much more contagious than the Tuberculoid form.

Between the two major forms are **Borderline (BB)** and **Indeterminate Leprosy**.

Diagnosis—Biopsy of a suspected skin lesion is used for diagnosis.

Complications

- (i) Bacterial skin infections
- (ii) Ulcers
- (iii) Traumatic amputation of fingers
- (iv) Tuberculosis
- (v) Amyloidosis

Management : Principles

(Multi Drug Therapy MDT) started in 1985 by WHO for 6-12 months

- i. Dapsone (DDS)
- ii. Rifampin
- iii. Clofazimine

Prognosis—With proper therapy, especially if given at the earliest possible, the outcome is favourable.

अध्याय-58

शिवत्र-किलास

(VITILIGO-LEUCODERMA)

व्याधि परिचय

सामान्यतः मनुष्य की बाह्य पहचान दर्शन के द्वारा 'वर्ण' से की जाती है। विश्व के समस्त मनुष्यों का वर्गीकरण भी त्वचा के वर्ण भेद के आधार पर किया जाता है। यूरोप व अमरीका के निवासी श्वेत वर्ण के, अफ्रीका के निवासी कृष्ण वर्ण के तथा चीन व जापान निवासी पीतवर्ण के होते हैं। भारत में कश्मीर व पंजाब के निवासी गौर वर्ण के तथा तमिलनाडू-केरल के निवासी कृष्ण वर्ण के होते हैं। यह वर्ण व्यवस्था भौगोलिक स्थिति के आधार पर शीत-उष्ण ऋतु से होती है। इन सभी देशों के निवासियों में त्वचा में रंजक द्रव्य (Melanin) की कमी के कारण शिवत्र रोग पाया जाता है। शिवत्र रोग केवल शारीरिक समस्या न होकर व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्या भी है। यह व्याधि वैदिक काल से ही चर्चित है। शिवत्र त्वचा के चतुर्थ स्तर (Fourth Layer) ताम्र (Mrophian Layer) में पाई जाने वाली व्याधि है। शिवत्र को आधुनिक भाषा में Vitiligo कह सकते हैं। आघात या ब्रण के बाद या जल जाने पर जो स्थानीय त्वचा श्वेत वर्ण की हो जाती है उसे किलास Leucoderma कह सकते हैं। यदि अन्तः धातुओं की गम्भीर विकृति न हुई हो तब यह विकृति कुछ समय बाद ठीक हो जाती है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 7
2. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 5
3. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 9
4. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 14
5. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 19, 20

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

किलास—

'किलेन श्वेत्येन असति इति किलासः'। कित् श्वेत्य क्रीडनयोः (त्रु.प.से.)। 'इगुप्थ' (3/1/135) इति कः। किलति इति किलः। अस् दीसौ (भा.उ.से.)। अच् (3/1/134) अमरकोष रामाश्रयी टीका।

श्वित्र— श्वेते इति श्वित्रम्। 'श्विता वर्णं' धातु से श्वित्र शब्द बनता है जिसका अर्थ है—त्वचा का वैकारिक रूप से श्वेतवर्ण हो जाना।

परिभाषा

"श्वेत वर्णं प्राप्नोति इति श्वित्रम्" अर्थात् जब शरीर के किसी भी अंग की त्वचा का वर्ण श्वेत होकर अप्रिय हो जाता है तब उसे श्वित्र रोग कहते हैं।

पर्याय

शास्त्रों में श्वित्र रोग के निम्न पर्याय वर्णित हैं—

- | | |
|--------------------|-------------------|
| (i) किलास | (ii) वारुण |
| (iii) दारुण | (iv) श्वित्र |
| (v) बाह्यकुष्ठ | (vi) सफेद कोढ़ |
| (vii) Vitiligo | (viii) Leucoderma |
| (ix) White patches | |

निदान

सामान्यतः कुष्ठ रोग के पूर्व में जो भी कारण बलाए गए हैं वे सभी कारण श्वित्र रोग उत्पादक भी होते हैं। ये प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं—

1. आहारज निदान

- विरुद्ध अन्नपान सेवन (वैरोधिक आहार) (Dietetic Incompatibility)
- मधु, मछली, लकुच, मूली, काकमाची का अतिसेवन
- अजीर्ण की अवस्था में भी भोजन करना
- दूध-दधि, तक्र, मांस, कुलथी का एक साथ सेवन करना
- गुरु-स्निधि-पिण्डान्त-अभिष्वन्दी पदार्थों का अति सेवन

2. विहारज निदान

- छर्दि आदि वेग धारण करना
- ग्रीष्म, भयावस्था, परिश्रम के पश्चात् सहसा शीत जलपान या शीत जल से स्नान
- अजीर्ण की अवस्था में व्यायाम करना
- दिवास्वप्न
- पंचकर्म का अपचार होना

1. "विरोधीन्यन्त्रपानानि कुर्वताम्॥"

(च.चि. 7/4-8)

3. आचरण जन्य निदान'

- असत्य बोलना व चोरी करना
- कृतन्न होना
- देवताओं की निंदा करना
- गुरुजनों का अपमान करना
- पाप क्रिया में लिप्स रहना
- पूर्व जन्म कृत पाप कर्म
- (vii) पर स्त्री गमन करना

4. निदानार्थकर रोग

- व्रण, अप्लाप्टिस व अतिसार की चिकित्सा नहीं करने पर
- कृमि रोग के बहुत दिन तक हरने पर (Hook work infestations)
- अग्निदाघ के पश्चात् (After burn & scald)

भेद

आचार्यों ने श्वित्र के निम्न भेद वर्णित किए हैं—

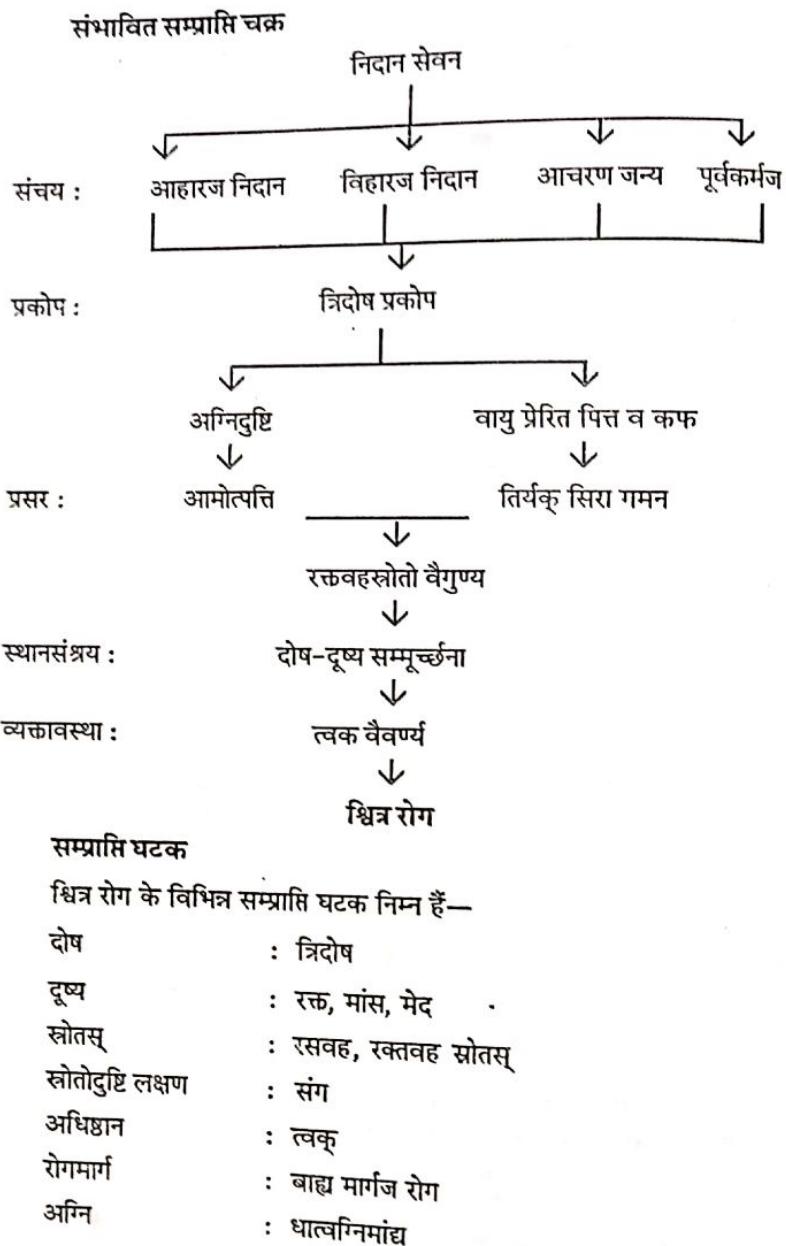
I	(i) सहज	(ii) जन्मोत्तर कालज
II	(i) अग्निदाघज	(ii) व्रणज
III	(i) दारुण	(ii) चारुण
IV	(i) वातिक	(ii) पैतिक
V	(i) रक्तवर्ण	(ii) ताप्रवर्ण
		(iii) श्वेतवर्ण

सम्प्राप्ति

बृहत्त्रयी में श्वित्र रोग की सम्प्राप्ति का वर्णन अलग से प्राप्त नहीं होता है। स्वभावतः श्वित्र रोग की सम्प्राप्ति भी कुष्ठ सदृश ही समझनी चाहिए। हारीत संहिता में बताया गया है कि वायु से प्रेरित पित्तदोष त्वचा में जाकर रक्त के साथ प्रकुपित होकर पाण्डुवर्ण को उत्पन्न करता है, जिसे श्वित्र रोग कहते हैं।

- "वचांस्यतथ्यानि कृतन्नभावो निन्दा सुराणां गुरुधर्षणं च। पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म हेतुः किलास्य विरोधि चान्नम्॥" (च.चि. 7/177)
- 1) "दारुणं चारुणं श्वितं नामभिस्त्रिभिः। विरोयं त्रिविधं तच्च त्रिदोषं प्रायशः तत्॥" (च.चि. 7/173)
 - "दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताप्रं मांससमाश्रिते। श्वेतं भेदःश्रिते श्वितं गुरुं तच्चोत्त्रोत्तरम्॥"
 - "दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताप्रं मांससमाश्रिते। श्वेतं भेदःश्रिते श्वितं गुरुं तच्चोत्त्रोत्तरम्॥"

(च.चि. 7/174)

**पूर्वरूप**

कुष्ठ के पूर्वरूपों को ही श्वित्र के पूर्वरूप समझना चाहिए। यथा—

- (i) वैवर्ण्य (Discolouration)
- (ii) कण्डू (Itching)
- (iii) तोद (Pin pricking pain)
- (iv) सुस्ता (Anaesthesia)
- (v) परिदाह (Burning sensation)
- (vi) रोमहर्ष (Horripilation)
- (vii) अस्वेदमतिस्वेदन (Anhydrosis or Hyperhydrois)
- (viii) राग (Redness)
- (ix) तुष्णा (Thirst)
- (x) खरत्व (Dryness) आदि।

सामान्य लक्षण

श्वित्र रोग शरीर के किसी एक भाग में श्वेत चक्ते (white patch) के रूप में प्रारंभ होता है जो धीरे-धीरे फैलता जाता है। इसमें अन्य किसी प्रकार की वेदना नहीं होती है। ग्रीष्म ऋतु में श्वेत चक्ते पर दाह प्रतीत होता है जिसे रोगी सहन नहीं कर पाता है। आचार्य लघु वाग्भट् ने इसे अपरिस्तावी (No secretions) माना है²। स्नाव के लिए रक्त आदि धातु की दुष्टि आवश्यक है। श्वित्र में केवल बाह्य त्वचा की ही विकृति होती है। वृद्ध वाग्भट ने श्वित्र को बाह्य कुष्ठ कहा है। त्वचा के बाह्य स्तर में वर्णक तत्व (Melanin pigments) का स्थानीय अभाव होता है जिससे वहाँ की त्वचा श्वेत हो जाती है। त्वचा की मृदुता खत्म हो जाती है। यह रोग शरीर में बहुत धीरे-धीरे फैलता है। कभी-कभी शरीर की समस्त त्वचा श्वेत वर्ण की हो जाती है बीच-बीच में कुछ कृष्ण वर्ण के धब्बे रह जाते हैं। यह रोग औपसर्गिक (infectious) नहीं है। इसलिए रोगी से घृणा नहीं करनी चाहिए।

विशिष्ट लक्षण**1. वर्ण के आधार पर³**

- (i) रक्त धातु में दोषों के आक्रित होने पर रक्तवर्ण का

1. “स्पर्शात्त्वमतिस्वेदे । कुष्ठलक्षणमग्रजम्॥”
(च.चि. 7/11-12)
2. “कुष्ठैकसंभवं श्वित्रं किलासं दारुणं च तत्। निर्दिष्टमपरिस्त्रिवित्रिधातुद्ववसंश्रयम्॥”
(अ.ह.नि. 14/37)
3. “दोषे रक्ताक्रिते रक्तं ताम्रं मांससमाक्रिते। श्वेतं मेदःश्रिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरेतरम्॥”
(च.चि. 7/174)

- (ii) मांस धातु में दोषों के आश्रित होने पर ताप्रवर्ण का एवं
 (iii) मेद धातु में दोषाश्रित रहने पर श्वेत वर्ण का श्वित्र होता है। रक्त से ताप्र एवं
 ताप्र से श्वेत वर्णी श्वित्र कष्टकारी होता है।

2. दोषज आधार पर

- (i) वातज किलास (रक्ताश्रित)¹— अरुण (लाल) वर्ण
 परुष (कठिन)
 परिध्वंसि (रोमनाशक)
 मण्डलाकार
 रुक्षता
- (ii) पित्तज किलास (मांसाश्रित)²— कमल पत्र वर्त्
 परिदाह
 ताप्रवर्ण
 रोम शातन
- (iii) कफज किलास (मेदाश्रित)³— श्वेत
 स्त्रिग्ध
 कण्डू
 बहल
 गौरव
 घनम्

3. धातु के आधार पर

- | | | |
|------------------|---|----------------------|
| (i) रक्तधातु गत | - | दारुण (रक्तवर्ण का) |
| (ii) भांसधातु गत | - | वारुण (ताप्र वर्ण) |
| (iii) मेद धातुगत | - | श्वित्र (श्वेत वर्ण) |

सापेक्ष निदान

श्वित्र रोग का सापेक्ष निदान कुष्ठ, सिध्म कुष्ठ एवं पुण्डरीक कुष्ठ से किया जाता है जो निम्न तालिका में वर्णित किया गया है—

1. i) “तद्रासेन मण्डलमरुणं परुणं परिध्वंसिच।” (सु.नि. 5/17)
 ii) “वाताद्वृक्षारुणं॥” (अ.ह.नि. 14/38)
2. i) “पित्तेन पद्यपत्रप्रतीकाशं सपरिदाहं च॥” (सु.नि. 5/17)
 ii) “पित्तात्तार्मं कमलपत्रवत्। सदाहं रोमविध्वंसि॥” (अ.ह.नि. 14/38)
3. i) “श्रूपाणां श्वेतं स्त्रिग्धं बहलं कण्डूमच्च॥” (सु.नि. 5/17)
 ii) “कफाच्छ्वेतं घनं गुरु सकण्डू च॥” (अ.ह.नि. 14/39)

तालिका-1

कुष्ठ	किलास (श्वित्र)
1. यह स्वाव युक्त संक्रामक व्याधि है।	1. यह स्वावरहित असंक्रामक व्याधि है।
2. यह क्रमि जन्य (जीवाणु) होता है।	2. इसका क्रमि से कोई सम्बन्ध नहीं है।
3. यह त्रिदोपज व्याधि है।	3. यह एक दोषज भी होता है।
4. यह रसादि सप्त धातुओं में होता है।	4. यह रक्त मांस व मेद धातु में होता है।
5. इससे शरीर की धातुओं का नाश होता है।	5. इसमें शारीरिक धातुओं का नाश नहीं होता है।

तालिका-2

किलास (श्वित्र)	सिध्म कुष्ठ	पुण्डरीक कुष्ठ
1. गहरा श्वेत मण्डल होता है।	उथला श्वेत मण्डल श्वेताभ मण्डल होता है।	
2. अरुण वर्ण व मध्य में स्निग्ध होता है।	अरुण वर्ण व मध्य रक्त वर्ण, रक्त सिरा युक्त में स्निग्ध होता है।	होता है।
3. प्रायः मुख, हस्त, पाद तथा उरःप्रदेश से प्रारम्भ होता है।	प्रायः उरःप्रदेश पर पूय, लसिका, रक्त, कण्डू, कृमि, दाह एवं पाक होता है।	होता है।

साध्यासाध्यता

आचार्य सुश्रुत के अनुसार जिस किलास रोग में मण्डल (Patches) परस्पर मिले हुए हों, जो अन्त स्थानों यथा ओष्ठ, पाणि, पाद व गुह्य प्रदेश में उत्पन्न हो, जिसमें रोम रक्त वर्ण हो जाय एवं जो अग्निदग्ध से उत्पन्न हुआ हो वह किलास असाध्य होता है¹।

आचार्य चरक के अनुसार जिस श्वित्र में मण्डल (Patches) परस्पर इतने समीप में सटे हों कि उनकी भिन्नता प्रतीत न होती हो, शरीर में मण्डल बहुसंख्या में हों, रक्त वर्ण के रोम हों तथा जो एक वर्ष से अधिक पुराना हो वह कुष्ठ असाध्य होता है²।

साध्य किलास लक्षण³

- i. एक वर्ष के पहले (नवीन उत्पन्न) का हो
 - i) “तेषु संबद्धमण्डलमन्तेजातं रक्तरोम च जाध्यमग्निदग्धं च।” (सु.नि. 5/17)
 - ii) “गुह्यपाणितलैङ्केषु जातमप्यचिरन्तरगम्॥” (अ.ह.नि. 14/41)
2. “यत् परस्परोऽभन्नं च्वहु यद्रक्तलोमवत्। यच्च वर्षगणोत्पन्न तच्छ्वित्रं नैव सिध्यति॥” (च.चि. 7/175)
3. i) “अरक्तरोम तनु यत् पाण्डु नाति चिरोत्थितम्। मध्यावकाशे चोच्छूनं श्वित्रं तत्साध्यमुच्यते॥” (च.चि. 7/176)
 - ii) “अशुक्लरोमवहलमसंसृष्टं मिथो नवम्। अनग्निदाधजं साध्यं श्वित्रं॥” (अ.ह.नि. 14/41)

- ii. रोम रक्षण के न हुए हों
- iii. जो पतला हो व पाण्डु वर्ण का हो
- vi. मध्य भाग में कुछ शोथ युक्त हो
- v. अग्निदग्ध से उत्पन्न न हुआ हो
- vi. शिवत्र के मण्डल आपस में सटे हुए नहीं हों
- vii. शिवत्र अग्निदग्ध से उत्पन्न न हुआ हो
- viii. जिसके रोग श्वेत न हुए हों

उपद्रव

किलास (शिवत्र) रोग के उपद्रवों का स्पष्टतः उल्लेख शास्त्रों में प्राप्त नहीं होता है। त्वचा गत रोग होने से सौन्दर्य की दृष्टि से रोगी में हीन भावना आ जाती है एवं रोगी मानसिक तनाव सहते हुए मानस रोग अवसाद (Depression) का शिकार हो जाता है। किलास (शिवत्र) रोग दीर्घकाल तक उपस्थित रहने पर गम्भीर धातुगत होकर कुष्ठ रोग का रूप धारण कर लेता है।

चिकित्सा सूत्र

1. आचार्य वागभट् ने वर्णन किया है कि शिवत्र रोग कुष्ठ से भी अधिक घृणा उत्पन्न करने वाला होता है एवं शीघ्र ही असाध्य हो जाता है। अतः इस रोग का उपचार उसी शीघ्रता से करना चाहिये जैसे हम घर में आग लगते ही त्वरित व्यवस्था करते हैं।
2. शिवत्र रोगी में वमन-विरेचन द्वारा शरीर के शुद्ध हो जाने पर पुनः अधिक शुद्धि के लिये कठगूलर रस व गुड़ का प्रयोग करना चाहिये। तत्पश्चात् निरन्तर तीन दिन तक धूप में बैठना चाहिये। अगर धूप में बैठने से प्यास लगे तो पेया का पान करना चाहिये। धूप सेवन के पश्चात् मण्डल (White Patches) के स्थान की त्वचा पर स्फोट (फफोले) उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हें कांटे से फोड़कर लसिका स्नाव होने दें। तत्पश्चात् निरन्तर पन्द्रह दिन तक प्रातःकाल कठगूलर की छाल, असन, प्रियंगु व शतपुष्या का ब्वाथ पिलावें।
3. शिवत्र रक्तज्ञ रोग होने के कारण इसकी चिकित्सा हेतु विरेचन, उपवास एवं रक्तमोक्षण भीं करना चाहिये।

1. “कुष्ठादपि बीभत्सं यच्छीघ्रतरं च यात्यसाध्यत्वम्। शिवत्रमत्स्तच्छान्त्यै यतेत दीप्ते यथा भवने॥”
(अ.ह.चि. 20/1)
2. “शिवत्राणां सविशेषं योक्तव्यं सेवतो विशुद्धानाम्। शिवत्रे संसनमग्रयं मलपूरस इष्यते सगुडः॥
तं प्रात्वा सुस्तिग्यो यथावलं सूर्यपादसंतप्तम्। संसेवेत विरक्तस्त्वयं पिपासुः पिवेत् पेयाम्॥
शिवत्रङ्ग्ने ये स्फोटा जायन्ते कण्टकेन तान्मन्यात्। स्फोटेषु विस्तुतेषु प्रातः प्रातः पिदेत पक्षम्॥
मलपूरसं प्रियं हुं शतपुष्यां चाम्भसा समुत्क्वाष्य॥” (च.चि. 7/162-165)

4. कुष्ठ रोग की समस्त चिकित्सा शिवत्र में रोगी की चिकित्सा हेतु भी अपनानी चाहिये।
 5. बाह्य प्रयोग के लिये मनःशिलादि लेप या मूलीबीज, बाकुची बीज को गोमूत्र में पीसकर लेप लगाना चाहिये।
- अतः उपर्युक्त विवरण के आधार पर शिवत्र रोग का सामान्य चिकित्सा क्रम निम्न प्रकार है—

I. दैवव्यपाश्रय चिकित्सा

शिवत्र को पापकर्मज (पूर्व जन्म कृत) रोग माना गया है। अतः दान-पूण्य, ब्रत, उपवास, धार्मिक अनुष्ठान कर भगवान शिव, गणेश एवं भास्कर की पूजा करनी चाहिये।

II. युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा

इसके भी निम्न तीन भेद हैं—

(1) अन्तःपरिमार्जन चिकित्सा

- (i) संशोधन चिकित्सा—कुष्ठ रोगानुसार वमन कर्म, विरेचन कर्म, शिरो विरेचन कर्म
- (ii) संशमन चिकित्सा—औषध चिकित्सा प्रयोग

(2) बहिःपरिमार्जन चिकित्सा—तैल, लेप प्रयोग

(3) शस्त्र प्रणिधान चिकित्सा

III. सत्वावजय चिकित्सा

चिकित्सा

- (i) संशोधन चिकित्सा—पूर्व में एवं कुष्ठ रोगान्तर्गत वर्णित चिकित्सानुसार संशोधन कर्म करने चाहिये। यथा—

वमन कर्म — कुष्ठ रोगानुसार

विरेचन कर्म — कठगूलर रस व गुड़ से

- (ii) संशमन चिकित्सा—शिवत्र रोग में संशमन चिकित्सान्तर्गत निम्न औषध योगांकों का प्रयोग युक्ति पूर्वक करने का विधान है-

1. रस/भस्म

मात्रा : 250-500 मि.ग्रा.

अनुपान : मधु

- (i) शिवत्रारि रस : असन, बाकुची, लौह आदि

1. “न्रतदमयमसेवा त्यागशीलाभियोगो हिजसुरगुरुपूजा सर्वसत्त्वेषु मैत्री।

शिवशिवसुताराभास्कराधनानि प्रकटिमलपापं कुष्ठमुमूलयन्ति॥” (अ.ह.चि. 19/98)

कायचिकित्सा

(ii) रसमाणिक्य	: हरताल
(iii) श्वेतारि रस	: कज्जली, त्रिफला, बाकुची आदि
(iv) स्वर्ण माक्षिक भस्म	: शुद्ध स्वर्णमाक्षिक
(v) कासीसबद्ध रस	: पारद, रससिन्दूर, कासीस आदि
(vi) गंधक रसायन	: शु. गन्धक, चतुर्जात, त्रिफला, विंडंग आदि
(vii) तालकेश्वर रस	: हरताल, ताम्र, मनःशिला
2. वटी	
मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, उष्णोदक
(i) आरोग्यवर्धनी वटी	: कुटकी, ताम्र, शिलाजतु आदि
(ii) शशिलेखा वटी	: कज्जली, ताम्र, बाकुची आदि
(iii) कैशोर गुण्गुलु	: त्रिफला, निम्ब, गुडुची आदि
(iv) सप्तसमा गुटिका	: त्रिफला, त्रिकटु, तिल, भलातक आदि
3. चूर्ण	
मात्रा	: 1-3 ग्राम
अनुपान	: कोण्ठ जल
(i) पंचनिम्ब चूर्ण	: निम्ब पंचाङ्ग
(ii) बाकुच्यादि चूर्ण	: त्रिफला, बाकुची, शिलाजीत आदि
(iii) नारसिंह चूर्ण	: शतावरी, चित्रक, भलातक आदि
(iv) मंजिष्ठादि चूर्ण	: मंजिष्ठा, हरड़, निशोथ आदि
4. क्वाथ	
मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: मधु/जल
(i) मंजिष्ठादि क्वाथ	: मंजिष्ठा, त्रिफला, कुटकी आदि
(ii) विभीतकादि क्वाथ	: कठगूलर, विभीतकी, गुड़ आदि
5. आसव/अरिष्ट	
मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: समभाग जल
(i) खदिरारिष्ट	: खदिर, देवदार, त्रिफला आदि
(ii) गोमूत्रासव	: चित्रक, त्रिकटु, गोमूत्र आदि

श्वेत्र-किलास

6. घृत	: मात्रा	: 10-20 मि.ली.
	: अनुपान	: दूध
(i) सोमराजी घृत	: खदिर, बाकुची, त्रिफला आदि	
(ii) पंचतिक्त घृत	: निम्ब, पटोल, गुडुची आदि	
7. तैल		
मात्रा	: वाह्य प्रयोगार्थ (यथोचित मात्रा)	
(i) पंचानन तैल	: एरण्ड, तुलसी, बाकुची, चक्रमर्द आदि	
(ii) विभीतक तैल	: विभीतक आदि	
(iii) आरग्वधाद्य तैल	: अमलतास, कुष्ठ, हरताल आदि	
(iv) कुष्ठराक्षस तैल	: पारद, गन्धक, चित्रक आदि	
(v) मरिचाद्य तैल	: मरिच, हरताल, मनःशिला आदि	
8. लेह		
मात्रा	: 5-10 ग्राम	
अनुपान	: जल	
(i) भलातकावलेह	: निम्ब, अतीस, कुटकी, भलातक आदि	
(ii) शशाङ्कलेखादि लेह	: बाकुची, विंडंग, चित्रक आदि	
(iii) धात्र्यवलेह	: त्रिफला, विंडंग, चित्रक, भलातक आदि	
(iv) उदुम्बरावलेह	: उदुम्बर आदि	
9. लेप		
मात्रा	: बाह्य प्रयोगार्थ यथावश्यक	
(i) मनःशिलादि लेप	: मनःशिला, विंडंग, कासीस आदि	
(ii) भलातक लेप	: भिलावा, गोमूत्र, सूही क्षीर आदि	
(iii) सर्वर्णकर लेप	: बाकुची, हरताल, गोमूत्र आदि	
(iv) श्वेत्रनाशक लेप	: त्रिकटु, सर्षप, हरिद्रा, चित्रक आदि	
(v) करवीरादि लेप	: करवीर, निम्ब, कुटज	
(vi) मरिचादि लेप	: मरिच, कूठ, मनःशिला आदि	
10. अन्य लेपार्थ द्रव्य	: कठगूलर छाल, बाकुची बीज, चित्रक, मूली बीज, कूठ, मैनशिल, गोरोचन, कासीस, रसांजन आदि।	

11. रसायन औषध प्रयोग

- मात्रा एवं विधि
 (i) भलातक रसायन
 (ii) बाकुची रसायन
 (iii) सोमराजी रसायन

: आवश्यकतानुसार

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. निदान परिवर्जनम्

2. प्रातः सायम्

तारकेश्वर रस	: 250 मि.ग्रा.
सुवर्ण माक्षिक भस्म	: 250 मि.ग्रा.
गंधक रसायन	: 250 मि.ग्रा.
नारसिंह चूर्ण	: 1 ग्राम
बाकुची चूर्ण	: <u>1 ग्राम</u>
मधु से	1×2 मात्रा
3. आरोग्यवर्धनी वटी	: 2 वटी × तीन मात्रा
शशिलेखा वटी	: 2 वटी × तीन मात्रा
4. भोजनोत्तर	
खदिरारिष्ट	: <u>20 मि.ग्रा.</u>
समभाग जल से	1×2 मात्रा
5. बाह्य प्रयोगार्थ बाकुची तैल तत्पश्चात् प्रातः आतप सेवन 10-20 मिनट	
6. पथ्य आहार-विहार	

पथ्यापथ्य

शिवत्र रोग में अलग से पथ्यापथ्य का निर्देश नहीं है। अतः पूर्व में वर्णित कुष्ठरोगानुसार पथ्यापथ्य का निर्देश शिवत्र रोगी को दिया जाना लाभप्रद है।

Latest Developments

Vitiligo (Leucoderma)

Vitiligo is an acquired cutaneous disorder characterized by white patches, surrounded by areas of normal pigmentation. It is more common in tropics and in blacks.

Causes

Although the cause is unknown, the condition may be associated with systemic disease such as Hypothyroidism, Hyperthyroidism, Diabetes Mellitus, Addison's disease, Pernicious Anemia, Leprosy, Candidiasis, Syphilis.

Pathogenesis

The major pigment of the skin is called melanin. It is produced inside special cells called melanocytes which are located along the basal cells in the epidermis and contain small granules called melanosomes. Melanin is synthesized from the amino acid-tyrosine by the action of an oxidising and copper containing enzyme tyrosinase. In vitiligo the melanocytes in localized areas of the body stop producing melanin. The patches tend to be localized to the knees, elbows, ankles, knuckles.

Management : Principles

- i. Oral and topical psoralen/followed by exposure to ultra-violet-A rays from an artificial lamp (PUVA) Photo therapy.
- ii. Topical corticosteroids (Chemotherapy)
- iii. Liver extract
- iv. Tyrosine
- v. Surgical grafting
- vi. Melanocyte grafting
- vii. Treatment of associated disorders such as Diabetes mellitus, Hyperthyroidism etc.

००० रुपये ०००

अध्याय-59

विसर्प रोग (ERYSIPelas)

व्याधि परिचय

कुष्ठ व किलास रोग की तरह विसर्प भी एक त्वचा का रोग है। यह रोग शरीर में सहसा उत्पन्न होकर विभिन्न गतियों में फैलता है। उर्ध्व, अध: एवं त्रियक गति से फैलने के कारण इसे विसर्प कहते हैं। शीघ्र प्रसारित (acute onset) होने के स्वभाव के कारण इसे विसर्प कहते हैं। एक भाग में लाल वर्ण का शोथ युक्त मण्डल दाह व स्नाव के साथ उत्पन्न होता है जिसे आचार्य चरक ने शीघ्र फैलने वाला एवं विष के समान घातक बताया है²।

विसर्प रोग केवल बाहरी त्वचा तक ही सीमित नहीं रहता है अपितु यह श्वेषकला, हृदयावरण, फुफुसावरण, मस्तिष्कावरण तथा मस्तिष्क आदि आश्यान्तर अंगों व रक्तादि धातुओं में भी प्रविष्ट हो जाता है। विसर्प की तुलना आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के Erysipelas नामक रोग से की जाती है। यह रोग Streptococcus erysipelatis नामक जीवाणुओं के संक्रमण से उत्पन्न होता है। आचार्य चरक ने 'कक्षा' नामक एक और विसर्प रोग का उल्लेख किया है जिसका फैलाव दायीं या बायें रोग 'यज्ञोपवीत' अर्थात् जनेऊ की परिधि में होता है जिसकी तुलना Herpes zoster नामक व्याधि से करते हैं।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 21
1. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 10
3. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 17
4. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 13
5. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 18
6. अष्टाङ्ग संग्रह, निदान स्थान-अध्याय 13
7. माधव निदान-अध्याय 52
8. योग रत्नाकर-विसर्प निदान एवं विसर्प चिकित्सा

1. "विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः । परिसर्पेऽथवा वामा सर्वतः परिसर्पणात् ॥" (च.चि. 21/11)
2. "दारुणं रोगमाशी विष विषोपमम् । विसर्पनं शरीरेषु देहिनामुपलक्ष्यते ॥" (च.चि. 21/6)

विसर्प रोग

निरुक्ति-व्युत्पत्ति

- (i) "विविधं सर्पति" अर्थात् जिस रोग की गति अनेक प्रकार से शीघ्र ही होती है। 'वि' उपसर्ग, 'सृप्' धातु से धज् प्रत्यय करने पर 'विसर्प' शब्द बनता है।
- (ii) "सर्वतः परिसर्पणात्" अर्थात् सभी जगह शीघ्र प्रसरित होने के स्वभाव से इसे विसर्प कहते हैं।

परिभाषा

यह रोग अनेक प्रकार की (उर्ध्व, अध: व तिर्यक) गतियों से शरीर के सभी प्रदेशों में गमन करता है, इसलिए इसे 'विसर्प' कहते हैं।

पर्याय— विसर्प, परिसर्प

निदान

विसर्प रोग के हेतु निम्न दो प्रकार के होते हैं²—

- I निज हेतु
- II आगन्तुज हेतु
- I निज हेतु
 - (i) लवण, अम्ल, कटु व उष्ण पदार्थों का अतिसेवन।
 - (ii) दधि, शुक्र (सिरका), सुरा, सौंबीर, विकृत मंदिरा अति सेवन।
 - (iii) राग, घाडव का अतिसेवन करना।
 - (iv) हरितशाक व विदाही अत्र का अति सेवन।
 - (v) कूर्चिका, किलाट (छेना), मन्दक का अतिसेवन।
 - (vi) तिल, उड्ढ, कुलधी, पिष्टक, ग्राम्य मांस, आनूप मांस, औदक मांस, लशुन का अति सेवन।
 - (vii) प्रक्लिन्त्र (सड़ा), असात्य व विरुद्ध आहार का निरन्तर सेवन करना।
 - (viii) अतिभोजन, दिवास्वन्ज, अजीर्ण, अध्यशन करना।
 - (ix) छर्दि (वमन) का वेग विधारण³।

1. "विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः ।" (च.चि. 21/11)
2. "लवणाम्लकटूष्णानं रसानामतिसेवनान् । दध्यस्त्रैशुक्तानं सुरा सौंबीरकस्य च । व्यापत्र बहुमध्योष्णरागघाडवसेवनात् । शाकानां हरितानां च सेवनाच्च विदाहिनाम् ॥ कूर्चिकानां किलाटानां सेवनान्मन्दकस्य च । दधः शाण्डिकूर्चिवर्पामासुतानां च सेवनात् ॥ तिलमाषकुलत्थानां तैलानां पैष्टिकस्य च । ग्राम्यानूपैदकानां च मांसानां लशुनस्य च ॥ प्रक्लिन्त्रानाम सात्प्यानां विरुद्धानां च सेवनात् । अत्यादानादिवास्वप्नादजीर्णध्यशनात् क्षतात् ॥ क्षतबन्ध प्रपतनाद्वीनकर्मातिसेवनात् । विषवाताग्निदोषाच्च विसर्पणां समुद्द्वः ॥" (च.चि. 21/16-21)
3. "कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्डवामयज्वराः । कुष्ठहलासवीसर्पर्छर्दिनिग्रहजा गदाः ॥" (च.सू. 7/14)

- II आगनुज हेतु
- चाकू आदि अस्त्रों से कट जाना।
 - वध (बन्धन) रसी आदि से
 - उच्च स्थान से गिरना - प्रपतन
 - आतप का अति सेवन
 - अधिक शारीरिक श्रम
 - विषैली वायु का सम्पर्क होना
 - अग्नि से जल जाने के कारण।

विसर्प के सम दूष्य

रक्त, लसीका, त्वचा एवं मांस, ये चार दूष्य व वात, पित्त, कफ ये तीन मल दोष ये सातों मिलकर विसर्प रोग को उत्पन्न करते हैं।

विसर्प भेद

विसर्प के विभिन्न भेदों को निम्नानुसार वर्गीकृत कर सकते हैं—

I दोष भेद से

- आचार्य चरक अनुसार 7 भेद हैं²-

- वातज विसर्प
- पित्तज विसर्प
- कफज विसर्प
- सत्रिपातज विसर्प
- वात पित्तज (अग्नि) विसर्प
- वात कफज (ग्रन्थि) विसर्प
- पित्त कफज (कर्दम) विसर्प

- आचार्य सुश्रुत के अनुसार 5 भेद हैं³

- वातज विसर्प
- पित्तज विसर्प

- “रक्त लसीका त्वद्भासां दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः। विसर्पाणं समुत्पत्तौ विशेयाः सप्तधातवः॥”
(च.चि. 21/15)
- “वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सत्रिपातिकः। चत्वार एते वीर्यार्थ वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः॥”
आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः। यस्तु कर्दमको धोरः स पित्तकफसंभवः॥”
(च.चि. 21/13-14)
- “वातात्मकोऽस्ति मृदुः.....।कीर्णम्॥”
(सु.नि. 10/4-7)

- कफज विसर्प
- सत्रिपातज विसर्प
- क्षतज विसर्प

II अधिष्ठान भेद से¹

- बाह्य अधिष्ठान (त्वचाश्रित) गत
- आभ्यन्तर अधिष्ठान (आन्तरिक धातु) गत
- उभयाधिष्ठान (आश्रित)

ये उत्तरोत्तर कठिन व दुश्चिकित्स्य होते हैं।

सम्प्राप्ति

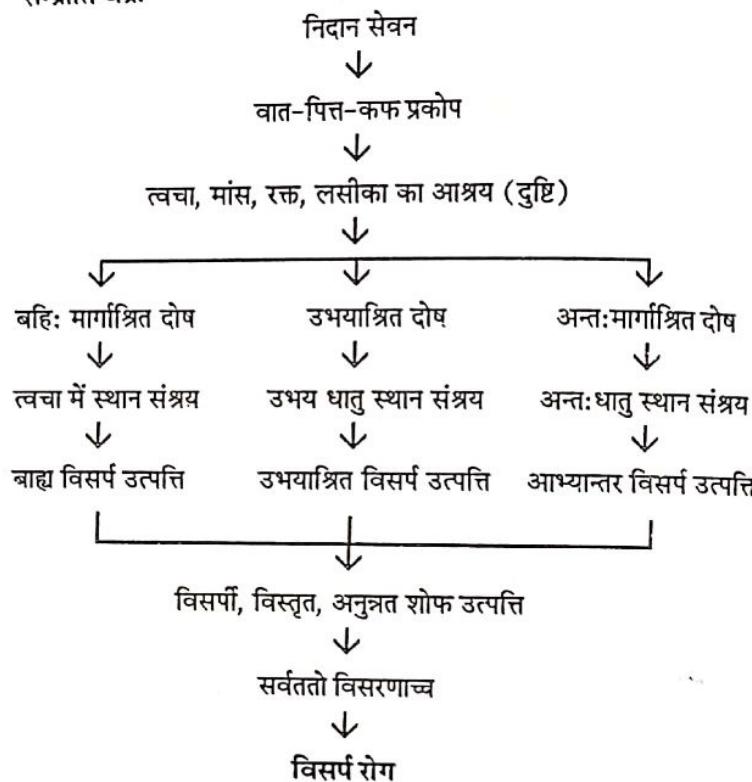
पूर्व वर्णित निदानों के सेवन से कुपित हुए वात, पित्त व कफ मिलकर रक्त, लसीका, त्वचा एवं मांस को दूषित कर सर्वाङ्गविसर्पि, अस्थि, आत्मलिंग युक्त विस्तृत अनुन्त्रत शोफ को उत्पन्न करते हैं²।

शरीर की भीतरी धातुओं में कुपित दोष भीतरी मार्गों में आश्रित होकर या कुपित होकर आभ्यन्तर विसर्प रोग को उत्पन्न करते हैं। जब दोष बाहरी मार्ग में आश्रित होकर बाहरी धातुओं को दूषित करते हैं तो बाह्य विसर्प को उत्पन्न करते हैं एवं जब कुपित दोष बाहरी व भीतरी धातुओं में आश्रित होकर दोनों दोष-दूषों को दूषित करते हैं तो उभयाश्रित विसर्प उत्पन्न करते हैं³।

उपर्युक्त सम्प्राप्ति श्रृंखला को सम्प्राप्ति चक्र के माध्यम से भी समझा जा सकता है जो यहां दर्शाया जा रहा है—

- “बहिःश्रितः श्रितश्चान्तसाथा चोभयसंश्रितः। विसर्पो बलमेतेषां ज्येयं गुरु यथोत्तरम्॥”
(च.चि. 21/23)
- i) “एतैर्निर्दानैव्यामिश्रैः कुपिता मारुतादयः। दूष्यान् संदूष्य रक्तादीन् विसर्पन्त्यहिताशिनाम्॥”
(च.चि. 21/22)
 - “त्वद्भासांशोणितगताः कुपितास्तु दोषाः, सर्वाङ्गसारिणमिहस्थितमात्मलिङ्गम्। कुर्वन्ति विस्तृतमनुन्त्रतमाशु शोफं, तं सर्वतो विसरणाच्च विसर्पमाहुः॥”
(सु.नि. 10/3)
- “अन्तः प्रकुपिता दोषा विसर्पन्त्यन्तरात्रये। बहिर्वहिः प्रकुपिता सर्वत्रोभयसंश्रिताः॥”
(च.चि. 21/25)

सम्प्राप्ति चक्र



सम्प्राप्ति घटक

विसर्प रोग के विभिन्न सम्प्राप्ति घटक निम्नानुसार हैं—

दोष	: त्रिदोष (पित्त प्रधान)
दूष्य	: रक्त, मांस, लसीका, त्वचा
स्रोतस्	: रक्तवह स्रोतस्
स्रोतोदुष्टि लक्षण	: संग के पश्चात् विमार्गागमन
अधिष्ठान	: त्वक्
व्याधिस्वभाव	: आशुकारी
पूर्वरूप	

विसर्प के पूर्वरूपों का वर्णन संहिताओं में प्राप्त नहीं होता है।

रूप

शास्त्रों में विसर्प के विभिन्न भेदों के लक्षण निम्नानुसार वर्णित हैं—

1. वातज विसर्प-लक्षण¹

- (i) वात ज्वर के समान पीड़ा होना।
- (ii) शोथ में स्फुरण, सुई चुभने सीं पीड़ा, भेदनवतपीड़ा, आयाम, अर्ति व हर्ष होना।
- (iii) विसर्प युक्त स्थान का श्याव-अरुण होना।
- (iv) भ्रम, दवथु, तृष्णा, उद्घेष्टन, कास, अस्थि सन्धि भेद (पीड़ा), संधिविश्रेषण होना।
- (v) वेपन, अरोचक, अविपाक, नेत्र आकुलता, अशु स्राव होना।
- (vi) अंगों पर चीटियों के चलने की तरह अनुभव होना (पिपीलिका संचार)
- (vii) वात, मूत्र, पुरीष की असम्यक प्रवृत्ति होना।
- (viii) चिकित्सा नहीं की जाय तो शीघ्र फूटने वाली, पतली, अरुण वर्ण या श्याव वर्ण की पिड़िका अति संख्या में उत्पन्न हो जाती हैं।

2. पित्तज विसर्प-लक्षण²

- (i) यह विसर्प शीघ्र फैलता है।
- (ii) पित्तज ज्वर के समस्त लक्षण यथा-ज्वर, तृष्णा, मूर्छा, मोह, छर्दि, अरोचक, अंगभेद, अतिस्वेद, अन्तर्दाह, प्रलाप, शिरःशूल, चक्षु आकुलता, अनिद्रा, भ्रम, शीतवातवारि इच्छा उत्पन्न होते हैं।
- (iii) तीव्र दाह, पाक, स्फोट उत्पन्न होता है।
- (iv) नेत्र, मूत्र व मल का वर्ण हरा या हल्दी के समान होना।
- (v) हरित या हरिद्रा समान प्रत्येक वस्तुओं को देखना।
- (vi) त्रिसर्प स्थान का वर्ण ताप्र, हरित, हार्दि, नील, कृष्ण, रक्त वर्ण हो सकता है।
- (vii) पिड़िकाएं शीघ्र पकती हैं।

3. कफज विसर्प लक्षण³

- (i) यह धीरे-धीरे फैलता है।
- (ii) देर से पकता है।

1. i) “तस्य रूपाणि - भ्रम द्रवधुपिसासा । वातविसर्पः ॥” (च.चि. 21/30)

ii) “वातात्मकोऽसित मृदुः पर्योऽङ्गमर्दसंभेदतोदपवनज्वरलङ्घयुक्तः ॥” (सु.नि. 10/4)

iii) “तत्र वातात्परीसर्पे वातज्वर समव्यथः । शोफ स्फुरणनिस्तोदभेदायामाति हर्षवान् ॥” (अ.ह.नि. 13/47-48)
2. i) “पित्ताद्द्रुतगतिः पित्तज्वरलङ्घोऽतिलाहितः ॥” (अ.ह.नि. 13/48)

ii) “तस्य रूपाणि-ज्वरस्तृष्णा मूर्छा । पित्तविसर्पः ॥” (च.चि. 2/32)

iii) “पित्तात्मको द्रुतगतिर्ज्वरदाहापाक स्फोटप्रभेदबहुलः क्षतज्व्रकाशः । दोष प्रवृद्धिहतमांस सिरो यदा स्यात् स्रोतोजकर्दमनिभो न तदा स सिद्धेत् ॥” (सु.नि. 10/5)

इति शेष्य विसर्पः ॥” (च.चि. 21/34)
3. i) “तस्य रूपाणि-शीतकः । इति शेष्य विसर्पः ॥”

- (iii) स्निधि, श्वेतवर्ण, अल्पशोफ युक्त तीव्र, कण्ठ, युक्त पिङ्का उत्पन्न होती है।
- (iv) कफज ज्वर के लक्षण मिलते हैं।
- (v) शीत, शीत ज्वर, गुरुता, निद्रा, तन्द्रा, अरुचि, मधुरास्यता, आस्योपलेप, निष्ठीवन, छर्दि, आलस्य, स्तैमित्य, अग्निमांद्य होता है।
- (vi) त्वचा मोटी हो जाती है।
- (vii) अनेक पिङ्काएं उत्पन्न होती हैं।
- (viii) नख, मूत्र, नेत्र श्वेतवर्ण के होते हैं।

उपर्युक्त विसर्पों की जब यथा समय समुचित व्यवस्था न की जाय तो उन स्थानों पर अपने-अपने दोषों के लक्षणों वाले स्फोट उत्पन्न हो जाते हैं। ये स्फोट पक्कर फूट जाने पर अपने-अपने दोषों से युक्त लक्षणों वाले ब्रणों का रूप धारण कर लेते हैं।

4. वात-पित्त विसर्प (अग्नि विसर्प) लक्षण²

- (i) वात-पित्त के लक्षणों वाला ज्वर, छर्दि, मूर्च्छा, अतिसार, तृष्णा, भ्रम, अस्थिशूल, अग्निमांद्य, तमक श्वास, अरोचक उत्पन्न होते हैं।
- (ii) सम्पूर्ण शरीर में जलते हुए अंगार से झुलसे के समान अनुभूति होना।
- (iii) जिस-जिस अवयव पर यह रोग फैलता है वह-वह अवयव बुझे हुए कोयले के समान काला, नीला या लाल हो जाता है।
- (iv) अवयव अग्निदग्ध के समान फफोलों से भर जाते हैं।
- (v) बेहोशी, श्वास, हिका, बेचैनी व मृत्यु हो जाती है।

5. वात-कफज विसर्प (ग्रंथि) लक्षण³

- (i) कफ दोष द्वारा अवरुद्ध वात दोष, कफ दोष का अनेक प्रकार से भेदन करके सिरा, त्वचा, स्नायु तथा मांस में स्थित रक्त धातु को दूषित करके लम्बी, छोटी, गोल, मोटी, खुरदरी गांठों (ग्रंथियों) की माला को पैदा करता है।

ii) "श्रेष्ठात्मकः सरति मन्दमशीघ्रपाकः, स्निधः सितथ्यथुरल्परुस्प्रकण्ठः ॥"
(सु.नि. 10/6)

iii) "कफात्कण्ठयुतः स्निधः कफज्वर समानरुक् ।" (अ.ह.नि. 13/49)

1. "स्वदोपलिङ्गशीयन्ते सर्वे स्फोटैरुपेक्षिताः । ते पक्षभिन्नाः स्वं स्वं च बिभ्रति व्रणलक्षणम् ॥"

2. i) "तदुपतापादातुरः । विद्यात् ॥"
(अ.ह.नि. 13/49-50)

ii) "वातपित्ताज्वर । उच्चते ॥"
(च.चि. 21/36)

3. i) "स्थिरालुकठिन । ग्रंथि विसर्प ॥"
(अ.ह.नि. 13/50-56)

ii) "कफेन रुद्धः पवनो । कफमात्तकोपजः ॥"
(च.चि. 21/39)

(अ.ह.नि. 13/56-59)

- (ii) ये ग्रंथियाँ लाल वर्ण की होती हैं।
- (iii) ग्रंथियों से तीव्र पीड़ा, ज्वर, श्वास, कास, अतिसार, मुख का सूखना, हिघा, छर्दि, भ्रम, मूर्च्छा, विवर्णता, मोह, अंग-भंग, मन्दाग्नि उत्पन्न होती है।

6. कफ-पित्तज (कर्दम) विसर्प लक्षण

- (i) ज्वर, स्तम्भ, निद्रा, तन्द्रा, शिरःशूल, अंगसाद, विक्षेप, प्रलाप, अरोचक, भ्रम, मूर्च्छा, मन्दाग्नि, पिपासा आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।
- (ii) यह विसर्प प्रायः आमाशय के किसी एक भाग में उत्पन्न होता है।
- (iii) यह पीली, लाल या हल्की श्वेत वर्ण की पिङ्काओं से घिरा रहता है।
- (iv) विसर्प द्वारा आक्रान्त स्थान मेचक, काला, स्निधि, मलिन, शोथयुक्त, भारी, भीतर से पका हुआ, अधिक उप्पा वाला तथा छूने मात्र से फट जाता है, सड़ जाता है उस स्थान का मांस सड़कर कीचड़ (कर्दम) जैसा हो जाता है। छूने पर उस स्थान में सिरा-स्नायु समूह दिखने लगता है। उस स्थान से मुर्दे जैसी गन्ध आती है¹।

7. अभिघातज (क्षतज) विसर्प लक्षण²

बाह्य कारणों यथा—विष, शस्त्र आदि आगन्तुक कारणों द्वारा क्षत हो जाने के कारण कुपित वात दोष रक्त सहित पित्त को दूषित करके विसर्प की उत्पत्ति करता है। यह विसर्प कुलधी के दानों के सदृश फफोलों से घिर जाता है। इसमें शोथ, ज्वर, वेदना तथा दाह होता है। इन फफोलों का वर्ण काला एवं लाल होता है।

8. सन्निपातज विसर्प लक्षण

सन्निपातज से उत्पन्न विसर्प रोग में पृथक-पृथक दोषों से उत्पन्न होने वाले विसर्प रोग के सभी लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह सन्निपातज विसर्प शरीर के सम्पूर्ण अंगों में फैलने वाला होता है। सभी धातुओं में इसकी गति होती है। यह शीघ्र ही रोगी को मारने वाला होता है। यह विसर्प अधिक उपद्रव करने वाला होता है। यह अचिकित्स्य होता है³।

1. i) "तद्विकारः क्षीतज्वरः विद्यात् ॥"
(च.चि. 21/38)

ii) "कफपित्ताज्वरः स्तम्भो तम् ॥"
(अ.ह.नि. 13/60-64)

2. i) "बाह्यहेतोः क्षतालुङ्गः सरकुं पित्तमीरय् । विसर्पमातुः कुर्यात् कुलत्यसदृशीक्षितम् ।
स्फोटैः शोफ ज्वर रुजादाहाद्यं श्यावलोहितम् ॥" (अ.ह.नि. 13/65-66)

3. "सर्वायत समुद्धं सर्वलङ्घत्यापिनं
सर्वधातनुसारिणमाशुकारिणं महात्ययिकमितिसन्निपातविसर्पमचिकित्स्यं विद्यात् ॥"
(च.चि. 21/41)

सापेक्ष निदान

विसर्प व कुष्ठ रोग में दोष-दूष समान होते हैं। अन्तर केवल इतना होता है कि विसर्प व कुष्ठ रोग में दोष-दूषों को शीघ्र दूषित करते हैं व कुष्ठ रोग में शनैः-शनैः दोष, धातुओं दूषित करते हैं।

क्रम	कुष्ठ रोग	विसर्प रोग
i.	त्रिदोषज रोग है एवं सभी दोष समान रूप से विकृत होते हैं।	यह भी त्रिदोषज रोग है परन्तु तर-तम भेद से दोष प्रकृति होते हैं।
ii.	विरुद्धाहार, पापकर्म, देव-गुरु का अपमान मुख्य हेतु है।	क्षत व विष प्रमुख हेतु है।
iii.	दोष क्रम कफ-पित्त-वात एवं दूष्य क्रम त्वचा, रक्त, मांस एवं लसीका है।	दोष क्रम पित्त-वात-कफ एवं दूष्य क्रम रक्त, लसीका त्वचा एवं मांस है।
iv.	चिरस्थायी, आनुवंशिक तथा जन्मान्तर में भी जाने की प्रवृत्ति होती है।	अस्थायी, अनानुवंशिक व्याधि है।
v.	कुष्ठ एक स्थान पर प्रारम्भ होकर अन्य स्थानों पर धीरे-धीरे फैलता है।	विसर्प प्रायः शीघ्र ही सर्व शरीर में फैल जाता है।
vi.	स्पर्शाज्ञत्व (loss of sensation) मिलता है।	स्पर्शाज्ञत्व नहीं मिलता है।
vii.	चिरकारी (Chronic) व्याधि है।	आशुकारी (Acute) व्याधि है।
viii.	वेदना व दाह कम मिलता है।	वेदना, दाह, स्फुरण अधिक होता है।
ix.	कष्टसाध्य या असाध्य रोग है।	सुखसाध्य या कष्टसाध्य व्याधि है।
x.	सभी प्रकार के कुष्ठों की उत्पत्ति विसर्प में त्रिदोषों तथा चार दूषों में से में त्रिदोषों तथा चार दूषों का एक या दो या तीन का दूषित होना आवश्यक दूषित होना आवश्यक है।	है।

विसर्प रोग

साध्यासाध्यता^१

- i. वातज वित्तज व कफज विसर्प साध्य होते हैं।
 - ii. अग्नि तथा कर्दम विसर्प में यदि उपद्रव उत्पन्न न हुए हों तथा सिरा-स्नायु-मांस-क्लेद को व्याप्त न किए हों तो साध्य होते हैं।
 - iii. ग्रन्थि विसर्प भी उपद्रव रहित होने पर साध्य होता है।
 - iv. सन्त्रिपातज विसर्प चिकित्सा में विरुद्ध उपक्रम वाला होने से असाध्य होता है।
 - v. क्षतज विसर्प भी असाध्य माना गया है।
 - vi. पित्तज विसर्प में यदि रोगी का शरीर अंजन समान काला हो जाय तो असाध्य है।
 - vii. मर्म स्थान गत विसर्प कृच्छ्रसाध्य होता है।
 - viii. बहिमार्गित (त्वचा गत) विसर्प साध्य, अन्तमार्गित (धातु गत) कृच्छ्र साध्य एवं उभय आश्रित विसर्प असाध्य होता है।

उपहार

विभिन्न ग्रन्थों में विसर्प रोग के निम्न उपद्रव वर्णित किए गए हैं—

- i. ज्वर
 - ii. अतीसार
 - iii. छर्दि
 - iv. त्वचा व मांस का फटना
 - v. बलान्ति (बिना परिश्रम के थकावट)
 - vi. अरुचि
 - vii. अविपाक

चिकित्सा सत्र

- विसर्प रोग की चिकित्सा में सर्वप्रथम लंघन व रुक्ष पदार्थों का सेवन करना चाहिये।

- i) "सिद्धन्ति वातकफित्तकृता विसर्पः सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति। पैतानिलवपि च दर्शितपूर्वलिंगां, सर्वे च मर्मसु भवन्ति हि कृच्छ्रसाध्या ॥" (सु.नि. 10/8)

ii) "तत्र वातपित्तश्लेष्मनिमित्ता..... विद्यात् ॥" (च.चि. 21/42)

iii) "बहिर्भागोश्चितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम्। विसर्पदारुणं विद्यात् सुकृच्छ्रवन्तराश्रया ॥" (च.चि. 21/24)

iv) "यस्य सर्वाणि लिङ्गानि बलवद्यस्य कारणम्। यस्य चोपद्रवाः कष्ट मर्मो यश्च हन्ति सः ॥" (च.चि. 21/28)
 - "ज्वरातिसारवमथुत्वद्भांसदरणकलमाः। अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः ॥" (मा.नि. 52/24)/(यो.र. विसर्प चि. 26)

2. वातादि दोषों की विवेचना करके तद्दोषगत वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण, प्रलेप, तिक्त रस, अविदाही पदार्थों का सेवन कराना चाहिये।
3. वायु के स्थान में यदि दोष कुपित होकर विसर्प रोग उत्पन्न हो तो सर्वप्रथम वायु के स्थान को रुक्ष औषधियों द्वारा रुक्षण करना चाहिये।
4. यदि विसर्प रोग में रक्त या पित्त का अनुबन्ध हो तो प्रारम्भिक अवस्था में स्नेहन का प्रयोग नहीं करना चाहिये²।
5. वातज विसर्प एवं अल्प दोष युक्त पित्तज विसर्प में तिक्त घृत का पान कराना चाहिये।
6. यदि पित्तज विसर्प में दोष अति मात्रा में वृद्ध हो तो विरेचन का प्रयोग करना चाहिये। यह विरेचन, विरेचक द्रव्यों से सिद्ध घृत से ही करना चाहिये³।

अतः विसर्प रोग की चिकित्सा में दोषानुसार निम्न उपक्रम चिकित्सार्थ अपनाने चाहिये—

- i. लंघन (रुक्षण)
- ii. वमन
- iii. विरेचन-घृत से
- iv. रक्तमोक्षण
- v. परिषेचन
- vi. प्रलेप
- vii. तिक्त रस सेवन

योगारलाकर कार ने द्वन्द्ज तथा सत्रिपातज विसर्प रोग में कुष्ठ रोग चिकित्सा के अन्तर्गत वर्णित समस्त रस औषधि, क्वाथ, चूर्ण, घृत तथा रसायन औषधियां प्रयुक्त करने का निर्देश दिया है⁴।

1. i) "विरेकवमनालेपसेचनासृग्विमोक्षणैः । उपाचरेद् यथादोषं विसर्पन् विदाहिभिः ॥"
(च.द. विसर्प चि.1)
- ii) "लङ्घनोलेखने शस्ते तिक्तकानां चासेवनम् । कफस्थानगते सामे रुक्षशीतैः प्रलेपयेत् ॥
पित्तस्थानगतेऽप्येत् त् सामे कुर्याच्चिकित्सितम् । शोणितस्यावसेकं च विरेकं च विशेषतः ॥"
(च.चि. 21/44-45)
2. "मारूताशयसंभूतेष्यादितः स्याद्विरुक्षणम् । रक्तपित्तान्वयेष्यादौ स्नेहनं न हितं मतम् ॥"
(च.चि. 21/46)
3. "वातोल्पवे तिक्तघृतं पैत्तिके च प्रशस्यते । लघु दोषे, महादोषे पैत्तिके स्याद्विरेचनम् ॥"
(च.चि. 21/47)
4. "त्रिदोषधूं क्रियां कुर्याद्विसर्पे द्वंद्व सम्भवे । रसायनानि कुष्ठेषु सर्पीयि क्वाथनानि च ॥
चूर्णादीन्यपि सर्वाणि विसर्पेऽप्यवितान्यलम् ॥" (यो.र. विसर्प चि. 19)

चिकित्सा

(I) शोधन चिकित्सा

- (i) वमनकर्म¹—पटोल, निम्ब, पिण्डी, मदनफल एवं इन्द्रयव से वमन कर्म कराना चाहिये।

(ii) विरेचन²

- i. त्रिफला क्वाथ में घृत एवं निशोथ चूर्ण मिलाकर विरेचनार्थ देना चाहिये।
 - ii. त्रायमाण घृत से।
 - iii. आमलकी स्वरस व घृत से।
- (iii) रक्तमोक्षण³—शाखा (त्वचा) गत विसर्प में।

(II) शमन चिकित्सा

विसर्प रोग में निम्न औषध रोगों का प्रयोग युक्तिपूर्वक कराना चाहिये—

1. रस/भस्म-सत्व

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु
(i) रसमाणिक्य	: हरताल
(ii) चन्द्रकला रस	: पारद, गन्धक, ताप्र आदि
(iii) गंधक रसायन	: शु. गन्धक, चतुर्जात, गुडुची आदि
(iv) अमृता सत्व	: अमृता सत्व
(v) कालाग्निरुद्ध रस	: पारद, अभ्रक, गन्धक, स्वर्णमाक्षिक आदि

2. वटी/गुग्गुलु

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: जल, मधु
(i) कैशोर गुग्गुलु	: त्रिफला, निम्ब, गुडुची आदि
(ii) आरोग्यवर्धिनी वटी	: कुटकी, ताप्र, शिलाजतु आदि
(iii) संशमनी वटी	: गुडुची
(iv) नवकषाय गुग्गुलु	: अमृता, वासा, पटोल, गुग्गुलु आदि

1. "पटोलपिचुमर्दाभ्यां पिण्डल्या मदनेन च । विसर्पे वमनं शस्तं तथा चेन्द्रयैः सह ॥"
(च.चि. 21/52)
2. "त्रिफलारससंयुक्तं सर्पिस्त्रिवृत्या सह । प्रयोक्तव्यं विरेकार्थं विसर्पञ्चरनाशनम् ॥"
(च.चि. 21/66)
3. "शाखादुषे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत् ॥" (च.चि. 21/68)

3. क्वाथ	
मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) मुस्तादि क्वाथ	: मुस्तक, निम्ब, पटोल आदि।
(ii) चन्दनादि क्वाथ	: चन्दन, उत्पल आदि।
(iii) सारिवादि क्वाथ	: अनन्तमूल, आमलकी, उशीर आदि।
(iv) किरातादि क्वाथ	: चिरायता, लोध्र, चन्दन आदि।
(v) पटोलादि शीत क्वाथ	: परवल, निम्ब, दारुहरिद्रा आदि।
4. आसव/अरिष्ट	
मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) मंजिष्ठाद्यरिष्ट	: मंजिष्ठा आदि।
(ii) सारिवाद्यरिष्ट	: सारिवा, नागरमोथा आदि।
(iii) खदिरारिष्ट	: खदिर, देवदारु, त्रिफला आदि।
5. घृत	
मात्रा	: 10-20 मि.ली.
अनुपान	: क्षीर
(i) शतधौत घृत	: नीम के काढ़े के जल से 100 बार धोया हुआ गाय का घी सभी विसर्पों में लाभकारी है।
(ii) पंचतिक्त घृत	: निम्ब, वासा, पटोल आदि।
(iii) महापद्मक घृत	: मुलैठी, लोध्र, नागकेशर आदि।
(iv) महातिक्त घृत	: अतीस, कुटकी, चिरायता आदि।
(v) त्रायमाणा घृत	: त्रायमाणा, कुटकी, नागरमोथा आदि।
(vi) शौर्यादि घृत	: मुलैठी, कमल, सारिवा आदि।
(vii) दूर्वादि घृत	: वट, गूलर, जामुन, दूर्वा आदि।
6. प्रलेप/प्रदेह	
(i) दशाङ्क लेप	: बाह्य प्रयोगार्थ
(ii) उदुम्बरादि प्रदेह	: शिरीष, मधुयष्ठी, तगर, हरिद्रा आदि।
(iii) सारिवादि प्रलेप	: उदुम्बर, मधुयष्ठी, नागकेशर आदि।
(iv) त्रिफलादि लेप	: अनन्तमूल, कमलकेशर, खश आदि।
(v) मांस्यादि लेप	: त्रिफला, खस, मंजिष्ठा आदि।
	: जटामांसी, राल, लोध्र आदि।

विसर्प रोग

7. तैल	: बाह्य प्रयोगार्थ
(i) करञ्जादि तैल	: करञ्ज, लाङ्गूली, सूखी आदि।
8. एकल द्रव्य	: चन्दन, निम्ब, अमृता, रित्यु, मंजिष्ठा, हरिद्रा आदि।
आदर्श चिकित्सा पत्र	
1. निदान परिवर्जन	
2. संशोधन-वर्मन, विरेचन, रक्तमोक्षण	
3. संशमन चिकित्सा	
i. प्रातः सायम्	
रसमाणिक्य	: 125 मि.ग्रा.
गंधक रसायन	: 250 मि.ग्रा.
अमृता सत्त्व	: <u>500</u> मि.ग्रा.
मधु से	: 1x2 मात्रा
ii. आरोग्यवर्धनी वटी	: 2 वटी × तीन मात्रा
कैशोर गुग्गुलु	: 2 वटी × तीन मात्रा
iii. भोजनोत्तर	
खदिरारिष्ट	: <u>20</u> मि.ली.
समभाग जल से	: 1x2 मात्रा
iv. पंचतिक्त घृत	: <u>20</u> मि.ली.
दूध/कोष्ठ जल से	: 1x2 मात्रा
v. दशाङ्क लेप+पंचतिक घृत	: बाह्य प्रयोगार्थ
vi. रात्रि में त्रिफला चूर्ण	: <u>3</u> ग्राम
कोष्ठ जल से	: एक मात्रा
पथ्यापथ्य—विसर्प रोगी में निम्न पथ्यापथ्य आहार-विहार का युक्तिपूर्वक प्रयोग करना लाभप्रद रहता है।	

1. i) "अत्रपानानि वस्यामि विसर्पाणां निवृत्ये । सहितेष्यो हितो नन्यो रूपः सकौदर्शकः ॥
मधुरः किंचिदक्तो वा दाडिमामलकान्वितः । सपरुचकमृद्दोः सखरूपः कृत्तमुन्मु ॥"
(च.चि. 21/108, 109)
- ii) "विदाहीन्यत्रपानानि विरुद्धं स्वप्नं दिवा । क्षोष्यायामस्यांन्प्रवतांश्च विसर्पयेत् ॥"
(च.चि. 21/115)

पथ्य

आहार

लघु, रक्ष अन-पान, मधु व चीनी
मिलित मस्त्र, दाढ़िय, आमलकी, फालसा,
मुनक्का, खर्जूर, पटोल, यत्र, पास रस,
शालि चावल (पुराना), सत्रू, गोधूम,
मूंग-मसूर-चना आदि।

विहार

लंघन (उपवास)।

अपथ्य

आहार

विदाही अन-पान, विरुद्ध अवपान, दिवा स्वप्र, क्रोध, व्यायाम, आतप
लशन, दधि, सुरा-मदिरा, तिल, उड्ड, सेवन, मैथुन, वेगधारण, स्वेदन कर्म
कुलशी, लवण, अम्ल, कटु द्रव्य आदि। आदि।

विहार

Latest Developments

Erysipelas

It is an acute contagious febrile disease with localized inflammation and redness of skin and subcutaneous tissue accompanied by systemic sings and symptoms. This is usually caused by *Streptococcus pyogenes* infecting the dermal tissue without involving the superficial skin.

Signs/Symptoms

- (i) Lesion consists of a localized area of swelling and redness with a well defined raised border. The lesion is warm and tender (Painful).
- (ii) Fever & chills (In severe cases).
- (iii) Nausea & vomiting.
- (iv) Bullae may develop.

Diagnosis

The presence of bacteria in the lesions can be demonstrated by making a smear from the pus and using gram stain or culturing the organisms on artificial media.

Management : Principles

- (i) Proper bathing & cleaning the area with soap and water.
- (ii) Topical antibiotics.
- (iii) Systemic antibiotics.
- (iv) Cool compresses.

Prognosis

The progress is excellent with treatment. Without treatment nephritis, abscesses and septicemia may develop.

अध्याय-60

शीतपित्त, उदर्द व कोठ रोग
(URTICARIAS-ALLERGIC REACTIONS)

व्याधि परिचय

बृहत्त्रयी में शीतपित्त-उदर्द आदि रोगों का स्पष्टतः वर्णन नहीं है। आचार्य चरक ने कफ नानात्मज रोगों में 'उदर्द' रोग का वर्णन किया है। छर्दि का वेग धारण करने से कोठ की उत्पत्ति मानी गयी है। रक्त प्रदोषज विकारों में भी कोठ व असृगण्डल (रक्त मण्डल) का वर्णन किया गया है। आचार्य माधवकर एवं भावप्रकाश ने शीतपित्त-उदर्द-कोठ का स्पष्टतः वर्णन किया है। शीतपित्त को आजकल 'Urticaria' कहा जाता है। शीतपित्त वायु प्रधान, उदर्द कफ प्रधान एवं कोठ में रक्त दोष की प्रधानता मानी गई है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इन सभी का कारण एक प्रकार की अनूजता (Allergy) मानी गई है। अतः शीतपित्त, उदर्द व कोठ क्रमशः उत्तरोत्तर परिवर्धित एवं जीर्ण अवस्थायें हैं। लघु वाभट् (अष्टङ्ग हृदय) ने उत्कोठ व कोठ को क्षुद्ररोगों में गिना है।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

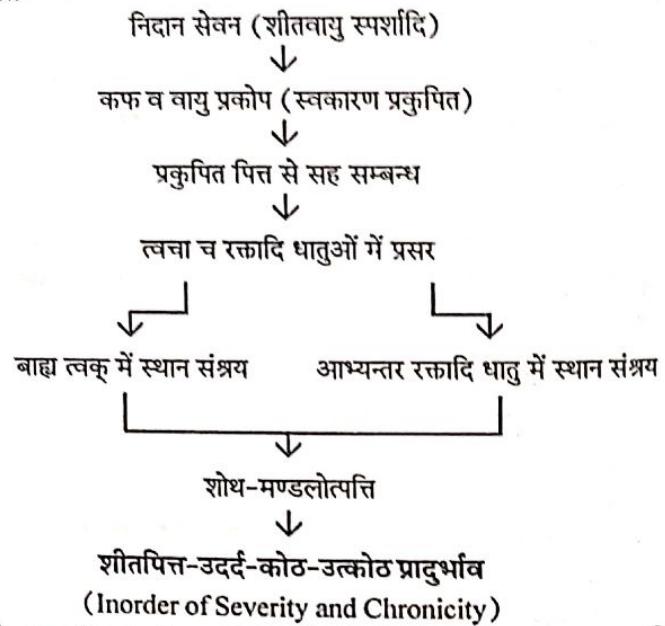
1. माधवनिदान-अध्याय 50
2. चक्रदत्त-अध्याय 52
3. भावप्रकाश उत्तरार्ध-अध्याय 55
4. योगरत्नाकर, उत्तरार्ध-शीतपित्त-उदर्द-कोठ निदानम्
5. भैषज्य रत्नावली-अध्याय 55

परिभाषा

1. शीतपित्त—त्वचा के ऊपर भ्रमर के काटने के समान उत्पन्न रक्त शोथ को 'शीतपित्त' कहा जाता है।
2. उदर्द—त्वचा के ऊपर तीव्र कण्ठ युक्त शोथ को 'उदर्द' कहा जाता है।
3. कोठ—त्वचा के ऊपर कण्ठ युक्त रक्तशोथ को 'कोठ' कहा जाता है। बार-बार कोठ होने को 'उत्कोठ' कहा जाता है।

निदान^१

- शीतपित्त, उदर्द व कोठ के निदान शास्त्रों में निमानुसार वर्णित किए गए हैं—
- शीतवायु स्पर्श
 - छर्दि वेग धारण
 - वमन कर्म का अयोग
 - शीत-उष्ण का एक साथ प्रभाव होना
 - असात्म्य, वैरोधिक आहार का एक साथ सेवन
 - अनूर्जता यथा असात्म्य प्रोटीन, विकृत मत्त्य, मांस, अण्डा, कुमिदंश (Insect Bite) भाज्ञातक-केवांच स्पर्श, संखिया योग सेवन
 - अंकुशामुख या गण्डूपद कृमि का उपसर्ग।

सम्प्राप्ति^२

उपर्युक्त सम्प्राप्ति चक्र से स्पष्ट है कि शीतवायु के स्पर्श से कफ व वायु प्रकुपित होकर पित्त के साथ मिलकर त्वचा तथा आन्तरिक रक्तादि धातुओं में फैलकर शीतपित्त, उदर्द एवं कोठ रोग को उत्पन्न करते हैं।

- i) "शीतमारुतसंस्पर्शात्प्रदुष्टौ कफमारुतौ। पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्तर्विसर्पतः ॥" (मा.नि. 50/1)
- ii) "दुश्छर्दिते स्पोटकोठकर्ण्डुत्खाविशुद्धिरुणाप्रता च ॥" (च.सि. 1/16)
- "शीतमारुतसंस्पर्शात्प्रदुष्टौ कफमारुतौ। पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्तर्विसर्पतः ॥" (मा.नि. 50/5) (मा.प्र. 55/1)

सम्प्राप्ति घटक

शीतपित्त-उदर्द व कोठ के सम्प्राप्ति घटक निम्न प्रकार हैं—

- | | | |
|---------------|---|------------------------|
| दोष | : | पित, कफ व वायु |
| दूष्य | : | त्वक् (रस) एवं रक्तादि |
| अभिष्ठान | : | त्वक् |
| व्यापि स्वभाव | : | आशुकारी (Acute) |

पूर्वरूप

शीतपित्त-उदर्द व कोठ के पूर्वरूप निमानुसार वर्णित हैं।—

- अतितुष्णा (पिपासाभिक्य) (Excessive thirst)
- अरुचि (Anorexia)
- चालास (Nausea)
- देहसाद (शरीर की शिथिलता-Inactive body)
- गौरवता (Heaviness in body)
- रक्तलोचनता (नेत्रों में लालापन Congestion of Eyes)

रूप

शीतपित्त, उदर्द व कोठ के निम्न लक्षण प्रकट होते हैं—

- शीतपित्त^३—(शीतपित्त में वायु दोष का प्रावल्य रहता है)
 - त्वचा पर चर्टी (ततैया) के काटने के समान शोथ (चकते) उत्पन्न होना
 - कण्डू (खुजली)
 - तोद (सुई चुभने जैसी पीड़ा)
 - छर्दि
 - ज्वर
 - दाह आदि।
- उदर्द^४—(उदर्द में कफ दोष का प्रावल्य रहता है)
 - उत्संग युक्त (मध्य में दबा हुआ) शोथ उत्पत्ति
 - रक्तवर्ण के कण्डू युक्त चकते
 - शिशिर त्रृतु में अधिक उत्पत्ति

- "पिपासाऽरुचि हलास देहसादाङ्गौरवम्। रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम् ॥"
(मा.नि. 50/2)/(भा.प्र. 55/2)
- "चर्टीदासंस्थानः शोथः संजायते यहिः। सकण्डूसोदबहुलार्थर्दिष्वरिवदाहयान् ॥"
उदर्दभिति तं विद्याच्छीतपित्तमध्यापरे। याताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिकः ॥"
(मा.नि. 50/3-4)
- "सोत्सङ्गैश सरागैश कण्डूमन्दिध मण्डलैः। शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तिः ॥"
(मा.नि. 50/5)

(3) कोठ—वमन कर्म का अयोग होने से या छर्दि के वेग को रोकने से रुके हुए पित्त, कफ एवं अन्न से कण्डू-लालिमा युक्त अनेक चकते (शोथ) उत्पन्न हो जाते हैं। उन्हें कोठ कहते हैं। जब कोठ का अनुबन्ध बराबर बना रहता है अर्थात् एक चकते (Rash) के नष्ट होने पर दूसरा चकता उत्पन्न होता रहता है तो ऐसे चकतों को 'उत्कोठ' कहते हैं। कोठ एवं उत्कोठ में पित्त एवं कफ दोष का प्राबल्य रहता है।

'सापेश्व निदान'—शीतपित्त, उदर्द एवं कोठ में निम्न लक्षणों के आधार पर भेद किया जा सकता है—

शीतपित्त	उदर्द	कोठ*
1. वाताधिक्यता	कफ प्रधान	कफ-रक्त प्रधान
2. तोद (पीड़ा) अधिक कण्डू व वमन		कण्डू अधिक
3. किंचित् मण्डलोत्पत्ति आवस्थिक मण्डलोत्पत्ति	आवस्थिक रक्ताभ	मण्डलोत्पत्ति
4. शीत व उष्ण के एक शिशिर ऋतु में उत्पन्न साथ सेवन से उत्पन्न होता है	वमन (छर्दि) के अयोग या रोकने से (वर्षा ऋतु में) होता है।	
5. आशुकारी (Acute) Subacute		जीर्ण (Chronic)

*नोट—उत्कोठ में बार-बार मण्डलोत्पत्ति होकर यह चिरकालानुबन्धी है।

चिकित्सा सूत्र

- सामान्यतया शीतपित्त, उदर्द व कोठ रोग की चिकित्सा एक समान है।
- कृमि व द्रद्धु नाशक चिकित्सा के पश्चात् स्नेहन-स्वेदन करके संशोधन (वमन व विरेचन कर्म) कर कोष्ठ शुद्धि करनी चाहिये।
- तत्पश्चात् कुष्ठ नाशक चिकित्सा करें।
- सर्षप तैल से अभ्यंग व गर्म जल से परिपेक कराना चाहिये।
- कोठ रोग में अम्लपित्त, कुष्ठ व उदर्द नाशक चिकित्सा अपनानी चाहिये। महतिक्त घृत का प्रयोग कर रक्तमोक्षण कराना प्रशस्त होता है।

- "अस्प्यवमनोदीर्णपितरलेभ्यात्रनिग्रहैः। मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च॥ उत्कोठः सानुबन्धै कोठ इत्यभिधीयते॥" (मा.नि. 50/5-6)
- "शीतपिते उदर्दे च तथा कोठभिधे गदे। कृमिद्दुहरः कार्यः शीतपितेऽखिलः क्रमः॥ स्निध्यवित्रस्य संशुद्धिमादौ कोष्ठे समाचरेत्। ततः कुष्ठहरः सर्वो विधेयो विधिरादरात्॥" (यो.र.शीतपितादि चि.14/15)
- "अभ्यङ्ग कटुतैलेन सेक्ष्योषेन वारिणा॥" (भा.प्र. 55/8)
- "कुष्ठोक्ते च क्रमं कुष्ठ्याद्मपितन्नमेव च। उदर्दोक्तो त्रिफलाभिरिक्तधात शस्यते। त्रिफलां शौद्रसहितां पिबेद्वा नवकार्षिकम्॥" (च.द. 52/8) सर्पिः पीत्वा महातिकं कार्यं शोणितमोक्षणम्॥" (च.द. 52/8)

शीतपित्त, उदर्द व कोठ रोग में निम्न चिकित्सा मिद्दान अपनाना चाहिये—

- निदान परिवर्जनम्
- संशोधन चिकित्सा अभ्यंग, स्वेदन (परिपेक), वमन कर्म, विरेचन कर्म, रक्तमोक्षण
- संशमन चिकित्सा प्रलेप, उद्वर्तन, मुखमार्ग द्वारा औषध सेवन

चिकित्सा

(I) संशोधन चिकित्सा

- अभ्यंग : सर्षप (कटु) तैल से।
- स्वेदन : उण्ठोदक से सिंचन।
- वमन¹ : पटोल, निष्व, वासा से।
- विरेचन² : त्रिफला, गुग्गुलु व पिप्पली से या नवकार्षिक कथाय से।
- रक्तमोक्षण : महातिक्त घृत का पान कराकर रक्तमोक्षण कराना चाहिये³।

(II) संशमन चिकित्सा

शीतपित्त, उदर्द व कोठ रोग में निम्न औषध योगों का प्रयोग युक्त पूर्वक करना लाभप्रद रहता है—

- रस/भस्म/सत्त्व
मात्रा : 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान : मधु
(i) सर्वतोभद्र रस : अग्रक, गंधक, पारद, तालीसपत्र आदि
(ii) कामदुधा : प्रवालपिठी, वराटिका, स्वर्णगंगिरिक आदि
(iii) स्वर्ण माक्षिक : स्वर्ण माक्षिक भस्म
(iv) स्वर्ण गैरिक : स्वर्ण गैरिक भस्म
(v) सूतशेखर रस : पारद, टंकण, वत्सनाभ (पित्त भञ्जी) आदि
(vi) यवक्षार : यवक्षार
(vii) अमृता सत्त्व : अमृता सत्त्व
(viii) चन्द्रकला रस : कज्जली, अग्रकभस्म, ताप्र, भस्म आदि
(ix) प्रवाल भस्म : प्रवाल भस्म

- "उदर्दे वमनं कार्यं पटोलारिष्वारिणा॥" (चक्रदत्त 52/1)
- "त्रिफलापुरकृष्णाभिरिक्तधात शस्यते। त्रिफलां शौद्रसहितां पिबेद्वा नवकार्षिकम्॥" (च.द. 52/2)
- "सर्पिः पीत्वा महातिकं कार्यं शोणितमोक्षणम्॥" (चक्रदत्त 52/8)

कायचिकित्सा	
(x) शीतपित्तभज्जन रस	: कजली, कासीस, ताप्र, भृङ्गराज आदि
(xi) श्लेष्मपित्तान्तक रस	: रस सिन्दूर, अध्रक भस्म, गंधक
(xii) पित्तान्तक योग	: स्वर्णगैरिक, मिश्री, अमृतधारा
2. वटी/गुग्गुलु	
मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, उदक
(i) आरोग्यवर्धनी वटी	: कुटकी, ताप्र, शिलाजतु आदि
(ii) नवकार्षिक गुग्गुलु	: त्रिफला, पिप्पली, गुग्गुलु आदि
(iii) कैशोर गुग्गुलु	: त्रिफला, निम्ब, गुडुची आदि
(iv) स्पर्शवात्थी वटी	: कुचला, कजली, वत्सनाभ आदि
3. चूर्ण	
मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: जल, क्षीर-शर्करा
(i) त्रिफला चूर्ण	: हरीतकी, विभीतकी आमलकी
(ii) पञ्चशिरीष चूर्ण	: शिरीष पञ्चांग
(iii) त्रिकटु चूर्ण	: शुण्ठी, मरिच, पिप्पली
(iv) यवान्यादि चूर्ण	: अजवाइन, त्रिकटु आदि
4. व्याथ	
मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) अमृतादि योग	: गुडुची, हरिद्रा, निम्ब, धन्वयास आदि
(ii) यष्ट्यादि योग	: मुलैठी, मधूक, रासना, लालचन्दन आदि
5. आसव/अरिष्ट	
मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) अमृतारिष्ट	: दशमूल, अमृता, मुस्तक आदि
(ii) मंजिष्ठारिष्ट	: मंजिष्ठा आदि
6. पाक/खण्ड/लेह	
मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: उष्ण जल
(i) हरिद्रा खण्ड	: हरिद्रा, त्रिकटु, एला आदि
(ii) आर्द्रक खण्ड	: पिप्पली, आर्द्रक, तेजपत्र आदि
(iii) निम्बपत्रादि लेह	: निम्बपत्र, आमलकी, घृत आदि

7. घृत	
मात्रा	: 10-20 मि.ली.
अनुपान	: क्षीर, उष्ण जल
(i) महातिक्त घृत	: अतीस, कुटकी, चिरायता आदि
8. प्रलेप/उदवर्त्तन	: बाह्य प्रयोगार्थ
(i) दूर्वादि लेप	: दूर्वा, हरिद्रा
(ii) सैंधवादि योग	: सैंधव, कूठ, घृत-लेपार्थ
(iii) सिद्धार्थादि योग	: सर्प, हरिद्रा, कूठ, चक्रमर्द, सर्पतैल (उदवर्त्तनार्थ)
आदर्श चिकित्सा पत्र	
1. निदान परिवर्जन	
2. जीर्णावस्था (Chronic Stage) में संशोधन यथा वमन-विरेचन कर्म	
3. संशमन चिकित्सा	
प्रातः सायम्	
i शुद्ध स्वर्ण गैरिक	: 250 मि.ग्रा.
सूतशेखर रस	: 125 मि.ग्रा.
अमृता सत्व	: 500 मि.ग्रा.
त्रिकटु चूर्ण	: 1 ग्राम
मधु से	: 1×2 मात्रा
ii कैशोर गुग्गुलु	: 2 वटी × तीन मात्रा
आरोग्यवर्धनी वटी	: 2 वटी × तीन मात्रा
iii भोजनोत्तर	
चन्दनासव	: 20 मि.ली.
समभाग जल से	: 1×2 मात्रा
iv हरिद्रा खण्ड	: 3 ग्राम
दूध से	: 1×2 मात्रा
v रात्रि	
पंचसकार चूर्ण	: 3 ग्राम
कोण्ण जल से	: 1 मात्रा
vi पश्य सेवन	

पथ्यापथ्य

शीत पित्त, उदर्द व कोठ के रोगी को निम्न पथ्यापथ्य आहार-विहार का पालन किया जाना रोगी के लिए लाभप्रद रहता है—

पथ्य

आहार	विहार
पुराण शालि चावल, जांगल मांसरस,	लंघन
मूँग, कारबेलक (करेला), शिगू	अभ्यंग आदि।
(सहजन), दाढ़िय (अनार), मधु,	
सर्षप तैल आदि।	
अपथ्य	
आहार	विहार
इक्षु विकार,	छर्दि वेगावरोध
आनूप मांस रस, नवीन मद्य,	वायु सेवन दिवास्वप्र,
विरुद्ध भोजन, अम्ल रस आदि।	स्नान, आतप सेवन, मैथुन आदि

Latest Developments

URTICARIA

A vasular reaction of the skin characterized by a sudden general eruption of pale wheals or papules, which are associated with severe itching.

Causes—Contact with external irritants such as nettle, physical agents, foods, insect bites, serum sickness, pollens, drugs (aspirin, penicillin), milk, egg, meat, food preservatives etc.

Types

- i. Solar Urticaria v. Urticaria papulosa
- ii. Pressure urticaria vi. Urticaria bullosa
- iii. Cold urticaria vii. Urticaria haemorrhagica etc.
- iv. Urticaria pigmentosa

Diagnosis—By appropriate provocation test.

Management : Principles

- i. Avoidance of causes iv. Corticosteroids drugs
- ii. Symptomatic treatment v. Immune therapy etc.
- iii. Antihistaminic drugs

• • • ₹०५० • •

1. “शालिमुद्र कुलत्थांश् कारबेलमुपोदिकाम् । वेत्रां तसनीरं च पित्तमेघहरणि च ॥
शीतपित्तोदर्दकोठरोः “गां पथ्यमीरितम् । स्नानमातपमम्लं च गुर्वक्रं च विवर्जयेत् ॥”
(यो.र. शीतपित्तादि चि. पथ्यापथ्य/1-2)

अध्याय-61

त्वचा रोगों में रोगाणु जन्य संक्रमण

आचार्य सुश्रुत ने निदान स्थान¹ में स्पष्ट किया है कि प्रसंग (संक्रमित व्यक्ति से मैथुन करना) से, गात्रस्पर्श (संक्रमित व्यक्ति के शरीर स्पर्श) से, निकास से, छहन्देवन से, सह शव्यासन से, वस्त्र-माला-अनुलेपन प्रयोग से संक्रमण एक-दूसरे व्यक्ति में फैलता है। इससे कुष्ठ (skin disorders), ज्वर, रोष, नेत्राभिष्ठद आदि औपसर्विक (infectious) रोग एक-दूसरे व्यक्ति में संक्रमित होते हैं।

संसर्ग

जब प्रत्यक्ष सम्पर्क (direct contact) से कोई आतुर अन्य स्वस्य व्यक्ति को देने का संक्रमण पहुंचाता है तो उसे संसर्ग कहा जाता है।

उपसर्ग

जब अप्रत्यक्ष सम्पर्क या कारणों से (यथा भोजन, पेय पदार्थ, दूषित वायु, उद्क से) कोई आतुर स्वस्य व्यक्ति में रोग उत्पन्न करता है तो उसे उपसर्ग कहते हैं।

संसर्ग-उपसर्ग के कारण (Sources of Infections)

एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में रोग के बीचारुओं के संक्रमण (infections) के निम्न कारण होते हैं—

I प्रत्यक्ष

यथा कुष्ठ, विसर्प, मसूरिका, उपदंश, फिरंग, पूयमेह, ज्वर, नेत्राभिष्ठद, ऊतर्क रोग में प्रत्यक्ष संसर्ग, खांसने, छोकने, बोलने, धूंकने (छीकन) आदि से रोगाणुओं का संवाहन होता है।

II अप्रत्यक्ष

मोतीझरा (Typhoid), विसूचिका (Choera), डिष्टीरिया आदि रोगों में खाद्य-पेय पदार्थों के माध्यम से संक्रमण फैलता है।

III कीट या कृमि द्वारा

मच्छर, मक्खिका, कीट, पिस्तू जुओं आदि के माध्यम से उत्पन्न होने वाले स्त्रेग, मलेरिया, फाइलेरिया आदि रोग इस वर्ग में आते हैं।

1. “प्रसज्ञाद् गात्रसंस्पर्शात्रिः शासात् सहभेजनात् । सहस्यासनन्यविवरणत्वात् उत्पन्नम् ॥”
कुष्ठ ज्वरस्थ रोषक नेत्राभिष्ठद एव च। औपसर्विक रोगाणु संक्रमणि नहरम् ॥”
(त्रु.नि. 5/33-34)

IV भूमि द्वारा

भूत्तात (Tetanus), वातकोथ या गलन रोग (Gangrene) आदि रोग संक्रमित भूमि के माध्यम से एक से दूसरे व्यक्ति में संक्रमित होते हैं।

संसर्ग-उपसर्ग (संक्रमण) का प्रसार (Spread of Infections)

संसर्ग-उपसर्ग (संक्रमण) के प्रसार हेतु निम्न माध्यम विशेष योगदान देते हैं—

- I अन्तर्भूमि द्वारा (By ingestion)
- II अन्तःक्षेपण द्वारा (By injection)
- III वायु द्वारा (By air)
- IV बिन्दुत्खेप द्वारा (Droplet infection)
- V धूलकण द्वारा (By dust particles)

शरीरमें संक्रमण के मार्ग

I पाचन संस्थान (अल्घवह स्नोतस्) द्वारा— यथा विसूचिका (हैजा), अतिसार आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) आदि रोग।

II श्वसन संस्थान (प्राणवह स्नोतस्) द्वारा— यथा— राजयक्षमा, रोहिणी (Diphtheria) मसूरिका, रोमान्तिका, इन्पलूएंजा, कुक्खुर कास (Whooping cough) आदि रोग।

III त्वक् संस्थान द्वारा— यथा मलेरिया, कालाजार, अलर्क, मूषक दंश ज्वर, फाइलेरिया, कुष्ठ आदि रोग।

IV जननेन्द्रिय (शुक्रवह/आर्तववह स्नोतस्) द्वारा— यथा एड्स, फिरंग, उपदंश, पूर्यमेह आदि रोग।

Common Skin Infections**I. Bacterial : Tuberculosis**

Leprosy

Pyodermas (Erysipelas, Folliculitis, Cellulitis, Boil, Impetigo etc.)

II. Viral : Verruca vulgaris

Filiform warts

Genital warts

Molluscum Contagiosum

Herpes zoster

Herpes simplex

III Fungal :**i. Dermatophytes :**

Microsporon
Trichophyton
Epidermophyton

Produce Diseases such as :

ii. Candidiasis :

Ring worm
Tinea infection
Dhobie itch
Vulvo - vaginitis
Oral thrush,
Phimosis,
Chronic Paronychia

iii. Pityriasis vericolor**iv. Mycetoma etc.**

• • • क्रृ. अ. • • •

दशम-खण्ड

चयापचय एवं धातु विकृति जन्य रोग (METABOLIC DISORDERS)

चयापचय जनित एवं धातु विकृतिजन्य व्याधियों का चिकित्सा सूत्र एवं चिकित्सा यथा— प्रमेह (मधुमेह), वातरक्त, धमनी-प्रतिचय, तरल-वैद्युत, अम्ल-क्षार असन्तुलन जन्य विकार

चयापचय परिचय

आयुर्वेदीय चिकित्सा विज्ञान में अग्नि व्यापार (Metabolism) का महत्वपूर्ण स्थान है और अग्नि को प्राण की संज्ञा दी गई है। आयु, बल, वर्ण, स्वास्थ्य, उत्साह, शरीर का उपचय (Anabolism), अपचय (Catabolism), प्रभा, ओज, तेज इन सभी का मूल अग्नि ही है। चयापचय प्रक्रिया (Metabolism) को धातुपाक कहा गया है। शरीर में ग्रहण किए गए चतुर्विध आहार द्रव्यों का जठराग्नि द्वारा पाचन एवं शोषण होने के पश्चात् धातुओं में कोषों (Cells) के द्वारा उपभोग करके अपने-अपने नियत कर्मों का सम्पादन एवं मलों की उत्पत्ति होती है। आयुर्वेद शास्त्र में इस सम्पूर्ण क्रियाशृंखला को धातु पाक कहते हैं^१।

शरीर में ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा हृदय, मस्तिष्क, यकृत, वृक्ष आदि कोषांगों की स्वाभाविक क्रियाएं संदैव अनवरत रूप से चलती रहती हैं। इन क्रियाओं को सम्पादित करने के लिए ऊर्जा (Calory / Energy) की आवश्यकता पड़ती है। यह ऊर्जा दोष-धातु, मलों, विशेषतः शारीरिक धातुओं से उत्पन्न होती है। धातुओं में विशिष्ट रासायनिक (Biochemical) प्रक्रियाएं अनवरत चलती रहती हैं जिनसे ऊर्जा उत्पन्न होती है और इस प्रक्रिया में धातुओं का विनाश होता है। धातु विनाश की प्रक्रिया को अपचय (Catabolism) कहा जाता है।

इस प्रकार शरीर में ऊर्जा को उत्पन्न करने के लिए धातुओं का निरन्तर क्षय (अपचय) होता रहता है, इस धातु क्षय की पूर्ति नियमित रूप से आहार सेवन के द्वारा

1. “आयुर्वेदिक स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा। ओजसेजोऽग्रयः प्राणश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः ॥”
2. “विविधमशिं धातु लीढ़ खादितं । धातुबो हि धात्वाहायः प्रकृतिमनुवर्तन्ते ॥” (च.सू. 28/3)

करते हैं। भुक्त आहार, आहार रस में परिवर्तित होकर उसका जठराग्नि के द्वारा पाचन एवं शोषण सम्पादित होकर सर्वशरीर गत (दोष-धातु-मल-मन आदि) समस्त धातुओं का पोषण करता है। इस शरीर पोषण की प्रक्रिया को उपचय या चय (Anabolism) कहते हैं।

इन उपचय (Anabolism) व अपचय (Catabolism) की प्रक्रियाओं को संयुक्त रूप से धातुपाक या चयापचय प्रक्रिया (Metabolism) कहा जाता है। स्वस्थ मनुष्य के शरीर में जब तक अग्नि व्यापार (जठराग्नि, धात्वाग्नि एवं भूताग्नि का सम प्रमाण) सामान्य रूप से चलता रहता है तब तक चयापचय से संबंधित सभी प्रक्रियाएँ (Metabolic Activities) सुचारू रूप से चलती रहती हैं और मनुष्य पूर्ण रूपेण स्वस्थ रहता है। किन्तु किन्हीं कारणों से अथवा विशिष्ट परिस्थितियों में उपचय (Anabolism) एवं अपचय (Catabolism) की प्रक्रियाओं में विषमता उत्पन्न हो जाती है तब विभिन्न चयापचय विकृति जनित विभिन्न व्याधियां (Metabolic Disorders) शरीर में उत्पन्न हो सकती हैं।

सम्पूर्ण चयापचय प्रक्रिया का ग्रहण ‘काय’ शब्द से होता है और काय चिकित्सा में उन सभी रोगों का अन्तर्भाव हो जाता है जो इस चयापचय प्रक्रिया की विकृति से उत्पन्न होते हैं अथवा जिन रोगों में चयापचय सम्बन्धी विकृति पाई जाती है। चयापचय सम्बन्धी प्रक्रियाओं के सम्यक् कार्य मनुष्य शरीर में करने के लिए ‘कायाग्नि’ को उत्तरदायी माना गया है। भुक्त आहार द्रव्य शारीरिक धातुओं द्वारा ग्राह्य तथा चयापचय प्रक्रिया उपयोगी तभी बनते हैं जबकि जठराग्नि के द्वारा उन्हें पाचन एवं शोषण के योग्य बना दिया जाय।

धातुपाक (चयापचय) भेद

मनुष्य द्वारा भुक्त आहार द्रव्यों का शारीरिक धातुओं द्वारा उपभोग निम्न दो प्रकार से होता है—

- (i) प्रसाद पाक
- (ii) मल पाक

(i) प्रसाद पाक (Anabolism)

आहार का जठराग्नि द्वारा पाक होकर शरीर में नवीन द्रव्यों की उत्पत्ति होती है जैसे— प्रोटीनों (Proteins) के पाकोपरान्त विघटन होकर तिक्क अम्लों (Amino acids) की, स्लेहों (Fats) के पाकोपरान्त विघटन होकर स्लेहाम्ल (Fatty acids) व ग्लिसराल्स (Glycerols) की, कार्बोज (Carbohydrates) का पाकोपरान्त विघटन होकर मधुम (Glucose) की उत्पत्ति होती है। यहाँ जठराग्नि से तात्पर्य विभिन्न किण्व

1. “साभार कायचिकित्सा परिचय प्रो.सी. द्वारकानाथ पृष्ठ 47”

(Enzymes) का लिया जाना उचित होगा जो भुक्त आहार के पाचन में सक्रिय योगदान देते हैं। यह अवस्था मधुर अवस्था पाक को प्रदर्शित करती है। इस प्रक्रिया को उपचय (Anabolism) भी कहा जाता है।

(ii) मल पाक (Catabolism)

पूर्व वर्णित प्रसाद पाक (Anabolism) में उत्पन्न हुये उत्पाद (यथा-तिक्ताम्ल, स्लेहाम्ल एवं मधुम आदि) का अंतिम विघटन होकर शरीरोपयोगी ऊर्जा (Calory) का निर्माण होकर शारीरिक क्रियाओं का संचालित होना ही मल पाक है। यहाँ किष्व (Enzymes) की भूमिका में विभिन्न धातुस्तरीय धात्वग्नि व कोषास्तरीय भूताग्नि को लेना उचित प्रतीत होता है। इसे धातु चयापचय (Tissue metabolism) भी कहा जाता है।

इन सभी प्रकार के पाकों को सम्पन्न कराने के लिए अग्नि की भूमिका में विभिन्न भौतिक-रासायनिक, जैव-भौतिक व जैव-रासायनिक (Physio-chemical, Biophysical and Biochemical) प्रक्रियायें आवश्यक होती हैं। अतः मानव शरीर में अग्नि व्यापार को निम्न दो प्रकार से ग्रहण किया जा सकता है—

- (i) कायाग्नि या जठराग्नि व्यापार (Intestinal & Hepatic Metabolism)
- (ii) धात्वग्नि व भूताग्नि व्यापार (Tissue & Cellular Metabolism)

चयापचय विकृति जनित विकार (Metabolic Disorders)

आयुर्वेद के सिद्धांत 'रोगाः सर्वेऽपि मन्देश्वरो' के आधार पर मनुष्य में सभी रोग मन्दाग्नि अर्थात् चयापचय जन्य (Metabolic) विकृति के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न होते हैं। शरीर की विभिन्न अग्नियों (जठराग्नि, धात्वग्नि एवं भूताग्नि) के क्षय या वृद्ध होने पर शारीरिक चयापचय (धातुप) जन्य प्रक्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है। अग्नि के मन्द होने पर (मन्दाग्नि) आहार के अंतिम उत्पाद (End products) न बनकर विभिन्न मध्यवर्ती उत्पाद (Intermediate products) जैसे प्रोटीन के अपूर्ण पाक से यूरिक एसिड, स्लेह के अपूर्ण पाक से लेविटिक एसिड, कार्बोज के अपूर्ण पाक से कोटोन बॉडीज आदि बनकर आमदोष के रूप में शरीर में विभिन्न रोग उत्पन्न करते हैं, जैसे— वातरक्त, मधुमेह, ग्रहणी, आमवात, स्थौल्य, धमनी प्रतिचय आदि। अग्नि के वृद्ध होने पर (तीक्षणाग्नि) आहार के अंतिम उत्पाद मात्रा में कम बनकर व क्षय को ग्रात होकर भस्मक जैसे रोग को उत्पन्न करते हैं।

Metabolism¹

Metabolism can be defined as the sum of all physical and chemical changes that take place within an organism; all energy and material

transformations that occur within living cells. It includes material changes and energy changes. Metabolism involves two fundamental processes—

- i. Anabolism (Assimilation)
- ii. Catabolism (Disintegration)

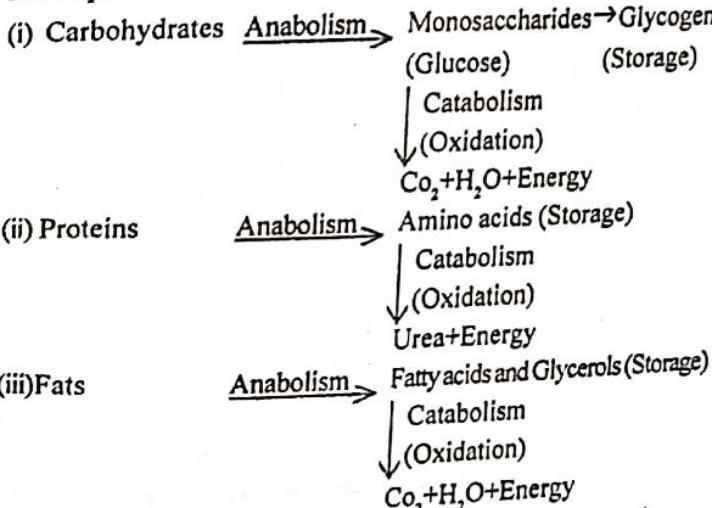
i. Anabolism

Anabolism is defined as the building up of the body's substance; the constructive phase of Metabolism by which a cell takes from the blood the substances required for repair and growth; building it into a cytoplasm; thus converting a non living material into the living cytoplasm of the cell.

ii. Catabolism

The destructive phase of metabolism i.e. the opposite of anabolism is called as catabolism which includes all the processes in which complex substances are converted into simpler ones, usually with the release of energy.

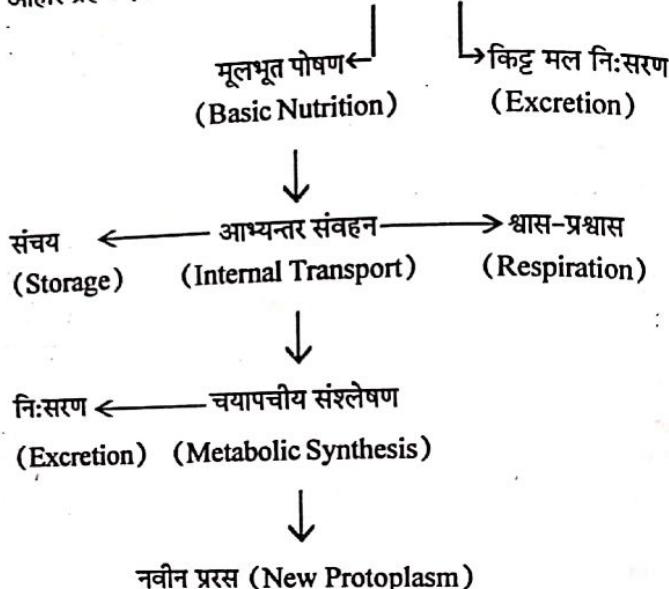
Examples



संक्षेप में सम्पूर्ण चयापचय प्रक्रिया को निम्न चित्र द्वारा समझा जा सकता है—

1. "साभार Taber's Cyclopedic Medical Dictionary"

आहार ग्रहण (Food Ingestion) → पाचन (Digestion)



चिकित्सा सिद्धान्त
चयापचय प्रक्रिया जनित विकारों में निम्न चिकित्सा सूत्रों का प्रयोग कर बांछित लाभ प्राप्त किया जा सकता है—

1. दीपन
2. पाचन
3. आमपाचन
4. स्रोतोशोधन
5. शोधन चिकित्सा
6. धात्वग्निवर्धन आदि

धातु परिचय एवं विकृति जन्य विकार

धातु शब्द की निपत्ति 'दुघात्-धारण्-पोषणयोः' नामक धातु से होती है जिसका अर्थ 'धारण करना' व 'पोषण करना' होता है। आयुर्वेद की प्रधान संहिताओं में 'धातु' शब्द से विशिष्ट अर्थ में 'सप्तधातु' एवं सामान्य अर्थ में जीवन के आधारभूत दोष एवं मलों का ग्रहण किया गया है। विकृति की अवस्था में इन धातुओं में वृद्धि या क्षय होता है। यह वृद्धि या क्षय द्रव्यतः, गुणतः, कर्मतः सावैदैहिक या एकदेशीय होता है। शरीर का पोषण आहार से होता है। सन्तुलित मात्रा में लिये गये आहार का सम्यक पाचन होकर

1. “तं एते शरीरधारणाद् धातव इत्युच्यते॥” (सु.सू. 14/20)
2. “रसासृज्ञांसेमेदोऽस्य मज्जशुक्राणि धातवः। सप्त दूष्याः॥” (अ.ह.सू. 1/13)
3. “विकारे धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते॥” (च.सू. 9/4)

शरीर की विभिन्न धातुओं में साम्यावस्था स्थापित होती है। असन्तुलित मात्रा में लिया गया आहार शारीरिक धातुओं में विषमता (क्षय या वृद्धि) उत्पन्न करता है। व्याधि प्रकरण में अनुमानतः 99% रोगों में प्रायः दोष वृद्धि व धातुक्षय ही मिलता है। अपवाद स्वरूप अतिस्थौल्य, रक्तपित्त, कुष्ठ, प्रमेह आदि रोगों में धातु वृद्धि एवं अग्निमांदा की अवस्था में दोषक्षय की स्थिति देखने को मिलती है। अतः सप्तधातु विकृति जन्य मुख्य व्याधियाँ निम्नानुसार हैं—

सप्त धातुगत विकृति जन्य प्रमुख रोग¹

- | | |
|--------------------|--|
| (i) रस धातुगत | : ज्वर, पाण्डु, क्लैब्य, पलित आदि |
| (ii) रक्त धातुगत | : कुष्ठ, विसर्प, कामला, रक्तपित्त, वातरक्त आदि |
| (iii) मांस धातुगत | : अर्बुद, गलगण्ड, गण्डमाला आदि |
| (iv) मेद धातुगत | : प्रमेह (मधुमेह), अति स्थौल्य, धमनी प्रतिचय आदि |
| (v) अस्थि धातुगत | : अस्थि शूल, सन्धिवात, दन्तशूल आदि |
| (vi) मज्जा धातुगत | : भ्रम, मूर्छा आदि |
| (vii) शुक्र धातुगत | : क्लीबता, अप्रहर्ष (Erectile dysfunction) आदि |

सप्त धातु विकृति जन्य रोगों का चिकित्सा सूत्र²

- | | |
|----------------------|--|
| (i) रस धातुगत | : लंघन |
| (ii) रक्त धातुगत | : विरेचन, उपवास, रक्तमोक्षण एवं रक्तपित्त चिकित्सा |
| (iii) मांस धातुगत | : संशुद्धि (वमन-विरेचन), शस्त्र कर्म, क्षारकर्म, अनिकर्म |
| (iv) मेद धातुगत | : कर्षण, वृहण |
| (v) अस्थि धातुगत | : पंचकर्म, वस्ति, क्षीर-सर्पि, तिक्त रस प्रधान द्रव्य सेवन |
| (vi) मज्जा व शुक्रगत | : मधुर-तिक्त अन्न, मैथुन, व्यायाम, उचित काल में संशोधन |

-
1. “अत्राद् बाधते नरम्॥”
(च.सू. 28/9-19)
 2. “रसज्ञानं विकाराणां काले च मात्रया॥”
(च.सू. 28/25-28)

व अकार्यक्षम होने लगती हैं। इन्हीं उपद्रवों के कारण मधुमेह रोग असाध्य हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व की तुलना में भारतवर्ष में मधुमेह रोगियों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। अनुमान लगाया गया है कि सन् 2025 तक भारत विश्व की 'मधुमेह राजधानी' बन जायेगा।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, सूत्र स्थान-अध्याय 17
2. चरक संहिता, निदान स्थान-अध्याय 4
3. चरक संहिता; चिकित्सा स्थान-अध्याय 6
4. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 6
5. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 11, 12, 13
6. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 10
7. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 12
8. माधव निदान-अध्याय 33

निरुक्ति/व्युत्पत्ति

प्रमेह

प्र+मिहक्षरणे+करणेधञ्ज् “प्र” उपसर्गक मिह क्षरणे अर्थात् क्षरणार्थक “मिह” धातु से “घ” प्रत्यय लगने से प्रमेह शब्द बनता है, जिसका तात्पर्य प्रकर्षण मेहति क्षरति वीर्यादिरनेन इति प्रमेह होता है।

मधुमेह

(I) मधु+मेह=(वैद्यक शब्द सिन्धु) ‘मेहेषु उच्च मधुइव मधुरं मेहति’ अतः पर ततोश्च माधुर्यात् सर्वेऽपि प्रमेह, क्रमथु मेहाख्यां भविन्ति।’

अर्थात् मेहों में जो उच्च है, मधु के समान मधुर मूत्र त्याग करता है वह मधुमेह है।

(II) मधुमेह-मधु+मिह (वाचस्पत्यम्)

मधुन मन उ नस्यः घः ॥

मिह-सेचने भवादि धातु पर से पद अनिद प्रत्यय् अक् प्रत्यय् (मेहति अभिक्षतः) मधुमेह शब्द मधु और मेह इन दो शब्दों से मिलकर बना है।

मधु मन् धातु और उ प्रत्यय से तथा न के स्थान पर घ हो जाने से बनता है। जो निम्न अर्थों में प्रयुक्त होता है— मद्य, क्षीद, पुष्परस, जल, मधुर रस आदि।

आदिकाल से मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ बुद्धिबल से विकसित होता हुआ अपने लिये भौतिक सुख सुविधाओं को एकत्रित करने में प्रयत्नशील रहा है। इसी विकास क्रम में वह प्रकृति व परिश्रम से विमुख होता हुआ दिनचर्या-रात्रिचर्याएँ ऋतुचर्या-स्वास्थ्यचर्या, सदवृत्त व आचार रसायन से दूर होते हुए पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में फास्टफूड, जंकफूड, मिर्च मसालेदार, तले हुए पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करने लगा। सुख-सुविधाओं की चाहत में निरन्तर मानसिक रूप से तनाव ग्रस्त रहने के कारण व गरिष्ठ-विदाही-श्लेष्मल-अतिस्नाध-मधुर आहार द्रव्य सेवन करने के कारण आधुनिक युग में कैंसर, स्थौल्य, हृदय रोग एवं मधुमेह जैसे रोगों से ग्रसित रोगियों की संख्या में निरन्तर तेजी से वृद्धि होती जा रही है। मधुमेह (प्रमेह) मिथ्या आहार-विहार से उत्पन्न विकृत त्रिदोषों के द्वारा होने वाली विशिष्ट लक्षण समूह वाली जटिल व्याधि है। इस रोग में मुख्य रूप से धातुओं की दुष्टि होती है। आचार्यों ने इसकी गणना 'महागद' में की है।

मधुमेह रोग में, रोगी के शरीर में आहार से प्राप्त शर्करा (मधुर द्रव्य) का मधुनिषूदिनी (Insulin) के अभाव या अक्रियाशील होने से समुचित उपयोग नहीं हो पाता है जिससे रक्त में शर्करा का स्तर क्रमशः बढ़ता जाता है तथा वृक्कों की सामर्थ्य (Renal Threshold) से अधिक होने पर मूत्र के साथ शर्करा का बाहर उत्सर्ग होना प्रारम्भ हो जाता है। शरीर की समस्त कोशिकाओं को अपनी सामान्य क्रियाओं के संचालन के लिये व नये कोशिकाओं के निर्माण के लिये सदैव ऊर्जा (Adenosine Tri Phosphate-ATP) और पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है। कोशिकाओं को यह ऊर्जा मुख्यतः शर्करा से ही प्राप्त होती है। किन्तु मधुमेह रोग की अवस्था में जब शर्करा का समुचित उपयोग नहीं हो पाता है तो कोशिकायें उसके अभाव में संचित भण्डारों (Stored-energy) का उपयोग करने लगती हैं। परिणाम स्वरूप शरीर की समस्त कोशिकाओं में विकार उत्पन्न होकर हृदय, वृक्क, नेत्र, मस्तिष्क, स्नायु, रक्त वाहिनी एवं नाड़ियां दुर्बल

परिभाषा

(अ) प्रमेह

प्रकर्षणं प्रभूतं=प्रचुर बारं-बारं वा मेहति-
मूत्र त्याग करोति यस्मिन् रोगे स प्रमेहः। (माधवनिदान)

प्रकर्षण मेहति इति प्रमेह।

अर्थात् अत्यधिक या बार-बार और प्रायः गाँदले मूत्र का त्याग की प्रमेह कहलाता है।

(ब) मधुमेह

जिस रोग में रोगी मधु के समान मूत्र त्याग करता है और शरीर में भी माधुर्य रहता है, उसे मधुमेह कहते हैं। अर्थात् जिस रोग में शहद, के समान गुण व वर्ण का मूत्र अथवा मधुर रस युक्त मूत्र का क्षरण होता है उसे मधुमेह कहते हैं¹।

आचार्य शार्ङ्गधर के अनुसार मधु या क्षीद्र के तुल्य वर्ण का मूत्र त्याग ही मधुमेह है²।

सभी प्रकार के प्रमेह क्रियाकाल (चिकित्सा का अवसर) में चिकित्सा न करने पर मधुमेह में परिवर्तित होकर असाध्यता की की श्रेणी में आ जाते हैं³।

पर्याय

(अ) प्रमेह

- i. मेह
- ii. मूत्र दोष
- iii. बहुमूत्रा
- iv. प्रमीढ़ा

(ब) मधुमेह

- i. क्षौद्रप्रमेह
- ii. ओजोमेह
- iii. मधुमेह

1. “मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो माध्वव मेहति।
सर्वेऽपि मधुमेहाण्डा माधुर्याच्च तनोरतः॥”
(अ.ह.नि. 10/21)
2. “मधुक्षौदं तस्य तुल्यं तद्वर्णं वा मधुमेहः॥” (शा.स. 7/62)
3. “सर्वं एव प्रमेहाण्डु कालेनाप्रतिकुर्वतः।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि॥”

(सु.नि. 6/27)

निदान (हेतु)

मधुमेह (प्रमेह) के निदानों को सुविधा की दृष्टि में निम्नानुसार विभाजित कर सकते हैं—

संतर्पक हेतु		अपतर्पक हेतु	
आहारज	विहारज	आहारज	विहारज
● अतिदधि सेवन	आस्यासुख	कटु-तिक्क	काम-क्रोध-शोक-
● गाम्यौदक आनूप- मांस सेवन	स्वज्ञ सुख	कथाय रस अति	भय-चिन्ता सेवन
● इक्षुविकार अति- सेवन	स्नान त्याग	कर्षण प्रयोग	वमन-विरेचन-
● मेदकफ वर्धक- आहार	व्यायाम त्याग	अनशन	आतप अतिसेवन
● नवीन अन्रथान्य सेवन	दिवास्वप्न	विषमाशन	
● नवपानीयपान	आलस्य		
● मद्यपान			

आचार्य चरक ने सूत्र स्थान अध्याय 17 में वर्णित किया है कि गुरु व स्त्रिय द्रव्य एवं अम्ल व लवण रस का अतिमात्रा में सेवन, नवीन अन्रथान का सेवन, अतिनिद्रा सेवन, अधिक देर तक आराम तलबी करना, बिस्तर पर बैठे रहता, व्यायाम न करना, चिन्ता न करना, यथा समय संशोधन (वमन-विरेचन) न करना आदि इन सभी कारणों से मधुमेह की उत्पत्ति हो सकती है²। अतः मधुमेह के निदानों को निम्न दो विभागों में बांट सकते हैं—

- i. संतर्पक कारण
- ii. अपतर्पक कारण

संतर्पक जन्य हेतुओं के सेवन से उत्पन्न मधुमेह रोगी स्थूल-Non-Insulin Dependent Diabetes mellitus (NIDDM) व अपतर्पण जन्य हेतु सेवन से उत्पन्न

1. i) “आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पर्याप्तिः।
नवान्त्रपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम्॥” (च.चि. 6/4)
ii) “दिवास्वप्नाव्यायामालस्य प्रसक्तंशीतस्त्रिन्दिग्धमधुरमेद्यद्रवणं पानं सेविनं पुरुषं जानीयात्
प्रमेही भविष्यतीति॥” (सु.नि. 6/3)
2. “गुरुस्त्रिन्दिग्धाम्ललवणान्यतिमात्रं समस्नताम्। नवमत्रं च पानं च निद्रामास्या सुखानि च॥
त्यक्तं व्यायामं चिन्तानां संशोधनमकुर्वताम्॥” (च.सू. 17/78-79)

मधुमेह रोगी कृष्ण-Insulin Dependent Diabetes mellitus (IDDM) होता है। मधुमेह (प्रमेह) रोग के निदानों को निम्न तीन वर्गों में बांट सकते हैं¹—

- i. सहज प्रमेह-बीज दोषात् (Hereditary Diabetes)
- ii. कुलज प्रमेह-कुलज प्रवृत्ति (Familial Diabetes)
- iii. अपथ्य निमित्तज (Acquired Diabetes)
 - (क) आहारज (High Caloric Diet)
 - (ख) विहारज (Sedentary Life Style)

सम्प्राप्ति

प्रमेह/मधुमेह रोग की सम्प्राप्ति को सामान्य व विशिष्ट सम्प्राप्ति भेद से दो वर्गों में बांटा गया है—

सामान्य सम्प्राप्ति

- i. सहज प्रमेह—प्रमेह के उत्पादक दोषों से, जीव के उत्पादक बीज (Chromosomes) के दुष्ट हो जाने से मधुमेही माता-पिता की सन्तान में असाध्य स्वरूप के मधुमेह (Congenital/Hereditary) रोग की उत्पत्ति होती है। प्रमेह रोग कुलज रोगों में सबसे प्रबल होता है²। मुधमेही व्यक्ति की सन्तान जन्म से ही मधुमेह ग्रस्त हो यह आवश्यक नहीं होता।
- ii. कफज प्रमेह³—कफ व मेदवर्धक आहार-विहार के सेवन से वस्ति प्रदेश में स्थित कफ शरीर के मेद, मांस तथा क्लेद को दूषित करके दश प्रकार की कफज प्रमेहों को उत्पन्न करता है।
- iii. पित्तज प्रमेह⁴—उष्ण-अस्त-लवण-क्षार-कटु आहार सेवन से प्रकुपित वस्ति प्रदेश में स्थित पित्त मेद, मांस व क्लेद को दूषित करके छह प्रकार के पित्तज प्रमेहों को उत्पन्न करता है।
- iv. वातज प्रमेह⁵—कफ व पित्त के क्षीण होने पर वृद्ध वायु धातुओं (वसा, मज्जा, ओज, लसिका) का कर्षण करके वस्ति में लाकर चार प्रकार के वातिक प्रमेहों को उत्पन्न करता है।

1. “जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्। चापि केचित्कुलजा विकारा भवन्ति ये तास्तान् प्रवदन्त्यसाध्यान्॥” (च.चि. 6/57)
2. “प्रमेहोऽनुपङ्गिणाम्॥” (च.सू. 25/40)
- 3-5. “मेदश मांसं च शरीरजं च क्लेदं कफो वस्तिगतः प्रदूष्य। करोति मेहान् समुदीर्घमुष्टौस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि। क्षीणेषु दोषेष्वकृष्य धातून् सन्दूष्य मेहान् कुरुतेऽनिष्ट।” (च.चि. 6/5-6)

मधुमेह

विशिष्ट सम्प्राप्ति

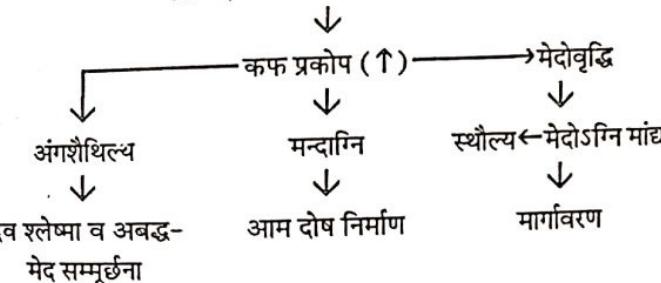
पूर्व वर्णित निदानों के सेवन से शरीर में श्लेष्मा, पित्त एवं मांस की वृद्धि अधिक रूप में हो जाती है। इनके वृद्ध होने से रुकी हुयी वायु कुपित होकर ओज के साथ मूत्राशय में प्रविष्ट होती है तब कष्टकारी मधुमेह रोग की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह मधुमेह वात, पित्त एवं कफ दोष के लक्षणों को बार-बार शरीर में प्रगट करता है एवं मधुमेह वात, पित्त एवं वृद्धि को प्राप्त होता है¹। ओज मधुर स्वभाव वाला होता है उसको जब वार-बार शय एवं वृद्धि को प्राप्त होता है²। ओज मधुर स्वभाव वाला होता है उसको जब प्रकुपित वायु रुक्षता के कारण कथाय रस से मिलकर मूत्राशय में ले जाती है तब मधुमेह नामक रोग को उत्पन्न करती है²।

दोष-दूष्य

मधुमेह रोग में अत्यन्त द्रव कफ दोष विशेष दूष्य है³। 1. अबद्धमेद, 2. मांस, 3. क्लेद (जल), 4. शुक्र, 5. शोणित, 6. वसा, 7. मज्जा, 8. लसिका, 9. रस और 10. ओज, ये मधुमेह रोग के दश दूष्य विशेष हैं। ये सभी दूष्य कफ के समान धर्मी हैं⁴। इन दोष-दूष्यों की विशेषता से बीस प्रकार के प्रमेह रोग उत्पन्न होते हैं।

मधुमेह सम्प्राप्ति चक्र

श्लेष्मा, मेद वर्धक आहार-विहार सेवन



1. “श्लेष्मा पित्तं च मेदश मांसं चातिप्रवर्धते ॥ तैरावृतगतिर्वयुरोज आदाय गच्छति। यदा वस्तिं तदा कुच्छो मधुमेहः प्रवर्तते ॥ स मारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहर्मुहः ॥ दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाय्याय्ये पुनः ॥” (च.सू. 17/79-81)
2. “ओजः पुनर्मधुरस्वभावं तद् यदा रौक्ष्याद्वायुः कपायत्वेनाभिसंसृज्य मूत्राशयेऽभिवहति तदामधुमेहं करोति ॥” (च.नि. 4/37)
3. “बहुद्रवः श्लेष्मादोष विशेषः ॥” (च.नि. 4/6)
4. i) “बहवद्दुः मेदो मांस शरीरजक्लेदः शुक्रं शोणितं वसा। मज्जा लसिका रसश्चैः सेव्यात इति दूष्य विशेषः ॥” (च.नि. 4/7)
 ii) “कफः सपित्तः पवनश्च दोषमेदोऽस्तशुक्राम्बुवसा लसीका। मज्जा रसौजः पिशिं च दूष्याः प्रमेहिणां, विशंतिरेव मेहाः ॥” (च.चि. 6/8)

मेद दुष्टि	↓	मार्गवरण	↓	वात प्रकोप	↓
↓		↓		↓	
मांस दुष्टि		वात प्रकोप		ओजःदुष्टि	
(पिङ्का उत्पत्ति)					
शरीरज क्लेद दुष्टि	↓	ओजःदुष्टि	↓	ओजःक्षरण	↓
↓		↓		↓	
मूत्र मार्ग परिगमन		ओजःक्षरण		मधुमेह रोग	
↓		↓			
बस्ति स्थान संश्रय		मधुमेह रोग			
↓					
प्रभूताविल मूत्रता	↓				
↓					
मधुमेह रोग					
सम्प्राप्ति घटक					
दोष	:	द्रव श्लेष्मा प्रधान त्रिदोष, अपान-व्यान वायु			
दूष्य	:	अबद्ध मेद, मांस, क्लेद, शुक्र, शोणित, वसा, मज्जा लसिका, रस, ओज			
स्रोतस्	:	मूत्रवह स्रोतस्, मेदोवह स्रोतस्			
स्रोतोदुष्टि प्रकार	:	संग, अतिप्रवृत्ति			
संचार	:	रसायनी द्वारा			
अधिष्ठान	:	बस्ति, सर्वशरीर			
उद्भव	:	अन्तः कोष्ठ (आम पक्वाशयोत्थ)			
अग्नि	:	धात्वग्निमांद्य			
आम	:	आम अन्तरस			
व्याधिस्वभाव	:	चिरकारी			
साध्यासाध्यता	:	याप्त/असाध्य			

भेद

विभिन्न गंडिताओं में चार्पित प्रपेह के भेद निम्न प्रकार हैं—

10 काफज प्रपेह भेद

क्र.म. भेद नाम	चरक सं.	सुश्रुत सं.	अष्टांग हृदय	माधव निदान
1. ठदकमेह	+	+	+	+
2. इशुवालिका रमेह	+	-	-	-
3. इशुवालिकामेह	-	+	-	-
4. इशुमेह	-	-	+	+
5. सान्द्रमेह	+	+	+	+
6. गान्द्रप्रसादमेह	+	-	-	-
7. सुरामेह	-	+	+	+
8. शुक्लमेह	+	-	-	-
9. पिण्डमेह	-	+	+	+
10. शुक्रमेह	+	+	+	+
11. शीतमेह	+	-	+	+
12. सिकतामेह	+	+	+	+
13. शनैर्मेह	+	+	+	+
14. आलालमेह	+	-	-	-
15. लालामेह	-	-	+	+
16. लवणमेह	-	+	-	-
17. फेनमेह	-	+	-	-

नोट—ठपर्युक्त तालिका में '+' चिन्ह उपस्थिति व '-' चिन्ह अनुपस्थिति को दर्शाता है।

6 पित्तज प्रपेह भेद

क्र.म. भेद नाम	चरक सं.	सुश्रुत सं.	अष्टांग हृदय	माधव निदान
1. क्षारमेह	+	+	+	+
2. कालमेह	+	-	+	+
3. नीलमेह	+	+	+	+
4. लोहितमेह	+	-	-	-

5.	शोणितमेह	-	+	-	-
6.	रक्तमेह	+	-	+	+
7.	माज्जिष्ठमेह	+	+	+	+
8.	हारिद्रमेह	+	+	+	+
9.	अम्लमेह	-	+	-	-

४ वातज प्रमेह भेद

क्र.म. भेद नाम	चरक सं.	सुश्रुत सं.	अष्टांग हृदय	माधव निदान
1. वसामेह	+	+	+	+
2. मज्जामेह	+	-	+	+
3. सपिमेह	-	+	-	-
4. हस्तिमेह	+	+	+	+
5. मधुमेह	+	-	+	+
6. क्षोद्रमेह	-	+	-	-

विभिन्न कफज मेहों के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

१. उदक मेह (Diabetes Insipidus)—उदक मेह में स्वच्छ, मात्राधिक, सफेद, शीतल, गंधरहित, जल के समान एवं कुछ गंदला-पिच्छिल मूत्र त्याग होता है।
 २. इक्षुबालिकारस मेह (Alimentary Glycosuria)—कफ प्रकोप के कारण रोगी मधुर, शीत, चिपचिपा, गन्दा एवं गत्रे के रस की तरह मूत्र त्याग करता है। इसे ही इक्षुबालिका मेह या इक्षुमेह कहा गया है।
 ३. सान्द्र मेह (Phosphaturia)—कफ प्रकोप के कारण पात्र में रखा हुआ बासी मूत्र गाढ़ा हो जाता है।
 ४. सान्द्रप्रसाद मेह (Phosphaturia)—जिस प्रमेह में मूत्र के नीचे का भाग गाढ़ा हो एवं ऊपर का भाग स्वच्छ हो।
 ५. शुक्ल मेह (Chyluria)—चावल के आटे के वर्ण का बार-बार मूत्र त्याग होना।
 ६. शुक्र मेह (Spermaturia)—शुक्र की तरह या शुक्र मिला हुआ बार-बार मूत्र त्याग होना।
 ७. शीत मेह (Polyurea with Glycosuria)—अति मधुर व शीतल मूत्र का बार-बार त्याग।

मधुमेह

8. सिकता मेह (Crystalluria or Gravelluria)—मूत्र में वालु के छोटे-छोटे कण (Gravel or Crystal) आना।
 9. शनैर्मेह (Frequency)—मन्द-मन्द, वेगावहित, कठिनता से मूत्र त्वाग होना।
 10. लालामह (Albuminuria)—लार के समान तनु की तरह बँधे हुये तार से यकृत चिपचिपा मूत्र त्वाग होना।

विभिन्न पित्तज मेहों के लक्षण निम्नानुसार हैं—

1. क्षार मेह (Alkaline Urine)—इसमें क्षार के जल के समान मूत्र त्याग होता है।
 2. काल मेह (Blackish/Haematuria)—काले रंग का मूत्र त्याग होता है।
 3. नील मेह (Bluish/Indicouria)—नीले रंग का मूत्र त्याग होता है।
 4. लोहित/रक्तमेह/शोणित मेह (Frank Haematuria)—रक्त मिल हुआ या रक्त के समान मूत्र त्याग होता है।
 5. हारिद्र मेह (Biliuria)—हल्दी के समान पीला मूत्र त्याग होता है।
 6. माञ्जिष्ठ मेह (Haemoglobinuria/Haematuria)—इसमें रोगी मंजीठ के वर्ण (रक्त वर्ण) के समान मत्र त्याग करता है।

विभिन्न वातज मेहों के लक्षण निम्नानुसार हैं—

1. वसा मेह (Chyluria/Lipiduria)—वसा कण मिला हुआ या वसा की तरह बार-बार मूत्र त्याग।
 2. मज्जा मेह (Pyuria/Chyluria)—मूत्र के साथ मज्जा का बार-बार त्याग।
 3. हस्ति मेह (Polyuria with Incontinence)—मतवाले हाथी की तरह अधिक मूत्र का बार-बार त्याग।
 4. मधुमेह/क्षौद्र मेह (Diabetic Glycosuria)—कषाय, मधुर, पाण्डुर्वर्णी व रुक्ष मूत्र का बार-बार त्याग होना। इसे ओजोमेह भी कहा गया है।

उपर्युक्त सभी प्रकार के प्रमेह यथा समय उचित चिकित्सा न करने पर अन्त में मधुमेह में परिवर्तित हो सकते हैं।

प्रमेह रोग के अन्य भेद

विभिन्न आचार्यों ने निम्न नामकरण से प्राह रोग के अनेक भेद किए हैं जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—

आचार्य सश्रद्धा : । सहज पमेह

॥ अपश्य निमित्तज प्रमेह

(Hereditary Diabetes) (Acquired Diabetes)

1. "दौ प्रमेहो भवतः-सहजोऽपथ्यनिमित्तश्च ॥" (स.चि. 11/3)

आचार्य चरक :	I. स्थूल प्रमेही (Obese Diabetic)	II. कृश प्रमेही (Lean Diabetic)
आचार्य वामभट्ट :	I. धातुक्षय जन्य प्रमेह	II. दोषावृत जन्य प्रमेह
आचार्य भेल :	I. प्रकृतिज प्रमेह	II. स्वकृत प्रमेह
अन्य :	कलज प्रमेह (Familial Diabetes)	

पर्वसूप

मधुमेह की पूर्वरूपावस्था (Pre-Clinical-Stage) में निम्न पूर्व लक्षण (Prodromal Sign/Symptoms) पाये जा सकते हैं—

- i. केशों का जटिल होना
 - ii. मुख माधुर्य (मुख में मधुरता)
 - iii. हस्त व पाद में दाह-सुस्रता
 - iv. मुख-तालु-कण्ठ शोष
 - v. पिपासाधिक्य (प्यास ज्यादा लगना)
 - vi. आलस्य
 - vii. नेत्र-कर्ण-दन्त मल अधिकता (आँख, कान व दाँत में मल अधिकता)
 - viii. केशनखाति वृद्धि (बाल व नाखून का तेजी से बढ़ना)
 - ix. सर्वाङ्गशून्यता (समस्त शरीर में सुन्नता)
 - x. ऊर्मि विस्मग-श्वर्तु (शरीर में मट्टी आना)
 - xi. पट्टा विलक्षण शरीरमय (विलक्षण विलक्षण पर छह पर वाले चीटियों वा लगाना)
 - xii. मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश (मूत्र पर चीटों का लगाना)

- i) "त्रयस्तु खलु दोपाः । सर्वकालमिति ॥" (च.नि. 4/47)
 - "स्वेदोऽङ्गगन्थः शिथिलाङ्गता च शव्यासनस्वप्नसुखे रतिश्च ।
हृत्रेत्रजिह्वा श्रवणोपदेहो घनाङ्गता केशनखाति वृद्धिः ॥
शीतप्रियतं गलतालुशोपो भास्यतास्ये करपाददाहः ।
भविष्यतो मेहगदस्य रूपं मूत्रेऽधिभावन्ति पिपीलिकाश्च ॥" (च.वि. 6/13-14)
 - "तेषां तु पूर्वरूपाणि-हस्तपादतलदाहः स्निग्धपिच्छिलागुरुता ग्राताणां मधुरशुक्लमूरुता तद्रा
सादः पिपासा तुर्गच्छ श्वासस्तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिर्जटिलीभावः केशानां वृद्धिश्च
नखानाम् ॥" (सु.नि. 6/5)
 - "दन्तादीनां मलाद्यत्वं प्रागूपं पाणिपादयोः । दाहचिक्कणता देहे शृदत्यवाहात्यं च जायते ॥"
(माधव निदान 33/5)

मधुमेह

- xiii. शीत प्रियत्व (शीत व ठण्डे पदार्थ का अच्छा लगना)
 - xiv. शिथिलाङ्गता (अंगों में ढीलापन)
 - xv. शव्यासनस्वर्जनसुखरतिश्च (बैठने वे सोने में अच्छा लगना)
 - xvi. घनाङ्गता (अंगों का घना होना)
 - xvii. देह चिक्कणता (शरीर में चिक्कनापन होना)

रूप

विभिन्न संहिताओं में मधुमेह (प्रमेह) रोग के निम्न लक्षणों का वर्णन प्राप्त होता है। अतः मधुमेह रोग में पूर्वोक्त वर्णित पूर्वरूपों के साथ-साथ निम्न रूप (लक्षण) भी उत्पन्न हो सकते हैं¹—

- i. प्रभूत मूत्रता (Polyuria)
 - ii. आविल मूत्रता (Turbid Urine)
 - iii. शरीर गैरवता (Heaviness in Body)
 - iv. विबन्ध (Constipation)
 - v. शरीर जाइधता (Stiffness in Body)
 - vi. अकस्मात् मूत्र निर्गम (Bed Wetting in Children)
 - vii. कषाय-मधुर-रुक्ष मूत्र
 - viii. पाण्डुर्वर्ण मूत्र (Yellowish White Urine)
 - ix. श्वेत घन मूत्र (White Urine)
 - x. मख माधर्य व शरीर माधर्य (Sweetness in Mouth & Body)

इसके अतिरिक्त निम्न लक्षण भी मधुमेह रोगी में मिल सकते हैं—

- i. मूत्रबारम्बारता
 - ii. तृष्णाधिक्य
 - iii. क्षुधाधिक्य
 - iv. दौर्बल्य

1. i) "सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलम्भताः ॥" (अ.ह.नि. 10/7)
 ii) "कथायमधुर पाण्डु रूक्षं मेहति यो नरः । वातकोपादसाध्यं तं प्रतीयान्मधुमेहिनम् ॥"
 (च.नि. 4/44)
 iii) "क्षौद्रसर्वण क्षौद्रमेही ॥" (सु.नि. 6/12)
 iv) "गौरवं बद्धता जाद्यमकस्मान्मूलनिर्णामः । प्रमेहे मक्षिकाक्रान्तं मूत्रं क्षेत्रं घनं तथा ॥"
 (का.स.सू. 25/16)

- v. आलस्य
- vi. थकावट
- vii. चिरकालीन ब्रण रोपण
- viii. बार-बार संक्रमण
- ix. स्वेदाधिक्य
- x. भारक्षय
- xi. कण्डु (गुसाङ्गों में)
- xii. भ्रम आदि

आचार्य सुश्रूत ने सहज तथा अपथ्य निमित्तज प्रमेह के निम्न लक्षण वर्णित किए हैं।

I सहज प्रमेह (Hereditary Diabetes) - माता-पिता के बीज दोष से उत्पन्न प्रमेह में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं-

- i. कृशता (Lean & thin built)
- ii. रुक्षता (Dryness in body)
- iii. अल्पाशी-थोड़ा खाने वाला (Less appetite)
- iv. पिपासायुक्त (Polydypisa)
- v. परिसरणशूल-धूमने-फिरने वाला (wants to roam around)

II अपथ्य निमित्तज प्रमेह (Acquired Diabetes) - अहित आहारजन्य प्रमेह में निम्न लक्षण प्राप्त हो सकते हैं-

- i. स्थूलता (Obesity)
- ii. बहाशी-बहुत से खाने वाला (Increased Appetite)
- iii. स्तिंग्ध शरीर (Unctuous Body)
- iv. शाय्यासन (Sedentary Habits)
- v. स्वप्नशील (Excess Sleep)

आचार्य सुश्रूत ने वर्णित किया है कि मधुमेही रोगी चैदल चलने की अपेक्षा छड़ा रहना, खड़े रहने की अपेक्षा बैठ जाना, बैठने की अपेक्षा लेटना एवं लेट जाने की अपेक्षा निद्रा लेना पसन्द करता है²।

1. “द्वौ प्रमेहौ भवतः-सह जो इपथ्यनिमित्तश्च। तत्र सह जो मातृपितृ बीजदोषक तः, अहिताहारजोऽपथ्यनिमित्तः। ततोः पूर्वोपद्रुतः कृशो रुक्षोऽल्पाशीपिपासुभूर्शः परिसरणशीलश्च भवति, उत्तरेण-स्थूलो बहाशी स्तिंग्धः शाय्यासनस्वप्नशीलः प्रायेणेति ॥” (सु.चि. 11/3)
(सु.नि. 6/25)
2. “स चापि गमनात् स्थानं स्थानादासन मिच्छति। आसाद् वृणेत् शय्यां शयनात् स्वप्नमिच्छति ॥”

सापेक्ष निदान

मधुमेह रोग में मूत्र माधुर्य एवं शरीर माधुर्य भी रहता है। इसका विभेदक निदान इक्षुवालिका रसमेह तथा शीतमेह से करना चाहिए जिनमें केवल मूत्र माधुर्य रहता है। अतः इन तीनों के विभेदक लक्षण निम्न प्रकार हैं—

मधुमेह	इक्षुवालिका रसमेह	शीतमेह
1. वातज प्रमेह भेद	कफज प्रमेह भेद	कफज प्रमेह भेद
2. रोगी कृश या स्थूल	रोगी स्थूल	रोगी प्रायः स्थूल
3. ओजःक्षय के लक्षण मिलते हैं	ओजक्षय नहीं	ओजक्षय नहीं
4. याप्य या असाध्य	साध्य	साध्य
5. मूत्र आविल	मूत्र आविल	मूत्र आविलता नहीं
6. शरीर माधुर्य	नहीं	नहीं
7. मूत्र किंचित् उण्णा	मूत्र किंचित् उण्णा	मूत्र शीत
8. चिरकारी	आशकारी	आशुकारी

प्रयोगशालीय एवं रोग-रोगी परीक्षा

आयुर्वेद साहित्य में मूत्र परीक्षा पर विशिष्ट वर्णन शास्त्रों द्वारा स्मृहिता; वृस्तोवराज्ञीम् एवं योगरत्नाकर ग्रंथों में मिलता है। मूत्र की भौतिक परीक्षा निम्न दृश्य विन्दुओं के अधार पर की जाती है—

- (i) धार परीक्षा
- (ii) वेग परीक्षा
- (iii) फेन परीक्षा
- (iv) मात्रा परीक्षा
- (v) वर्ण परीक्षा
- (vi) गन्ध परीक्षा
- (vii) रस परीक्षा
- (viii) स्पर्श परीक्षा
- (ix) वैशद्य व गुरुत्व परीक्षा
- (x) तैलविन्दू परीक्षा

रक्त शर्करा वृद्धि

(i) माधुर्याच्चतनोरतः । (अ.ह.नि. 10/21)

जब शरीर मधुर भक्ष्य-भोज्यों की प्रधानता के कारण मधुर हो जाता है तो यह रक्त गत शर्करा वृद्धि का द्योतक है।

(ii) घटपद पिपीलिकाभिष्ठ शरीराभिसरणम् । (च.नि. 4/47)

शरीर पर मविख्यों व चीटियों का बैठना रक्तशर्करा वृद्धि को प्रदर्शित करता है।

मूत्र शर्करा उपस्थिति

(i) क्षौद्रसर्वण क्षौद्रमेही । (सु.नि. 6/12)

मधु के समान रस एवं वर्ण युक्त मूत्र त्याग मूत्रगत शर्करा का द्योतक है।

(ii) मूत्रेऽधिगावन्ति पिपीलिकाश ॥ (च.चि. 6/14)

मूत्र पर चीटियों का लगना मूत्रगत शर्करा का द्योतक है।

अन्य मूत्र परीक्षा

(i) भौतिक परीक्षा

(i) रासायनिक परीक्षा-शर्करा, एल्युमिन, कीटोन

रक्त विशिष्ट परीक्षा

(i) निरन्तर शर्करा (Fasting blood sugar)

(ii) सान्न शर्करा (Post prandial blood sugar)

(iii) आकस्मिक शर्करा (Random blood sugar)

Criteria for Diagnosis of Diabetes mellitus

Blood Sugar	Normal Range	Diabetes
i. Fasting Glucose	<110 mg/dl	126 mg/dl
ii. Post Prandial Glucose	<140 mg/dl	200mg/dl
iii. Random Glucose		200 mg/dl with symptoms

प्रमेह मुक्ति लक्षणः

प्रमेही का मूत्र जब पिच्छिलता रहित, गंदलेपन से रहित, विशद (रुक्ष), तिक्क एवं कटु रस प्रेधान हो तब मधुमेही को मधुमेह रोग से मुक्त समझना चाहिए।

1. "प्रमेहिणो यदा मूत्रमपिच्छिलमनाविलम् । विशदं तिक्कटुकं तदाऽरोग्यं प्रचक्षते ॥" (सु.चि. 12/20)

मधुमेह**साध्या साध्यता****कफज्ञ प्रमेह की साध्यता¹**

समान गुणवाले मेद के आश्रय होने से, कफ की प्रधानता में तथा दोष-दृष्ट्यों की समान चिकित्सा वाला होने से दस कफज्ञ प्रमेह साध्य होते हैं। दोष एवं दृष्ट्यों की चिकित्सा के लिए कटु, तिक्क व क्याय रस वाले द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। इसमें समान गुण धर्मी दोष एवं दृष्ट्य दोनों समान होते हैं। यद्यपि समानगुण धर्मी दोष एवं दृष्ट्य के होने पर रोग कुच्छुसाध्य होता है लेकिन रोग के प्रभाव से प्रमेह मुख साध्य होता है² (समक्रियत्वात्)।

पित्तज प्रमेह की याप्तता³

पित्तज प्रमेह में कफ व पित्त संसृष्ट दोषों का आश्रय मेद धातु होता है और यह विरुद्धोपक्रम होने से याप्त होते हैं। दोष व दृष्ट्य में से एक की चिकित्सा दूसरे के विरुद्ध पड़ती है। यदि पित्त के विरुद्ध मधुर व शीत द्रव्यों से चिकित्सा की जाय तो प्रमेह के मुख्य उपादान कफ दोष के वृद्ध होने से रोग वृद्ध हो जाती है। इसके विपरीत यदि कफनाशक द्रव्यों से चिकित्सा की जाय तो प्रमेह के उत्पादक हेतु पित्त की वृद्धि होने से प्रमेह यथा रूप रहता है। इस प्रकार पित्तज प्रमेह विषम क्रिया होने से याप्त होते हैं (विषमक्रियत्वात्)।

वातज प्रमेह की असाध्यता

दोष व दृष्ट्य की विरुद्ध चिकित्सा होने से वातज प्रमेह असाध्य होते हैं। वातज प्रमेह में धातु हास जितनी तीव्रता से होता है उसकी क्षतिपूर्ति के लिए उतनी शीघ्र प्रभावकारी द्रव्यों का अभाव है। वातनाशक जो स्निग्ध द्रव्य हैं वे मेदवर्धक होते हैं एवं जो मेदनाशक रुक्ष द्रव्य हैं वे वातवर्धक होते हैं। अतः चिकित्सा में वातज प्रमेह विषमक्रिय होने से असाध्य है⁴ (महात्ययत्वात्)।

पित्त या कफ वृद्ध होने पर वृद्धतर वायु से जो वातज प्रमेह उत्पन्न होता है उसकी चिकित्सा शास्त्रों में निर्दिष्ट है किन्तु धातुओं के अत्यन्त क्षीण हो जाने पर वृद्ध वायु से जो वातज प्रमेह उत्पन्न होता है वे प्रमेह असाध्य हैं⁵।

1. "ते दश प्रमेहाः साध्याः समानगुण भेदः स्थानकत्वात् कफस्य प्राधान्यात् समक्रियत्वात् च ॥" (च.नि. 4/11)

2. "ज्वरेतुल्यतुदोपत्वं प्रमेहे तुल्यदृष्ट्यता । रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥" (अ.स.सू. 7/246)

3. "सर्व एव ते याप्ताः, संसृष्टोपमेदः स्थानकत्वा-द्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति ॥" (च.नि. 4/27)

4. "इमाध्यतुरः प्रमेहान् वातजानसाध्यानाचक्षतेभिप्रजः । महात्ययिक त्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति ॥" (च.नि. 4/38)

5. "या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोत्त्वणां विहितावायुर्हि मेदेष्विकर्शितानां कुर्यात्यसाध्यान् क्रिया सा प्रतिनासित चिन्ता ॥" (च.चि. 6/52)

प्रमेह पिड़िकाओं से पीड़ित एवं उपद्रवों से युक्त मधुमेही भी असाध्य होता है। जातः प्रमेही या कुलज प्रमेही भी असाध्य होता है¹।

आचार्य चरक ने निर्दिष्ट किया है कि गुल्म, मधुमेह व राजयक्षमा रोग से पीड़ित रोगी बल व मांस के क्षीण होने पर अचिकित्स्य (असाध्य) होते हैं²।

आचार्य वाग्भट के मतानुसार तृष्णा, दाह, पिड़िका, मांसकोथ (Gangrene) व अतिसार से पीड़ित प्रमेही अरिष्ट के कारण मृत्यु को प्राप्त हो सकता है³।

उपद्रव

प्रमेह (मधुमेह)⁴ रोग की समुचित चिकित्सा न करने पर एवं रोगी द्वारा अपश्य सेवन करने की स्थिति में निम्न उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं—

- (i) तृष्णा
- (ii) अतिसार
- (iii) दाह
- (iv) दौर्बल्य
- (v) अरोचक
- (vi) अविपाक
- (vii) पूतिमांस
- (viii) पिड़िका
- (ix) अलजी
- (x) विद्रधि
- (xi) अनिद्रा
- (xii) आलस्य
- (xiii) उदावर्त
- (xiv) कण्डू
- (xv) छर्दि

1. “पिडिकारीपीडितं गाढभुप सृष्टमुपद्रवैः। मधुमेहनमाचेऽस चासाध्यः प्रकीर्तिः॥”
(सु.नि. 6/24)
2. “गुल्मी च मधुमेही च राजयक्षमी च यो नरः। अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसक्षये सति॥”
(च.इ. 9/8-9)
3. “मेहस्तृदाहपिटिकामांसकोथातिसारिणम्॥” (अ.ह.शा. 5/85)
4. i) “उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां तृष्णातीसारदाहदौर्बल्यारोचकविपाकाः पूतिमांसपिडिकालजीविद्रध्यादयश्च तत्प्रसङ्गाद्वन्ति॥” (च.नि. 4/48)

ii) “मक्षिकोपसर्पणमालस्य।..... सोपद्रवा व्याख्याताः॥”
(सु.नि. 6/13)

- (xvi) प्रतिश्याय
- (xvii) मक्षिकोपसर्पण
- (xviii) बद्ध पुरीप।

प्रमेह पीड़िका

सभी आचार्यों ने मधुमेह रोग चिकित्सा में उपेक्षा करने से शरीर में पिड़िका की उत्पत्ति होना स्वीकार किया है। ये पिड़िकायें मांसल प्रदेशों, मर्मस्थानों तथा सन्धियों में विशेष रूप से उत्पन्न होती हैं तथा ये कष्टदायक होती हैं। विभिन्न आचार्यों के अनुसार प्रमेह पिड़िका निम्न हैं—

क्र.सं.	पिड़िका नाम	चरक सं	सुश्रुत सं	अ.ह. अधिकारी निदान	माधव वद्धसेन	भेल सं.
1.	शराविका	+	+	+	+	+
2.	कच्छपिका	+	+	+	+	—
3.	जालिनी	+	+	+	+	+
4.	सर्षपी	+	+	+	+	+
5.	अलजी	+	+	+	+	+
6.	विनता	—	+	+	+	—
7.	विद्रधि	+	+	+	+	+
8.	मसूरिका	—	+	+	+	—
9.	पुत्रिणी	—	+	+	+	+
10.	विदारिका	—	+	+	+	+
11.	कूर्मिका	—	—	—	—	+
12.	कुलत्थिका	—	—	—	—	+

नोट—उपर्युक्त तालिका में '+' चिन्ह उपस्थिति एवं '-' चिन्ह अनुपस्थिति को दर्शाता है।

विभिन्न पीड़िकाओं के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. शराविका लक्षण—जिस पिड़िका का आकार शरण (Bowl) के आकार का हो।
 - i) “उपेक्षाऽस्य जायते पिडिकाः। सप्त दारुणाः। मांसलेखकाशेषु मर्मस्वपि च संधिषु॥”
शराविका कच्छपिका जालिनी सर्षपी तथा। अलजी विनताख्या च विद्रधि चेति सत्तमो॥”
(च.सं. 17/82-83)
 - ii) “शरणमात्रा तदूपा।..... विद्रधिका युतैः॥”
(सु.नि. 6/15-19)

2. कच्छपिका लक्षण—जो पिड़िका कहूवे की पीठ के आकार की हो।
 3. जालिनी लक्षण—जिस पिड़िका के चारों तरफ सिराओं का जाल हो एवं जिसमें होटे-होटे अनेक छिद्र दिखाई पड़े।
 4. सर्वपीलक्षण—जिस पिड़िका के चारों तरफ सरतों के समान कान्ति हो।
 5. अलजी लक्षण—जो पिड़िका अग्नि के समान दुख देती हो।
 6. विनता लक्षण—पृष्ठ या उदर पर होने वाली नील वर्ण की पिड़िका विनता कहलाती है।
 7. विद्रधि लक्षण—बाय व आभ्यन्तर भेद से जो विद्रधि के लक्षणों से युक्त होती है।
 8. मसूरिका लक्षण—मसूर के समान आकार वाली पिड़िका है।
 9. पुत्रिणी लक्षण—यह पिड़िका स्थूल एवं छोटी-छोटी पिड़िकाओं से व्याप्त रहती है।
 10. विदारिका लक्षण—विदारिकन्द के समान गोल व कठिन होती है।
 11. कूर्मिका लक्षण—यह कच्छपिका के समान लक्षण वाली होती है।
 12. कुलत्थिका लक्षण—कुलत्थ या कुलथी के समान वाती पिड़िका।
- आचार्य सुश्रुत ने वर्णन किया है कि कुष्ठी, दूषीविष पीड़ित, शोषी व मधुमेही के व्रण कठिनाई से ठीक होते हैं।

चिकित्सा^१

प्रमेह पीड़िका की चिकित्सा में रक्तमोक्षण व व्रणवत उपचार (संशोधन, रोपण) करने का विधान है।

आधुनिक मतानुसार मधुमेह रोग के प्रमुख उपद्रव (Complications of Diabetes Mellitus)

मधुमेह रोग एक जटिल व्याधि है। अचिकित्स्य होने पर मधुमेह रोग शरीर के सभी अवयवों में विभिन्न उपद्रव पैदा कर सकता है जिनमें से अधिकांश गम्भीर हो सकते हैं। मधुमेह के कुछ प्रमुख उपद्रव यहां पर वर्णित किए जा रहे हैं—

- (I) Acute & Subacute Complications of Diabetes Mellitus
 - (a) Metabolic
 - Ketoacidosis, Coma
 - Hyper Osmolar non Ketonic-coma
 - Lactic acidosis

1. “कुष्ठिना विषजुटानां शोषिणां मधुमेहिनाम्। ब्राणः कृच्छ्रेण सिद्ध्यन्ति येषां चापि व्रणाः॥”
(सु.स. 23/7)
2. “प्रमेहिणां याः पिड़िका भयोका रोगाधिकारे पृथगेव संस।
ताः शल्यविद्धिः कुशलैषिकित्सायाः शस्त्रेण संशोधन रोपणैश्च॥” (च.चि. 6/58)

(b) Infection

Bacterial/Fungal infection of skin, mucosa, UTI, Lungs etc

(c) Hypoglycaemia

(II) Chromic Complications of Diabetes Mellitus

(a) Neuropathy

- (i) Somatic-Poly & Mononeuropathy
- (ii) Visceral-Cardiovascular, Genitourinary etc.

(b) Micro Vascular Complications

- (i) Retinopathy (Blindness)
- (ii) Nephropathy (ESRF)

(c) Macro Vascular Complications

- (i) Coronary artery disease
- (ii) Angina (Silent) & M.I.
- (iii) Peripheral Vascular disease
- (iv) Atherosclerosis

(III) Miscellaneous Complications of Diabetes Mellitus

(a) Cardiomyopathy

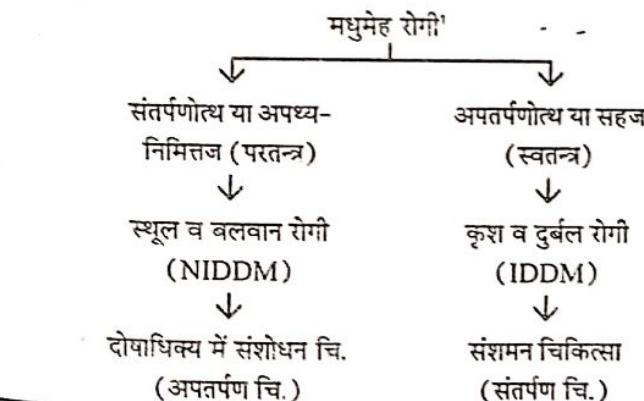
(b) Erectile Dysfunction (Impotency)

(c) Collagen disturbances.

मधुमेह रोग चिकित्सा सूत्र

मधुमेह रोग की चिकित्सा से पूर्व रोग एवं रोगी की पूर्ण परीक्षा करनी चाहिये।

मधुमेह रोगी निम्न दो प्रकार का होता है—



1. “स्थूलः प्रमेही बलवानिहैकः कृशस्तथैकः परिदुर्बलता। संवृहणं तत्र कृशस्य कार्यं संशोधनं दोषबलाधिकस्य॥” (च.चि. 6/15)

(1) संशोधन चिकित्सा

स्थूल व बलवान् (दोष बलाधिक) मधुमेही में सर्वप्रथम संशोधन करवाना चाहिये। पूर्वकर्म के रूप में स्नेहन करते हैं—

(अ) स्नेहन—मधुमेही को मध्यम मात्रा में 3 से 5 दिन तक त्रिफला घृत, पिण्डी घृत द्वारा आध्यात्मिक स्नेहन कराना चाहिये। कुष्ठी, शोथी व प्रमेही में गुड़, दधि, दूध, तिल, ग्रास्य, आनूप व जलीय जीवों का मांस स्नेहन हेतु प्रयोग न करें। मधुमेह रोगी में स्नेहन कर्म निषिद्ध है।

(ब) संशोधन—कफज प्रमेह में 'वमन' एवं पित्तज प्रमेह में 'विरेचन' कर्म करना चाहिये। यह वमन-विरेचन तीक्ष्ण प्रकार का होना चाहिये। इसके लिये तुवरक तैल, प्रियंगु आदि गण से सिद्ध घृत या तैल का प्रयोग करना चाहिये। विरेचन के पश्चात् सुरसादि गण कपाय के साथ शुण्ठी, देवदारु, मुस्तक चूर्ण, मधु व सैंधव मिश्रित आस्थापन बस्ति दें। संशोधन पश्चात् रोगी का अग्नि बल देखकर संतर्पक अन्न-पान का प्रयोग करना चाहिये^१। संशोधन (वमन-विरेचन) पश्चात् यदि अपतर्पण का प्रयोग किया जाता है तो वृद्ध वायु गुल्म, धातुक्षय, लिङ्ग नस्ति वेदना एवं मूत्रग्रह उत्पन्न कर देती है। मधुमेह रोग में अनुवासन (वृंहण) बस्ति निषिद्ध है^२। इस प्रकार संशोधन से दोष बलाधिक्य मधुमेही के वृद्ध दोष शरीर से बाहर निकलकर रोग को शान्त करते हैं।

(स) मधुमेह नाशक बस्तियां

- पञ्चतिक्त पंचप्रासृतनिरुह बस्ति (च.सि. 8/8)
- प्रमेहे तु कपायः सोमवल्कजः ॥ (च.सि. 10/43)
- मुस्तादि यापना बस्ति (च.सि. 12/15-16)
- प्रमेहहर आस्थापन बस्ति (सु.चि. 38/76)
- माधुतैलिक बस्ति (अ.ह.क. 4/27-28)

- i) "ग्राम्यानूपौदकं मांसं गुडं दधि पर्यस्तिलान्। कुष्ठी शोथी प्रमेही च स्नेहने न प्रयोजयेत् ॥" (च.सू. 13/91)
 - "स्नेहैर्यथाह तान..... वा ॥" (च.सू. 13/92)
- "स्त्रिधस्य योगा विविधा: प्रयोज्या: कल्पोपदिष्टा मल शोधनाय। उर्ध्व तथाऽध्यथ मलेऽपनीते मेहेपु संतर्पणमेव कार्यम् ॥" (च.चि. 6/16)
- "उदरी च प्रमेही च कुष्ठी स्थूलश्च मानवः। अवश्यं स्थापनीयास्ते नानुवास्या: कथञ्चन ॥" (सु.चि. 35/22)

(II) संशमन चिकित्सा

कृश व दुर्वल रोगी में वात दोष की प्रभान्ता होती है। अतः इसकी मंतरंग (वृंहण) चिकित्सा करनी चाहिये^३। अतः मंशोधन अयोग्य कृश व दुर्वल रोगी में मन्ध, कपाय, यव चूर्ण, लेह आदि कल्पों द्वारा चिकित्सा करते हुए लघु आहार प्रयुक्त करते हैं^४।

- * औषध व आहार में तिक्त रम प्रधान द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।
 - * यव को मधु के साथ प्रयुक्त करायें।
 - * आमलकी स्वरस को हरिद्रा चूर्ण व मधु के साथ प्रयुक्त करायें।
- (मु.चि. 11/18)
- * असाध्य प्रमेही में एक तुला (5 कि.ग्रा.) शिलाजीत को सालसरादि गण क्वाथ से भावित कर इसी क्वाथ के अनुपान के साथ मंशोधन पद्धात् प्रतः में प्रयुक्त करना चाहिये (अ.ह.चि. 12/44)। पथ्य रूप में तालसालि चावल को जांगल मांस रस के साथ दें।
 - * प्रमेही को व्यायाम, कुर्ती, क्रीड़ा, गज-तुरा-रथ-पदातिचर्दा, पर्सिकमण एवं धनुष आदि का प्रयोग कर शारीरिक व्यायाम करना चाहिये^५।

अर्थ (साधन) रहित प्रमेही की विशेष चिकित्सा^६

आचार्य सुश्रुत ने धनहीन व अनाथ प्रमेही की निम्न चिकित्सा वर्णित की है—

- विना जूता व छाता के सूर्य के नीचे भिक्षावृत्ति पर रहकर ठहलें।
- मुनि व सन्तों के समान इन्द्रियों को वश में रखकर 100 वांजन या अधिक यात्रा करें।
- साँवा, निवार खाकर आँखला, कपित्थ, तिन्दुक, अशमतक के फलों का सेवन करें।
- गोमूत्र व गोवर्ण का सेवन करते हुये गायों के साथ रहें।
- ब्राह्मण रोगी शिला एवं उछवृत्ति पर रहकर द्रहरथ अर्थात् वेदों का पठन-पाठन करें।
- (vi) ब्राह्मण के अतिरिक्त प्रमेह रोगी हल चलाये या कूप खोदे।

- "संवृहणं तत्र कृशस्य कार्य-संशोधनं दोषबलाधिकस्य ॥" (च.चि. 6/15)
- "संशोधनं नार्हति यह प्रमेही तस्य क्रिया संरामनीप्रयोग्या। मन्धः कपाया यवचूर्णलहा: प्रमेहशास्त्रे लववश्च भक्ष्या: ॥" (च.चि. 6/18)
- "प्रवृद्धप्रमेहास्तु व्यायामनियुद्धक्रीडागजतुर्गरथपदातिचर्यांगस्त्रिकमणाद्वांशोपान्ते वा सवरन् ॥" (सु.चि. 11/11)
- i) "अधनस्त्वयान्द्वयो वा..... रक्षेत् ॥" (सु.चि. 11/12)
 - "अधनो वैद्यसन्देशादेवं कुर्वन्तद्वितः। संवत्सरादन्तराद्वा प्रमेहात् प्रतिनुच्छते ॥" (सु.चि. 11/13)

- (vii) कृश व्यक्ति की सदा रक्षा करें उससे हल न चलवायें।
 (viii) इस तरह उपर्युक्त चिकित्सा का प्रयोग करने से प्रमेही एक वर्ष में रोग मुक्त हो सकता है।

मधुमेह चिकित्सा

(I) संशोधन चिकित्सा

(अ) स्थूल व बलवान रोगी—संशोधन पश्चात संतर्पण देकर संशमन चिकित्सा दें।

(ब) कृश व दुर्बल रोगी—संशमन व बृहंण चिकित्सा दें। वातज प्रमेही यदि संशोधन सहन योग्य हो तो मुद्र संशोधन दें।

(II) संशमन चिकित्सा

- (1) निदान परिवर्जन
- (2) व्यायाम
- (3) रूक्ष अन्नपान
- (4) औषध व्यवस्था

मधुमेही एवं प्रमेह में संशमन चिकित्सा के अन्तर्गत निम्न औषध कल्पों को युक्त पूर्वक प्रयुक्त कर सकते हैं—

बीस प्रमेह चिकित्सा औषध योग

1. उदक मेह—हरीतकी, कट्फल, मुस्तक, लोध्र कषाय या पारिजात कपाय दें।
2. इक्षु मेह—पाठा, विडंग, अर्जुन, धन्वन्तर्कृ कषाय या निम्ब कपाय दें।
3. सान्द्र मेह—हरिद्रा, दारुहरिद्रा, तार, विडंग कषाय या सप्तपर्ण कपाय दें।
4. सान्द्रप्रसाद मेह—कदम्ब, शाल, अर्जुन, दीप्यक (यवानी) कपाय या सप्तपर्ण कपाय दें।
5. शुक्ल मेह—दारुहरिद्रा, विडंग, खदिर, धव कषाय दें।
6. शुक्र मेह—देवदारु, कुष्ठ, अगरु, चन्दन कपाय या दूर्वा, शैवाल, प्लव, करंज, कसेरु कपाय या अर्जुन-चन्दन कपाय दें।
7. शीत मेह—दारुहरिद्रा, अग्निमन्थ, त्रिफला, पाठा कपाय या पाठा-गोक्षुर कपाय दें।
8. शर्ने मेह—पाठा, मूर्वा, गोक्षुर क्वाथ या त्रिफला-गुडुची कपाय दें।
9. लाला मेह—यवानी, उशीर, हरीतकी, गुडुची कपाय या त्रिफला-आरवध कपाय दें।
10. सिकता मेह—चत्वय, अभया, चित्रक, सप्तपर्ण क्वाथ या निम्ब क्वाथ दें।
11. क्षार मेह—त्रिफला क्वाथ दें।

12. काल मेह—न्योग्रोधादि गण कपाय दें।
13. नील मेह—सालसरादि गण या अश्वत्थ कपाय दें।
14. लोहित मेह—गुडुची, तिन्दुक, काशमरी, खर्जूर क्वाथ दें।
15. हारिद्र मेह—राजवृक्ष कपाय दें।
16. माज्जिष्ठ मेह—मंजिष्ठा-चन्दन क्वाथ दें।
17. वसा मेह—अग्निमन्थ, शिंशापा कपाय दें।
18. मज्जा मेह—अमृता, चित्रक, कुष्ठ, कुटज, पाठा, कुटकी क्वाथ दें।
19. हस्ति मेह—पाठा, शिरीष, मूर्वा, तिन्दुक क्वाथ दें।
20. मधुमेह/क्षौद्रमेह—कदर, खदिर, क्रमुक कपाय दें।

1. रस/भस्म

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, त्रिफलास्वरस आदि
(i) बसन्तकुमुमाकर रस	: स्वर्ण, रजत, वङ्ग, अभ्रक आदि।
(ii) बृहद वङ्गेखर रस	: पारद, गन्धक, वङ्ग, अभ्रक
(iii) तारकेश्वर रस	: पारद, गन्धक, तङ्ग, गोक्षुर आदि
(iv) स्वर्णवङ्ग भस्म	: पारद, सेंधव, गन्धक, वङ्ग आदि
(v) त्रिवङ्ग भस्म	: नाग, वङ्ग, यशद भस्म
(vi) अपूर्वमालिनी बसन्त रस	: वैक्रान्त, अभ्रक, ताम्र आदि
(vii) हस्तिशंकर रस	: पारद, गन्धक, स्वर्ण माक्षिक आदि
(viii) स्वर्ण माक्षिक भस्म	: शुद्ध स्वर्ण माक्षिक भस्म सालसरादि गण भावित

2. वटी

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, उष्णोदक आदि
(i) शिवागुटिका	: शिलाजतु, त्रिफला, कुटकी आदि
(ii) चन्द्रप्रभा वटी	: शिलाजतु, त्रिफला, त्रिकटु आदि
(iii) शिलाजत्वादि वटी	: शिलाजतु, अभ्रक, स्वर्ण, गुण्गुल आदि
(iv) इन्द्रवटी	: रससिन्दूर, वङ्ग, अर्जुन आदि
(v) त्रिकटु गुटिका	: शुण्ठी, मरिच, पिप्पली, आदि

3. चूर्ण

मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: मधु, त्रिफला क्वाथ
(i) न्योग्रोधादि चूर्ण	: अश्वत्थ, अमलतास, बड़, असन आदि
(ii) त्रिफला चूर्ण	: हरीतकी, विभीतकी, आमलकी

4. क्वाथ
- मात्रा : 20-40 मि.ली.
 - अनुपान : मधु
 - (i) फलत्रिकादि क्वाथ : त्रिफला, दारहरिया, विशाला, मुस्तक, हरिद्वार आदि
 - (ii) दाव्यादि क्वाथ (चरक)
 - (iii) विंडगादि क्वाथ (यो.र.)
 - (iv) त्रिफलादि क्वाथ (वृन्द)
 - (v) पलाशपुष्प क्वाथ (यो.र.)
 - (vi) सालसारादि गण क्वाथ
5. आसव / अरिष्ट
- मात्रा : 20-40 मि.ली.
 - अनुपान : मधु, मिश्री
 - (i) लोधासव : लोध्र, कर्पूर, पुष्करमूल आदि
 - (ii) मध्वासव : उपर्युक्त सभी द्रव्य
 - (iii) दन्त्यासव : दन्तीमूल, लोध्र, मूर्वा, विंडग आदि
 - (iv) देवदार्वादि अरिष्ट : देवदारु, वासा, मंजिष्ठा आदि
6. घृत / तैल
- मात्रा : आवश्यकतानुसार
 - (i) धान्वन्तर घृत : दशमूल, करञ्ज, देवदारु आदि
 - (ii) दाढ़िमाद्य घृत : अनार, विंडग, हरिद्रा आदि
 - (iii) त्रिकट्टकाद्य घृत : गोक्षर, पाषाणधेद, भलातक आदि
 - (iv) त्रिफलादि घृत : त्रिफला, भृङ्गराज, वासा, आमलकी आदि
 - (v) प्रमेहमिहिर तैल : शतपुष्पा, देवदारु, हरिद्रा आदि
7. लेह
- मात्रा : 5-10 ग्राम
 - अनुपान : उज्जोदक
 - (i) शालसारादि लेह : शालसारादिगण, दन्ती, हरड़ आदि
 - (ii) कुशाक्लेह : कुशा, खस, वीरण, मुलेठी आदि
 - (iii) वज्ञाक्लेह : वज्ञ, मधु, गन्धक आदि
8. उदक (जल)
- (i) सारेदक : विजयसारलकड़ी को ताम्रपात्र में रख जलपान
 - (ii) कुशोदक : कुशा का जल

- (iii) मधुदक : मधु व जल
- (iv) त्रिफला रस : क्वाथ या स्वरस
- (v) सीधू : जौ, मद्य,
- (vi) माध्वीक : पुराण मुनक्का से बना मद्य

9. रसायन प्रयोग

- (i) आमलकी
- (ii) शिलाजतु (शालसरादि गण भावित) : अपथ्य-कपोतमांस, कुल्थी
- (iii) गुण्णुतु
- (iv) लशुन

यथावश्यक :

आचार्य सुश्रुत ने प्रमेह के लिए शिलाजतु को नैमित्तिक रसायन कहा है।

10. कल्प चिकित्सा

- (i) शिलाजतु कल्प : 1 तुला (5 किलोग्राम)
- (ii) तुवरक कल्प : यथावश्यक

11. एकल औपध - यथावश्यक

पलान्दु	कारवेलक	भलातक	तेजपत्र
निम्ब	जम्बु	आम्र बीज	सप्तचक्रा
मेषशृङ्खी	बिम्बी	लोध्र	खदिर
बिल्ब	मामजक	पलाश	अमृता
विजयसार	हरिद्रा	बबूल	सेम
मेथी	आमलकी	बला	

12. अन्य चिकित्सा

योगासन—कूर्मासन, मयूरासन, पश्चिमोत्तासन आदि।
प्राणायाम (भस्त्रिका)

आदर्श चिकित्सा पत्र

1. प्रातः सायम्

बसन्त कुसुमाकर रस	: 125 मि.ग्रा.
त्रिफला चूर्ण	: 2 ग्राम
यव चूर्ण	: 1 ग्राम
मधु से	<u>1×2 मात्रा</u>
2. शिलाज-त्वादि वटी

चन्द्रप्रभावटी	: 2 वटी × तीन मात्रा
	: 2 वटी × तीन मात्रा

3.	भोजनोत्तर देवदार्वाद्यरिष्ट समभाग जल से	: 20 मि.ली. 1x2 मात्रा
4.	भोजनोत्तर न्योग्राह्य चूर्ण मधु से	: 2-4 ग्राम 1x2 मात्रा
5.	विवंध होने पर रात्रि में पंचसकार चूर्ण गर्म जल से	: 2 ग्राम 1 मात्रा

पथ्यापथ्य

मधुमेह रोग में पथ्यापथ्य एवं आहार-विहार का विशेष महत्व है। अतः मधुमेही में निम्न पथ्यापथ्य प्रयुक्त करना चाहिए।-

पथ्य

आहार
यव, मूंग, अतसी, चना, सौंवा,
कोदों, गवेधुक, गोधूम, मधु,
पूण, सैंधव, जांगल मांस, पटोल,
करेला, गाजर, शलजम, आँवला,
हरिद्रा, कपित्थ, मरिच आदि।

अपथ्य

आहार
दुध, दधि, तक्र, घृत, तैल,
इक्षुविकार, गुड़, पिण्डान्न, सुरा,
मद्य, आनूप मांस, ताम्बुल,
उड़द, अध्यशन, विरुद्धाशन,
कफ मेदवर्धक, आहार,
मधुर-अम्ल-लवण रस आदि।

विहार
चंक्रमण (पदातिचर्या),
लघु व्यायाम, रूक्ष उद्वर्तन,
स्नान, क्रीड़ा, कुश्ती, रथचर्या
आदि।

विहार
दिवाशयन, अति मैथुन, स्वेदन,
धूम्रपान, वेग धारण, रक्तमोक्षण
आदि।

1. i) "व्यायामयोर्गैर्विधैः प्रगाढ़ेरुद्वर्तनैः स्नानजलावसेकैः ।
सेव्यत्वगेलामुरुचन्दनार्धीर्वलेपनैक्षाशु न सन्तिमेहाः ॥" (च.चि. 6/58)
ii) "श्यामाककोद्रवोद्वालगोधूमाशचणकास्तथा । आदयश्च कुलतथाश्च पुराणा मेहिनां हिताः ॥
मेहिनां तिक्ष्णशकानि जाङ्गला हरिणाण्डजाः । यवान्नविकृतिर्मुदाः शस्यन्ते शास्त्रिष्ठिकाः ॥
सौंवीरकं सुरा तक्रं तैलं क्षार घृतं गुडम् । अम्लेक्षुरसमिष्टान्नानूप मांसानि वर्जयेत् ॥"
(भा.प्र.चि. 38/41-43)

Latest Developments**Diabetes Mellitus**

आयुर्वेद में वर्णित मधुमेह रोग का सामंजस्य आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित 'Diabetes mellitus' नामक रोग से करते हैं।

Diabetes mellitus is a metabolic clinical syndrome characterised by hyperglycaemia due to absolute or relative deficiency of insulin and by long term complications involving the eyes, kidneys, nerves and blood vessels.

Types of Diabetes mellitus

- i. IDDM (Type 1st) : Insulin Dependent Diabetes Mellitus
- ii. NIDDM (Type IIInd) : Non Insulin Dependent Diabetic Mellitus
- iii. MRDM : Malnutrition related Diabetes Mellitus
- iv. MODY : Maturity onset Diabetes of Young (Juvenile Diabetes Mellitus)

Signs/Symptoms

- i. Hyperglycaemia
- ii. Frequent urination (Glycosuria)
- iii. Always hunger (Polyphagia)
- iv. Crave for extra liquid (Polydypsia)
- v. Always tired / Debility
- vi. Genital itching
- vii. Sexual dysfunction etc.

Diagnosis

- i. Fasting plasma Glucose $> 126 \text{ mg/dl}$
- ii. Random plasma Glucose $> 200 \text{ mg/dl}$ & symptoms
- iii. Post prandial plasma Glucose $> 200 \text{ mg / dl}$
- iv. Urinary glycosuria - present

Management : Principles

- i. Diet control
- ii. Active exercises
- iii. Life style modifications
- vi. Drugs-Insulin, Biguanides, Sulphonylureas etc.
- v. Mass Education / Counselling to the patient.

• • • लैप्टॉप • • •

अध्याय-63

वातरक्त (Gout)

व्याधि परिचय

इस रोग में मुख्यतः वात दोष व रक्त धातु की दृष्टि होती है, अतः इसे वातरक्त कहते हैं। इस रोग में मुख्यतः छोटी सन्धियों में शोथ, शूल एवं विवर्णता उत्पन्न होती है। आचार्य चरक ने चिकित्सा स्थानान्तर्गत स्वतंत्र अध्याय के रूप में इसका वर्णन किया है। आचार्य सुश्रुत ने वातव्याधि प्रकरण में ही इसका वर्णन किया है। लक्षणों एवं निदान-सम्प्राप्ति की दृष्टि से वात रक्त की तुलना आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित गाउट (Gout) नामक रोग से की जाती है।

निरूक्ति / व्युत्पत्ति

वात बलास— वातस्यावरणेन बलमत्स्यस्मिन् शोणित इति वात बलासः।
अर्थात् वात के आवृत हो जाने से रक्त अधिक दूषित होकर इस रोग को उत्पन्न करता है। अतः इसे वात बलास भी कहते हैं।

प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चरक संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 29
2. सुश्रुत संहिता, निदान स्थान-अध्याय 1
3. सुश्रुत संहिता, चिकित्सा स्थान-अध्याय 5
4. अष्टाङ्ग हृदय, निदान स्थान-अध्याय 16
5. अष्टाङ्ग हृदय, चिकित्सा स्थान-अध्याय 22
6. माधव निदान-अध्याय 23
7. चक्रदत्त-अध्याय 23
8. भाव प्रकाश-अध्याय 29
9. भैषज्य रत्नावली - वातरक्त चिकित्सा प्रकरण

पर्याय— वातरक्त के निम्न पर्याय शास्त्रों में वर्णित हैं—

- | | |
|---------------|--------------|
| (i) वातशोणित | (ii) खुड़रोग |
| (iii) वातबलास | (iv) आद्यवात |

1. “तज्ज्ञेयं वातशोणितम्। खुडं वातबलासाख्यमाद्यवातं च नामभिः॥” (च.चि. 29/11)

वातरक्त

- (v) वातासूक
(vi) मेदसावृत वात आदि

वातरक्त के निदानों को निम्न प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—

- I. आहार सम्बन्धी निदान¹
 - (i) कटु-अम्ल-लवण-क्षार-स्निग्ध-उष्ण पदार्थों का अति सेवन।
 - (ii) विलत्र, शुष्क, आनूप मांस सेवन
 - (iii) पिण्याक (खली), मूली, कुल्थी, माष (उड़द) सेम आदि का अति सेवन
 - (iv) मांस, ईख, दही, कांजी, सौवीर, सिरका, तक्र, सुरा, आसव का अति सेवन
 - (v) विरुद्ध भोजन, अध्यशन, अजीर्णशन करना
 - (vi) मिथ्या आहार सेवन
 - (vii) मिष्ठान सेवन आदि।
- II. विहार सम्बन्धी निदान²
 - (i) अत्यधिक क्रोध
 - (ii) दिवाशयन
 - (iii) रात्रि जागरण
 - (iv) अनशन
 - (v) ऊंट व घोड़े की अधिक सवारी
 - (vi) चोट लगना
 - (vii) जल में क्रीड़ा करना, तैरना, कूदना
 - (viii) ग्रीष्म ऋतु में अधिक विषम रास्ता चलना
 - (ix) अधिक मैथुन करना
 - (x) मल-मूत्रादि का वेग धारण करना
 - (xi) पंचकर्म नहीं करना

1. “लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्णभोजनैः। विलत्रशुष्काम्लुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः॥
कुलत्यमाषनिष्यावशाकादिपललेक्षुभिः। दध्यारनाल सौवीर शुक्तक्र सुरास्वैः॥”

2. “क्रोधदिवास्वप्र प्रजागरैः। प्रायः सुकुमाराणां मिष्ठान सुखभोजिनाम्॥
अचहृकमणशीलानां कुप्यते वातशोणितम्॥ अभिघातदशुद्धया च प्रदुषे शोणिते नृणाम्॥
हयोद्यायानयानाम्लुक्रीडाप्लवनलङ्घनैः॥” (च.चि. 29/5-6)

(च.चि. 29/7-9)

III. प्रकृति सम्बन्धी निदान¹

- (i) सुकुमार, स्थूल, सुखी तथा मिथ्या आहार-विहर सेवी होना
- (ii) अव्यायामी होना।

अतः वात रक्त के निदानों को वात प्रकोपक निदान व रक्तप्रकोपक निदानों में विभक्त कर सकते हैं। कुछ निदान प्रायः धनी व्यक्तियों में पाए जाते हैं। अतः वातरक्त को आद्यवात भी कहा गया है।

भेद— आचार्य चरक ने वातरक्त के निम्न भेद वर्णित किए हैं—

I. आश्रय के आधार पर²

- (i) उत्तान वातरक्त
- (ii) गम्भीर वातरक्त (अवगाढ़ वातरक्त)
- (iii) उभयाश्रित वातरक्त

II. दोष के आधार पर³

- | | |
|-------------------------------|------------------------|
| (i) वातज वातरक्त | (ii) पित्तज वातरक्त |
| (iii) रक्तज वातरक्त | (iv) कफज वातरक्त |
| (v) द्वन्द्वज वातरक्त (3 भेद) | (vi) सत्रिपातज वातरक्त |

सम्प्राप्ति⁴

(i) सामान्य सम्प्राप्ति

पूर्वोक्त वर्णित निदानों के सेवन से वात एवं रक्त एक साथ प्रकुपित होते हैं। बढ़े हुए

1. “प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याऽहारविहारिणाम्। रोगाध्वप्रमदामद्यव्यायामैश्चातिपीडनान्॥
ऋतुसात्यं विषयसात् स्नेहादीनां च विभ्रमात्। अव्यवाये तथा स्थूले वातरक्तं प्रकुप्यति॥”
(सु.नि. 1/40-41)
2. “उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत् प्रचक्षते। सर्वलिंगैश्च विक्षेयं वातासुगुभयाश्रयम्॥”
(च.चि. 29/19, 23)
3. “तत्र वातेऽधिके वा स्याद्रक्ते पित्ते कफेऽपि वा। संसृष्टेषु समस्तेषु यच्च तच्छृणु लक्षणम्॥”
(च.चि. 29/24)
4. i) “वायुर्विवृद्धो वृद्धेन रकेनावरितः पथि। कृत्वा संदूषयेदर्कं तज्जेयं वातशोणितम्॥”
(च.चि. 29/10-11)
ii) “क्षिप्रं रकं दुष्टिमायाति तच्च, वायोर्मार्गं संरुणद्वयाशुयातः।
कुद्धोऽत्यर्थं मार्गरीधात् स वायुरत्युदिकं दूषयेद्रक्तमाशु॥
तत् संपृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम्।
तद्वृत् पित्तं दूषितेनासृजाऽकं श्रेष्ठादुष्टो दूषितेनासृजाऽकः॥”
(सु.नि. 1/43-44)

दूषित रक्त के द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। रुक्ती हुई वायु पुनः सम्पूर्ण रक्त को दूषित कर देती है। यह दुष्ट रक्त खिसक कर नीचे पैरों में इकट्ठा हो जाता है एवं वायु के साथ मिलकर वातरक्त रोग उत्पन्न करता है।

(ii) विशिष्ट सम्प्राप्ति¹

वायु सूक्ष्म व सम्पूर्ण संधियों या मार्गों में फैलने वाला होता है तथा रक्त द्रव और सम्पूर्ण स्नोतों में फैलने वाला होता है। इन दोनों गुणों के कारण कुपित हुआ वात व रक्त सिरमार्गों से सम्पूर्ण शरीर में गमन करते हैं। गमन करते हुए संधियों के टेढ़े होने से वहाँ वात-रक्त की गति में आघात होता है और वह क्षुब्ध होकर वर्हीं रुक जाते हैं। पित्त आदि दोषों से युक्त होकर उन संधियों में रुके हुए वात एवं रक्त भिन्न-भिन्न प्रकार से वेदनाओं को उत्पन्न दूषित करते हैं। इस प्रकार संधि प्रदेश में रुके दूषित वात एवं रक्त मनुष्यों के शरीर में अत्यन्त कष्टप्रद एवं विकृत दोषानुसार विभिन्न वेदनाओं को उत्पन्न करते हैं। इस अवस्था को ही वातरक्त नामक रोग कहते हैं।

वात रक्त का स्थान²

वातरक्त सर्वप्रथम हाथ व पैर में अपना मूल स्थान बनाकर, पश्चात् सम्पूर्ण शरीर में फैलता है। यह विशेषकर हस्त, पाद, अंगुलि व संधियों में स्थान बनाता है। आचार्य सुश्रूत के अनुसार वातरक्त हस्त व पाद में आश्रय प्राप्त करके चूहे के विष के समान सम्पूर्ण शरीर में फैलता है।

1. “सौक्ष्यात्.....नृणाम्॥” (च.चि. 29/13-15)
2. i) “तस्य स्थानं करौ पादावङ्गुल्यः सर्वसन्धयः।
कृत्वा दोहस्तपादे तु मूलं देहे विधावति॥” (च.चि. 29/12)
ii) “पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्दस्तयोरपि।
आखोर्विषमिव कुरु तदेहमनुसर्पति॥” (सु.नि. 1/48)

- (iv) आयाम (खिंचावट)
- (v) तोद (सुई चुभने सीं पीड़ा)
- (vi) स्फुरण (अंगों का फड़कना)
- (vii) कुञ्जन (अंगों का टेढ़ापन)
- (viii) श्याव या ताप्र वर्ण त्वचा

II गम्भीर वातरक्त लक्षण¹

जो वातरक्त जन्य लक्षण रक्त, मांस, मेदा आदि अवगाढ़ धातुओं में आकृति होते हैं उसे गम्भीर वातरक्त कहा जाता है। इसमें निम्न लक्षण पाए जाते हैं—

- (i) कठिन शोथ
- (ii) स्तब्धता
- (iii) शोथ के भीतरी भाग में पीड़ा होना
- (iv) त्वचा श्याव या ताप्र वर्ण की होना
- (v) संधियाँ दाह, तोद, स्फुरण तथा पाक से युक्त हो जाती हैं।

III उभयाश्रित वातरक्त लक्षण²

जब वातरक्त उत्तान व गम्भीर (आध्यन्तर) धातुओं में एक साथ उपस्थित रहता है तब निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

- (i) संधि-अस्थि-मज्जा स्थित वायु अंगों को टेढ़ा करके कभी-कभी खंज या पंगु उत्पन्न कर देता है।

वस्तुतः उत्तान वातरक्त कालान्तर में गम्भीर स्वरूप धारण कर गम्भीर वातरक्त भी बन जाता है जिससे उभय वातरक्त के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

IV वातज वातरक्त के लक्षण³

वातोल्बण वातरक्त में निम्न लक्षण मिल सकते हैं—

- (i) सिरा आयाम (खिंचाव)

1. i) "गम्भीरं त्वन्तराश्रयम् ॥" (च.चि. 29/19)
ii) "गम्भीरं श्यथुः स्तब्धः कठिनोऽन्तर्मृशार्तिमान् । श्यावस्ताप्रोऽथवा दाहतोदस्फुरणपाकवान् ॥"
(च.चि. 29/21)
2. "रग्विदाहान्वितोऽभीक्षणं वायुः सन्यस्थितमज्जसु । छिन्दन्विव चयलनर्वक्रीकुर्वत्क्ष वैगवान् ॥
करोति खञ्जं पङ्कु वा शरीर सर्वतश्चन् । सर्वं लिङ्घैश्च विज्ञेयं वातासृगुभ्याश्रयम् ॥"
(च.चि. 29/22-23)
3. i) "विशेषतः सिरायामशूलस्फुरणतोदनम् । शोथस्य काण्डर्यं रौक्ष्यं च श्यावतावृद्धिहानयः ॥
धमन्यहृलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽतिरूक् । कुञ्जनस्तम्भने शीतप्रदेपशानितेऽधिकं ॥"
(च.चि. 29/25-26)
ii) "स्पर्शोद्दिननीं तोदभेदप्रशोपस्वापापेतौ वातरकेन पादौ ॥" (सु.नि. 1/45)

- (ii) शूल, स्फुरण व तोद
- (iii) शोथ कृष्ण या श्याव वर्ण का एवं रूक्ष होता है
- (iv) वातरक्त के लक्षण घटते-बढ़ते रहते हैं
- (v) धमनी-अंगुलि व संधियों में संकोच हो सकता है
- (vi) अंगों में जकड़ाहट होना
- (vii) वेदनाधिक्य, आकुंचन व स्तम्भन होना
- (viii) शीतल अन्न व विहार से द्वेष होना

V पित्तज वातरक्त के लक्षण¹

पित्तोल्बण वातरक्त में निम्न लक्षण प्राप्त होते हैं

- (i) शरीर में विदाह, वेदना, मूर्च्छा होना
- (ii) स्वेदाधिक्य होना
- (iii) तृष्णाधिक्य होना
- (iv) मद होना व चक्कर आना
- (v) रोगाक्रान्त प्रदेश में लालिमा, पाक, भेदनवत पीड़ा होना
- (vi) अंगों में शोष व उष्माधिक्य (ज्वर) होना

VI रक्तज वातरक्त के लक्षण²

रक्त की अधिक विकृति से उत्पन्न होने वाले वातरक्त में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

- (i) कण्ठ व क्लोद युक्त शोथ
- (ii) वेदना युक्त सन्धि शोथ
- (iii) तोद व चिमचिमायमन (चुनचुनाहट) युक्त शोथ
- (iv) स्निग्ध व रूक्ष द्रव्यों से रोग की वृद्धि होना

1. i) "विदाहे वेदना मूर्च्छा स्वेदस्तृष्णा मदो भ्रमः ।
रगः पाकश भेदश शोषशोक्तानि पैत्तिके ॥"
(च.चि. 29/28)
ii) "पित्ते विदाहः सम्मोहः स्वेदो मूर्च्छा मदः स्तूद् ।
स्त्रावायपत्वं रुग्णाः शोफः पाको भृशोप्ता ॥"
(अ.ह.नि. 16/15)
2. "श्यथुर्भृशरूक् तोदस्ताप्रशिमिचिमायते ।
स्निधरूक्तैः शमं नैति कण्ठतोदान्वितोऽसृजि ॥"
(च.चि. 29/27)

VII कफज वातरक्त के लक्षण¹

कफ दोषाधिक्य से वातरक्त में निम्न लक्षण प्रकट हो सकते हैं—

- (i) स्तैमित्य (गीले कपड़े से शरीर ढका प्रतीत होना)
- (ii) शरीर में भारीपन, स्थिरता, शून्यता होना
- (iii) मन्द वेदना होना
- (iv) कण्ठ होना

VIII द्वन्द्वज व सन्निपातज वातरक्त लक्षण²

जब वात रक्त में दो दोषों की प्रधानता रहती है तब इन दोनों दोषों के मिश्रित लक्षण एवं सन्निपातज वातरक्त में त्रिदोषों के मिश्रित लक्षण पाए जाते हैं।

सापेक्ष निदान

वातरक्त रोग का सापेक्ष निदान विभिन्न व्याधियों से किया जाता है, जिनका तालिकाबद्ध तुलनात्मक वर्णन निम्नानुसार है—

तालिका संख्या-1

वातरक्त	रक्तगतवात	रक्तावृतवात	सिरागतवात	
1. वात व रक्त अपने-	इसमें केवल वात	इसमें वृद्ध रक्त के इसमें दूषित वात अपने कारणों से दूषित दूषित होता है। दूषित कारण आवरण हो सिरा में अधिष्ठान होते हैं। दोनों मिलकर वात ही सामान्य रक्त कर वायु विकार लेकर वात सिरगत विकृति उत्पन्न करते में आश्रय करके 'रुज उत्पन्न करता है। रोग उत्पन्न करती है। निदान, सम्प्राप्ति के स्तीत्राः संतापा' द्वारा कारण विशिष्ट रोग है। रक्तगत वात उत्पन्न करता है।	वातरक्त	
2. अधिष्ठान-हस्त-पाद	अधिष्ठान सर्वशरीर की अंगुलि	अधिष्ठान त्वचा व मांस		
3. Gout से तुलना की जाती है।	Hypertension से Myopathy से Varicose Vein से जाती है।	तुलना की जाती है। तुलना की जाती है। तुलना की जाती है।		

1. i) "स्तैमित्य गौरवं स्नेहः सुसिर्वन्दा च रुक्ष कफे।"

(च.चि. 29/29)

ii) "कण्ठमन्तौ श्वेतशीतौ सशोफो पीनसत्त्व्यो श्लेष्मदुष्टे तु रक्ते॥" (सु.नि. 1/46)

2. "हेतुलक्षणसंसर्गाद्वियादद्वच्छ्रितोपजम्॥"

(च.चि. 29/29)

आमवात	सर्ववात	वातरक्त	क्रोष्टुक शीर्ष
i. प्रायः बड़ी सम्धियों में ग्राम्य सभी सम्धियों में एक समान रहता है। (प्रायः जानू व कटि संधि में होता है।)	यह प्रायः छोटी सम्धियों (अंगुष्ठ-मूल) से प्रारम्भ होता है।	यह प्रायः छोटी सम्धियों (अंगुष्ठ-केवल जानू संधि में होता है।)	
ii. ज्वर उपस्थित रहता है।	ज्वर नहीं रहता है।	ज्वर नहीं रहता है।	ज्वर नहीं रहता है।
iii. सम्धि शोथ व शूल रहता है।	सम्धि शूल रहता है।	शोथ व शूल रहता है।	शोथ व शूल रहता है।
iv. वृक्षक दंशवत् एवं भ्रमणशील संधि शूल सामान्य रहता है। शूल सम्धियों में रहता है।	मूषक विषवत् शूल सम्धियों में रहता है।	मूषक विषवत् शूल सम्धियों में रहता है।	सामान्य सम्धि शूल रहता है।
v. आम रस व कफ की प्रधानता	वात व रक्त की प्रधानता	वात व रक्त की प्रधानता	वात व रक्त की प्रधानता
vi. सम्धियों में पाक नहीं	सम्धियों में पाक होता है।	सम्धियों में पाक होता है।	सम्धियों में पाक नहीं होता
vii. हृदगौरव उपस्थित	हृदगौरव नहीं	हृदगौरव नहीं	हृदगौरव नहीं
viii. रक्तमोक्षण से लाभ नहीं होता	रक्त मोक्षण से लाभ नहीं होता	रक्तमोक्षण से लाभ होता है।	रक्तमोक्षण से लाभ नहीं होता
ix. Rheumatoid Arthritis से तुलना की जाती है। Gout से तुलना की जाती है। तुलना की जाती है।			Synovitis of knee joint से तुलना की जाती है
x. वाल्यावस्था में ग्राम्य हो सकता है।	मध्यावस्था व वृद्धावस्था में ग्राम्य होता है।	प्रायः 40 वर्ष के बाद प्रारम्भ होता है।	40 वर्ष के बाद प्रारम्भ होता है।

साध्यासाध्यता^१

- एकदोषज च नवीन वातरक्त साध्य होता है।
- द्विदोषज (हृदज) वातरक्त याप्ति होता है।
- त्रिदोषज एवं समस्त उपद्रव युक्त वातरक्त असाध्य होता है।
- जिस वातरक्त में उपद्रवों का अभाव हो वह साध्य होता है।
- जिस वातरक्त में सम्पूर्ण उपद्रव न हों वह याप्ति होता है।

असाध्य वातरक्त लक्षण^२

- ब्रण फूटकर पूयसाव होता हो।
- आक्रान्त प्रदेश में विवर्णता, जकड़ाहट एवं अर्बुद उत्पन्न हो गया हो।
- इन्द्रियों में ताप उत्पन्न हो गया हो।
- जो वातरक्त अंगुष्ठ मूल से प्रारम्भ होकर जानु संघित तक पहुँच गया हो, जिसमें त्वचा स्फुटित हो गयी हो, जिसमें सावाधित्य हो, जिसमें मांस का क्षय हो गया हो तथा जो एक वर्ष पुराना हो गया हो वह वातरक्त असाध्य होता है।

वातरक्त की असाध्यता का कारण^३

वायु शाखा व सन्धियों में प्रवेशकर रक्त के मार्ग को दुष्ट कर देती है और बढ़ा हुआ रक्त भी वायु के मार्गों को रोक देता है। इस प्रकार रक्त के मार्ग को वायु और वायु के मार्ग को रक्त रोक देता है। इससे वेदना उत्पन्न होती है एवं उस वेदना से रोगी में असाध्य लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

उपद्रव^४

वातरक्त रोग की समुचित चिकित्सा न करने पर निम्न उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं—

- अनिद्रा
- अरोचक

- i) "एकदोषानुगं साध्यं नवं, याप्यद्विदोषजम्। त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यत्य च स्युरुपद्याः॥" (च.चि. 29/30)
- ii) "अकृत्स्नोपद्रवं याप्य साध्यं स्यान्तिरुपद्रवम्॥" (च.चि. 29/34)
- i) "संप्रसावि विवर्णं च स्तम्भमर्युदकृच यत्। वर्येत्येत्य संकोचकमिन्द्रियात्पानप्॥" (च.चि. 29/33-34)
- ii) "आजानुस्फुटितं यज्च प्रभिन्नं प्रसुतं च यत्। उपद्रवैश्य यज्ञुष्टं प्राणगांसंक्षयादिभिः॥ शोणितं तदसाध्यं स्याद्याप्य संवत्सरोत्थितम्॥" (च.चि. 1/49-50)
- "रक्तमार्गं निहन्याशु शाखासन्धिषु मारुतः। निविश्यान्योन्यमाधार्य घेदनाभिरेदसूत्रः॥" (च.चि. 29/35)
- "अस्वज्ञारोचकशासमांसकोधशिरोग्रहः। मूर्च्छायमदरुकृत्याज्वरमोहप्रवेपकाः॥ हिकापाकुल्यवीसर्पणकतोदभ्रमकल्पाः। अकुलीयक्रता स्फोटा दाहमर्घानुर्दाः॥" (च.चि. 29/31-32)

- शास
- मांस का सङ्करा (मांसकोथ)
- शिरोग्रह
- मूर्च्छा
- मृद-येदना-हृणा-ज्वर व मोह
- हिका, पांसुल्य, विसर्प, भ्रम व क्लम
- अंगुलिवक्रता-दाह-मर्घान-अर्बुद आदि

चिकित्सा सूत्र

- वातरक्त रोग में शृङ्ख, जलौका, सूची, अलावृ, प्रच्चान व शिरावेध द्वारा कुपित दोषों के अनुसार या रोग-रोगी के वलानुसार रक्तमोक्षण कराना चाहिये।
- वातोल्वण वातरक्त में रक्तमोक्षण कराना निषिद्ध है। रक्तमोक्षण के पूर्व स्नेहन, मृदु विरेचन तथा वस्ति द्वारा समुचित पूर्वकर्म करना चाहिये। अध्यंग, सेक, प्रदेह, लेप, अन्न, स्नेह इत्यादि द्वारा उपर्युक्त चहिःपरिमार्जन करायें।

उत्तान वात रक्त चिकित्सा सूत्र^५

उत्तान वात रक्त में विभिन्न लेप, अध्यंग, सेवन तथा अवगाहन का प्रयोग करना चाहिये।

गम्भीर वात रक्त चिकित्सा सूत्र^६

गम्भीर वात रक्त में विरेचन, आस्थापन वस्ति तथा स्नेहपान कराना चाहिये।

वातज वातरक्त चिकित्सा सूत्र^७

वातोल्वण वातरक्त में घृतपान, तैलमर्दन या तैलपान, वस्ति, वसा या मज्जा का पान या आध्यंग एवं इर्ही स्नेहों से युक्त अनुवासन वस्ति, तथा गर्म उपनाह (Poultice) द्वारा चिकित्सा करें।

पित्त व रक्त प्रथान वातरक्त चिकित्सा सूत्र^८

विरेचन, घृतपान, क्षीरपान, परिपेक, अनुवासन वस्ति, शीत व दाहशामक प्रलेप द्वारा चिकित्सा करें।

- "तत्र मुञ्चेदमृहं शृङ्खजलौकः सूच्यलायुभिः। प्रच्यनैर्वा सिरभिर्वा यथादोयां यथावलम्॥" (च.चि. 29/36)
- "विरेच्यः स्नेहयित्वा उद्दी स्नेहयुक्तविरेचनैः। लौरीय मृदुभिः शस्त्रमसकृदस्तिकर्म च॥ रोकाय्याप्रदेहात्रस्नेहाः। प्रायोऽविद्याहिनः। जात रक्ते प्रशास्यन्ते॥" (च.चि. 29/41-42)
- "उत्तानं लोपनाय्यापरियेकायाहैः॥" (अ.ह.चि. 22/38)
- "विरेकास्थापननेहापानैर्भीरामानरेत्॥" (अ.ह.चि. 22/38)
- "सर्पिस्तैलयसामज्ज्ञानाय्यज्ज्ञानयस्तिभिः। सुखोर्णीरुपनाहैश्य वातोत्तरमुपाचरेत्॥" (च.चि. 29/44)
- "विरेचनैर्घृतशीरपानै सेकैः। सर्वस्तिभिः। शीतैर्निवापणैश्यापिरक्षितोत्तरं जयेत्॥" (च.चि. 29/45)

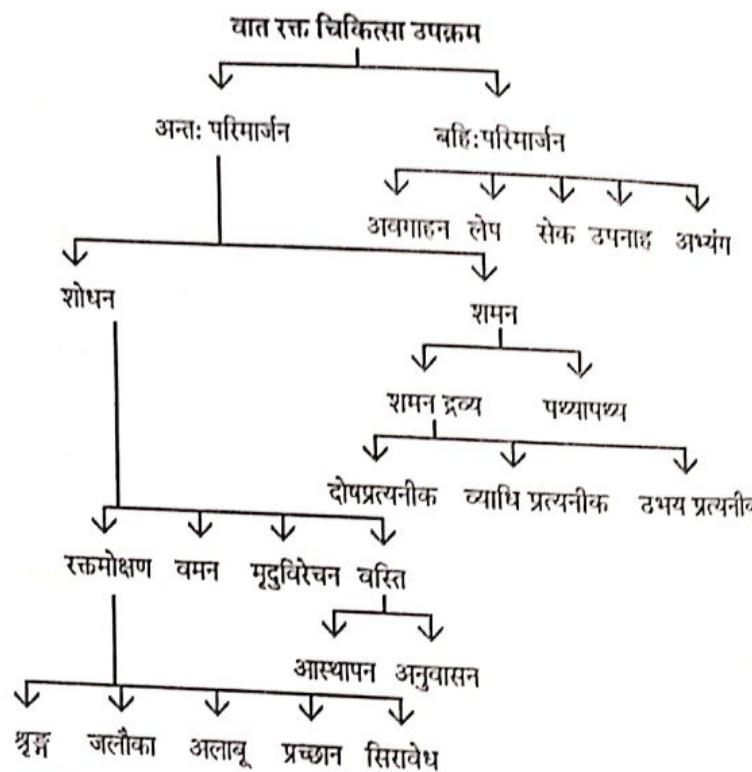
कफज वात रक्त चिकित्सा सूत्र¹

इसमें मृदुव्यपन, स्नेह, परिषेक, लंघन, उष्ण सेप द्वारा चिकित्सा करें।

मेदावृत वात चिकित्सा सूत्र²

जब मेद या कफ के बढ़ जाने से वायु का मार्ग रुक जाता है तो ऐसी दशा में सर्वप्रथम स्नेहन व बृहंण चिकित्सा न करें। इसमें मेद व कफ नाशक व्यायाम, शोधन, अस्तिष्ठान, गोमूत्रपान, विरेचन, तक्र सेवन एवं हरड़ का प्रयोग करना चाहिये।

वातरक्त रोग की चिकित्सा हेतु निर्दिष्ट उपर्युक्त चिकित्सा गूत्रों को निम्न रूप में तालिका बढ़ा कर सकते हैं—



- "यमन् मृद नात्यर्थ स्नेहसौको विलहृनम्। कोणालेपाद्य शास्यन्ते वातरके कफोत्तरे॥"
(च.चि. 29/46)
- "पित्तेमार्ग संरोधान्मेदसो या कफस्य या। अतिवृद्ध्याऽनिले नावी शास्त्रं स्नेहनवृहंणम्॥
व्यायामरोधनारिष्टमूत्रपानैर्विरचनैः। लक्राभ्याप्रयोगैश्च धारयेत् कफमेदसो॥"
(च.चि. 29/156-157)

चिकित्सा

वातरक्त रोग की शोधन एवं शमन चिकित्सा व्यवस्था निम्नानुसार की जा सकती है—

(1) शोधन चिकित्सा

- स्नेहन—घृत, तैल, वसा या मज्जा द्वारा करें।
- वमन—मदनफल देकर मृदु वमन करायें।
- विरेचन—एण्डैल व थीर से विरेचन करायें।
- वस्ति—घृत पिश्चित थीर वस्ति देना चाहिये।
- रक्तपोक्षण—उत्तान वातरक्त में श्रद्धा, जलौका व अलावू द्वारा एवं गधीर वातरक्त में (जो संचारी भी हो) मिरावेध द्वारा रक्त मोक्षण करायें।

(2) शमन चिकित्सा

वातरक्त रोग की शमन चिकित्सा के लिये निम्न औपचार्य योग युक्तिपूर्वक प्रयोग करें—

1. रस/भस्म

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु
(i) वातरक्तानक रस	: कजली, लौह, अध्रक, हरताल आदि
(ii) विशेश रस	: कजली, वत्सनाभ, तुत्थ, पलाश आदि
(iii) पित्तानक लौह	: कजली, अध्रक, गुडुची आदि
(iv) ताल भस्म	: हरताल, वत्सनाभ, अंकोल आदि
(v) महातालेश्वर रस	: हरताल, गंधक, ताम्र आदि
(vi) रसमाणिकय	: हरताल, कृष्णाण्ड स्वरस आदि
(vii) शिलाजतु	: शुशिलाजतु, गुडुची कवाथ आदि

2. वटी/गुण्गुल

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: गुडुची कवाथ, उष्ण जल
(i) आरोग्यवानी वटी	: ताम्र, निष्व, कुटकी आदि
(ii) कैशोर गुण्गुल	: त्रिफला, गुडुची, गुण्गुल आदि
(iii) अमृता गुण्गुल	: गिलोय, त्रिफला, पुनर्नवा, गुण्गुल आदि
(iv) पुनर्नवा गुण्गुल	: पुनर्नवा, एण्ड, गुण्गुल आदि
(v) रसाभ्रगुण्गुल	: कजली, लौह, अध्रक, गुण्गुल आदि

3. चूर्ण	
मात्रा	: 3-6 ग्राम
अनुपान	: उष्ण जल
(i) मंजिष्ठादि चूर्ण	: मंजीठ, हरड, निशोय आदि
(ii) हरीतकी चूर्ण	: हरीतकी
(iii) सुरजान चूर्ण	: सुरजान
(iv) निम्बादि चूर्ण	: निम्ब, गुड़ची, हरीतकी, चाकुचों आदि
(v) दु-डीटिका चूर्ण	: गोरखमुखी, धृत, मधु गुड़ची आदि
(vi) चोपचीन्यादि चूर्ण	: चोपचीनी
4. असव/आरंध	
मात्रा	: 20-40 मि.ली.
अनुपान	: जल
(i) सारिवाद्यासव	: अनन्तमूल, नागरमोथा, पाठा आदि
(ii) मंजिष्ठाद्यरिथि	: मंजिष्ठा
(iii) लक्ष्माण्यि	: गुड़ची, दशमूल, त्रिकटु आदि
(iv) रक्त शोधकाण्यि	: अनन्तमूल, कांचनार, मंजिष्ठा आदि
5. कथाय/क्वाद	
मात्रा	: 20-30 मि.ली.
अनुपान	: मधु, जल
(i) दशमूल क्वाद	: दशमूल आदि
(ii) लक्ष्मिजिष्ठादि क्वाद	: मंजिष्ठा, त्रिकला, गुड़ची आदि
(iii) वृहत् मंजिष्ठादि क्वाद	: मंजिष्ठा, गुड़ची, निम्ब आदि
(iv) नवकार्पिक क्वाद	: त्रिफला, निम्ब, मंजिष्ठा, कुटकों आदि
(v) अमृतादि क्वाद	: गुड़ची, शुंथी, धन्यक आदि
(vi) वासादि क्वाद	: वासा, गुड़ची, एरण्ड आदि
6. धृत	
मात्रा	: 10-20 मि.ली.
अनुपान	: क्षीर (दुग्ध)
(i) बलाधृत	: बला, अतिबला, शतावरी आदि
(ii) पर्यक्ष धृत	: त्रायमाणा, तामलकी, शतावरी आदि
(iii) जीवनीय धृत	: दशमूल, पुनर्नवा, एरण्ड आदि
(iv) गुड़ची धृत	: गिलोय आदि
(v) शतावरी धृत	: शतावरी आदि

7. तैल	
मात्रा	: पान, अभ्यंग, बस्ति, नस्य अनुसार
अनुपान	: गुड़ची, शतावरी, मंजीठ आदि
(i) मधुपञ्चादि तैल	: मुलैठी, मुनक्का, खजूर आदि
(ii) सुकुमारक तैल	: गुड़ची, मुलैठी, लघुपंचमूल आदि
(iii) अमृताद्य तैल	: पद्माकाष्ठ, खश, मुलैठी आदि
(iv) खुड़कपंचक तैल	: मोम, मंजीठ, राल, अनन्तमूल आदि (बाह्य प्रयोग)
(v) पिण्ड तैल	: गुड़ची, मुनक्का, गम्भारी आदि
(vi) गुड़ची तैल	: अनन्तमूल, राल, मुलैठी आदि
(vii) महापिण्ड तैल	
8. बहिःपरिमार्जन औषध योग (For External Use)	
i. लेप—कृष्ण तिल, मधूच्छष्ट, दशाङ्ग लेप, तगरादि लेप या शतधैत धृत संधियों पर लगायें।	
ii. सेक—निम्ब पत्र या गुड़ची पत्र से अवगाहन करायें।	
iii. उपनाह—वातम स्तिंग उपनाह, तिलपिण्ड उपनाह का प्रयोग करायें।	
9. एकल औषध प्रयोग	
अमृता	: भल्गतक
सारिवा	: चोपचीनी
सुरजान	: बला आदि
गुग्गुल	
आदर्श चिकित्सा पत्र	
1. निदान परिवर्जन	
2. संशोधन चिकित्सा (यथोचित)	
3. बहिःपरिमार्जन चिकित्सा (यथोचित)	
4. संशमन चिकित्सा	
(i) प्रातः सायम्	
रस माणिक्य	: 125 मि.ग्रा.
गुड़ची सत्व	: 500 मि.ग्रा.
आतोग्यवर्धनी वटी	: 250 मि.ग्रा.
चोपचीन्यादि चूर्ण	: 2 ग्राम
मधु से	: 1×2 मात्रा

कायचिकित्सा	
(ii) कैशोर गुगुलु	: 2 वटी × तीन मात्रा
अमृता गुगुलु	: 2 वटी × तीन मात्रा
(iii) भोजनोत्तर मंजिष्ठाद्यरिट	: <u>20 मि.ली.</u>
समभाग जल से	: 1×2 मात्रा
(iv) अध्यार्थ	: पिण्डतैल स्थानिक प्रयोगार्थ
(v) शतावरी धूत दूध से	: <u>20 मि.ली.</u> 1×2 मात्रा
(vi) पथ्यसेवन	

पथ्यापथ्य

वातरक्त रोगी को निम्न पथ्य-अपथ्य आहार-विहार का प्रयोग कराना हितकर जैता है।
पथ्य¹

आहार

पुराण यव (जौ), गोधूम, शालि
चावल, विञ्चिक, प्रतुद्र मांसरस, अरहर,
बथुआ, चना, पेटा, मूँग, धूत, मसूर,
परवल, मोठ, मकोय, शतावर आदि।

अपथ्य²

आहार

कटु रस, उष्ण-गुरु पदार्थ, नमक, मद्य,
अम्ल, पिण्याक, कुल्थी, कांजी, मटर,
अधिष्ठन्दी, क्षार, दधि, मूली आदि।

विहार

दिवाशयन, आतप सेवन, व्यायाम,
मैथुन आदि।

- “पुराणा यवगोधूमनीवारा: शालिपटिका: । भोजनार्थं रसार्थं वा विञ्चिकरप्रतुदा हिता: ॥
आढक्यश्चणका मुद्रा मसूरा: समकुष्टका: । यूषार्थं बहुसर्पिका: प्रशस्ता वातशोणिते ॥”
(च.वि. 29/50-51)
- “दिवास्वप्नं समसंतापं व्यायामं मैथुनं तथा । कटूण्णं गुर्वभिष्यन्दि लवणाम्लं च वर्जयेत् ॥”
(च.वि. 29/49)

Latest Developments
GOUT (HYPERURICAEMIA)

Gout is a hereditary metabolic disorder.

Gout is not a single disease, the term is used to describe a number of disorders in which crystals of monosodium urate monohydrate derived from hyper uricaemic body fluids give rise to inflammatory arthritis, tenosynovitis, bursitis, cellulitis, tophaceous deposits, urolithiasis and renal disease. It is more prevalent in upper social classes and alcohol drinkers. It affects men after puberty and women after the menopause. Several different metabolic abnormalities may cause the hyperuricaemia.

Clinical Features

- Acute arthritis affects the big toe (MTR) in 75% of attacks. Occasionally, ankle, other toes, knees or fingers are affected.
- Joint is extensively painful, red, hot, swollen and very tender.
- When an attack of acute gouty arthritis develops, it usually begins at night with moderate pain that increases in intensity to the point where no body position provides relief.
- Tophi may occur on the outer ears, hands and feet.
- Hypertension, obesity, low grade fever, renal uric acid stone may occur.

Investigations

(i) Radiological

X-ray findings have characteristic "Punched-out" radiolucent areas around joint in which there are tophaceous deposits.

(ii) Laboratory

- Serum uric acid is greater than 6mg%
- ESR is raised
- Leucocytosis in acute phase
- Synovial fluid and tophi contain needle-shaped crystals

Management : Principles

- In Acute Attacks—Colchicine, Indomethacin & other Non Steroidal Anti Inflammatory drugs. (e.g. Naproxen).
- Long Term Therapy
 - Urate Lowering drugs (Uricosurics) such as Allopurinol, Probenacid may be given.
 - The diet should be well balanced and devoid of purine rich (Protein) foods.

• • • शुभ अवसर • • •

अध्याय-64

धमनी प्रतिचय (ARTERIOSCLEROSIS)

व्याधि परिचय

आचार्य चरक ने कफ दोष के नानात्मज विकारों में 'धमनी प्रतिचय' रोग का नाम उल्लेख किया है। जब शरीर में पायी जाने वाली धमनियों (Arteries) की दीवारों में कफ धातु (अपाचित मेद) का संचय होता है तो उससे उत्पन्न होने वाले विकार धमनी प्रतिचय (Arteriosclerosis) कहलाते हैं। यहां पर कफ धातु या अपाचित मेद से कोलेस्ट्रोल (Cholesterol) का ग्रहण किया जाना उचित है। इस धमनी प्रतिचय से धमनी गत व हृदय गत अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। आयुर्वेद में वर्णित समस्त संतर्पण जन्य रोग इस श्रेणी में आते हैं यथा मधुमेह, अतिस्थौल्य आदि।

निदान

धमनीप्रतिचय एक कफज रोग है। अतः इसके निदानों को हम निम्न बगों में विभक्त कर सकते हैं—

(1) आहारज निदान

- (i) मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध, गुरु व पिच्छिल अन्न का अधिक सेवन
- (ii) स्नेह, क्षीर, दधि, मिठान्न, अतिस्निग्ध आदि स्नेहवर्गीय द्रव्यों का अतिसेवन
- (iii) आनूप मांस का अति सेवन
- (iv) जलीय द्रव्यों का अतिसेवन
- (v) अत्यशन, अध्यशन, विषमासन में लिस रहना

(2) विहारज निदान

- | | |
|-------------------------------|------------------------|
| (i) दिवा शयन | (ii) व्यायाम नहीं करना |
| (iii) सुख पूर्वक शव्यासन करना | (iv) आलस्य |

धमनी प्रतिचय

(3) मानसिक कारण

- (i) तनाव, क्रोध

(4) अन्य कारण

- (i) मध्यावस्था (Age above 40 years)
- (ii) पारिवारिक इतिवृत्त (Hereditary)

सम्प्राप्ति

उपर्युक्त वर्णित निदानों के सेवन से रस-रक्त धातु का अतिपोषण होने लगता है। इन अति पोषित रस-रक्त धातुओं को व्यानवायु एक साथ सम्पूर्ण शरीर में पहुंचाती है। यह रस-रक्त धातुएं जिसमें अपाचित मेद (Low Density-Lipoprotein-LDL) भी रस-रक्त धातुएं जिसमें सर्वप्रथम यकृत में संग्रहित होते हैं, तत्पश्चात् मांस धातु (Muscles) में संचित होकर अन्त में धमनियों में संचित होने लगते हैं। इससे धमनियों का अन्तः विवर (Inner Space) सिकुड़कर कम होने लगता है। इस तरह धमनियों का चिरकारी संकोच हो जाता है और उनकी स्थिति स्थापकता (Elasticity) पहले जैसी नहीं रह पाती है। धेरे-धेरे संग पूर्ण रूप से होकर रस-रक्त धातुओं का विमार्ग गमन होने लगता है एवं धमनियों में रस-रक्त गत दबाव बढ़कर उच्च रक्तचाप सदृश व्याधि उत्पन्न होती है। इसलिये विभिन्न आचार्यों ने 'धमनीप्रतिचय' को 'धमन्युपलेप', 'अतिपूर्ण' संज्ञा भी दी है।

सम्प्राप्ति घटक

दोष	: कफ प्रधान वात दोष
दूष्य	: रस, रक्त, मेद, सर्वशरीर
स्रोतस्	: रसवह स्रोतस्, प्राणवह स्रोतस्
स्रोतो दुष्टि लक्षण	: संग, तत्पश्चात् विमार्ग गमन
अधिष्ठान	: सर्वशरीर गत धमनियां
अग्नि	: धात्वग्निमांद्य

लक्षण

धमनी प्रतिचय की अवस्था में शरीर में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

- (i) शरीर में भारीपन
- (ii) लालास्त्राव
- (iii) अरुचि
- (iv) अग्निमांद्य
- (v) मुखमाधुर्य

1. "इलेप्विकारांश विंशतिमत ऊर्ध्व व्याख्यास्याम; तद्यथा-तृतीय धमनीप्रतिचय, व्याख्याता भवन्ति ॥" (च.सू. 20/17)

कायचिकित्सा

- (vi) क्लम
 (vii) श्रमजन्य श्वास
 (viii) बिवन्ध
 (ix) मूर्छा
 (x) शिरोरोग
 (xi) हृदय रोग
 (xii) वृक्ष रोग
 (xiii) उच्च रक्तचाप आदि
- चिकित्सा सिद्धान्त**
- (i) निदान परिवर्जन यथा मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध, पौष्टिक कफ-मेद वर्धक भोज्य पदार्थों का त्याग
 (ii) आचार रसायन का नियमित सेवन
 (iii) कफ मेद नाशक उपचार करें
 (iv) उचित मात्रा में व्यायाम, प्राणायाम
 (v) लेखनीय, दीपनीय व हृदय महाकषाय की औषधियों को प्रयुक्त करना चाहिए।
- चिकित्सा**
1. **रस/भस्म/पिण्डी**

मात्रा	: 125-250 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, उष्ण जल
(i) रसराज रस	: रससिन्दूर, अप्रक, स्वर्ण आदि
(ii) मेदोहरविंडगादि लौह	: विंडग, त्रिफला, लौह, आदि
(iii) शिलाजत्वादि लौह	: शिलाजीत, त्रिकटु, स्वर्णमाक्षिक आदि
(iv) हृदयार्थ रस	: कज्जली, ताप्र भस्म, मकोय आदि
(v) प्रवाल पिण्डी	: प्रवाल, कुमारी आदि
(vi) अकीक पिण्डी	: अकीक, गुलाबजल आदि
(vii) नागर्जुनाभ्र रस	: वज्राभ्रक, अर्जुन आदि
 2. **वटी/गुण्गुलु**

मात्रा	: 250-500 मि.ग्रा.
अनुपान	: मधु, उष्ण जल
(i) आरोग्यवर्धनी वटी	: कुटकी, निम्ब, ताप्र आदि
(ii) नवक गुण्गुलु	: त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, गुण्गुलु आदि
(iii) अमृताद्य गुण्गुलु	: अमृता, एला, विंडग आदि

धर्मनी प्रतिचय

- (iv) प्रभाकर वटी : स्वर्णमाक्षिक, लौह, अप्रक, शिलाजतु आदि
3. **चूर्ण**
 मात्रा : 3-6 ग्राम
 अनुपान : उष्ण जल
 (i) पिप्पल्यादि चूर्ण : पिप्पली, वचा, यवक्षार आदि
 (ii) हरीत्क्यादि चूर्ण : हरीतकी, वचा, कर्चूर, पुष्कर मूल आदि
 (iii) ककुभादि चूर्ण : अर्जुन, वचा, रास्ना आदि
 (iv) पाठाद्य चूर्ण : पाठा, वचा, यवक्षार आदि
 (v) विंडगादि चूर्ण : विंडग, यवक्षार, लौह भस्म आदि
4. **व्याथ**
 मात्रा : 20-30 मि.ली.
 अनुपान : उष्ण जल
 (i) दशमूल व्याथ : दशमूल
 (ii) अर्जुन व्याथ : अर्जुन
5. **आसव/अरिष्ट**
 मात्रा : 20-30 मि.ली.
 अनुपान : जल
 (i) लोहारिष्ट : शालसरादिगण, पिप्पल्यादि गण, लौह आदि
 (ii) पार्थारिष्ट : अर्जुन, मुनका, मधूक पुष्प आदि
- पथ्यापथ्य**
पथ्य
 आहार : विहार
 मूँग, जौ, कोद्रव, मधु, परवल, अनार, व्यायाम, श्रम, उबटन, लंघन, उपवास सैंधव नमक, तक्र, शुण्ठी, आर्द्रक, लशुन, आदि। आमलकी, हरड़, उष्ण जल आदि।
- अपथ्य**
 आहार : विहार
 अध्यशन, विरुद्ध अत्र, मधुर, लवण, अम्ल रस, पिण्डी, मिष्ठान अति सेवन, गुड, खाण्ड, शर्करा, दधि : वेगधारण, आलस, सुखशय्यासन, अभ्यंग, दिवाशयन आदि।

अति सेवन आदि।

Latest Developments ARTERIOSCLEROSIS

A disease of the arterial vessels, marked by thickening, hardening and loss of elasticity in the arterial walls. This results in altered functions of tissues and organs. Changes may occur in the intima, media or both. Atherosclerosis is a most common type of arteriosclerosis involving Cholesterol deposits and Triglycerides.

Etiology

The cause is unknown. Risk factors include age, familial predisposition, sedentary lifestyle, hypertension, increased blood lipids (Particular'y Cholesterol & Triglycerides), obesity, cigarette smoking, Diabetes Mellitus, inability to cope with stress and male sex.

Symptoms

- (i) Depending on the organ-system involved.
- (ii) Intermittent claudication.
- (iii) Headache.
- (iv) Dizziness.
- (v) Memory defects.
- (vi) Changes in skin temperature and intensity of life.

Management : Principles

- (i) Avoidance of causes.
- (ii) Regular exercise.
- (iii) Diet low in saturated fats.
- (iv) Stress management.
- (v) Therapy of treatable disease such as obesity, Diabetes mellitus, Hypertension etc.
- (vi) Yoga, Pranayam, Meditation etc.

••• टॉप्पु अ० •••

अध्याय-65

तरल-वैद्युत-अम्ल-क्षार असन्तुलन जन्य विकार (WATER-ELECTROLYTE'S IMBALANCE)

व्याधि परिचय

मानव शरीर का 70% जल से निर्मित है। अस्थि जैसी कठोर धातु में भी 50% जल है। शारीरिक धातुओं के निर्माण के लिये एवं नित्य-प्रतिदिन होने वाली क्षतिपूर्ति (Wear and tear-phenomena) के लिये सन्तुलित आहार (Balanced-diet) के नियमित सेवन की आवश्यकता रहती है। इस सन्तुलित आहार में शाक तत्व (Carbohydrate), मांस तत्व (Proteins), वसा तत्व (Fats), खनिज लवण (Minerals and Salts), जल (Water) एवं जीवतिक (Vitamins) आदि तत्व समाहित होते हैं। इन सभी तत्वों से धातु निर्माण (Anabolism) व शक्ति निर्माण (Catabolism) होता है। आहार के जिस अंश से शरीर में शक्ति का निर्माण होता है, उसका एक प्रकार से नाश हो जाता है और जो अंश वच जाता है, वह मल-मूत्र के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है। जो आहार द्रव्य प्रकृति से लघु (Light) होते हैं, उनमें वायु एवं अग्नि महाभूत की प्रधानता होती है एवं जो द्रव्य गुरु (Heavy) होते हैं उसमें पृथ्वी व जल महाभूत की प्रधानता होती है। अतः मनुष्य को ऐसे आहार-द्रव्यों का नित्य-प्रतिदिन सेवन करना चाहिये जिससे स्वास्थ्य का अनुर्वत्तन (Maintenance) होता रहे अर्थात् स्वास्थ्य उत्तम बना रहे और जो रोग उत्पन्न न हुए हों (अनागतवाधा), उनकी उत्पत्ति न हो (As Prophylactic Medicine)²।

शरीर की क्षति की पूर्ति मुख्यतः मांसतत्व (Proteins), खनिज (Minerals), लवण (Salts) तथा जल के द्वारा होती है। कुछ अंशों में खनिज लवण सामान्यतः पेशी के संकोचन एवं अस्थि-दन्त निर्माण के लिये आवश्यक होते हैं। मानव शरीर में 5% खनिज लवण (Mineral Salts) होते हैं। ये खनिज लवण शरीर के विभिन्न स्थानों, एन्जाइम्स व रसों में घुले रहते हैं एवं उनकी अम्लीयता व क्षारीयता को स्थिर रखते हैं।

1. “पटिकाङ्गालिमुद्वांश सैन्धवामलके यवान्। आन्तरीक्षं पयः सर्पिर्जाङ्गलं नधु चाभ्यसेत्॥”
(च.सू. 5/12)
2. “तच्च नित्यं प्रयुज्जीत स्वास्थ्यं येनानुर्वत्ते। अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिरं च यत्॥”
(च.सू. 5/13)

तरल-वैद्युत असन्तुलन जन्य विकार एवं चिकित्सा (Water-Electrolytes Imbalance)

जल शरीर के लिये पोषण धातु है। यह शरीर के 70% भाग में उपस्थित रहता है। शरीर के अम्ब-प्रत्यम्बों की क्रियाशीलता एवं अनेक प्रकार की जीव रासायनिक (Biochemical) क्रियाओं के कारण इसका क्षय होता रहता है। अतः जल का अल्प-मात्रा में बार-बार पीना आवश्यक है। शास्त्रों में कहा गया है कि जो मनुष्य प्रातःकाल जलपान करता है, मध्याह्न में भोजन पश्चात् तक पीता है एवं रात्रि को भोजन पश्चात् दूप पीता है उसे चिकित्सक की आवश्यकता नहीं पड़ती है अर्थात् वह स्वस्थ एवं सुखी रहता है। जल शरीर में उत्पन्न विभिन्न अनावश्यक त्याज्य विषेले पदार्थों को घोलक (As a solvent) मूत्र व स्वेद के रूप में शरीर से बाहर उत्सर्जित करता है। पुरी (मल) के साथ भी जल का निष्कासन होता है। आहार में जल की मात्रा कम होने से आहार रस का आन्त्रकला (Intestinal mucous membrane) द्वारा शोषण ठीक तरह से नहीं हो पाता है। अतः शरीरकोशाओं को धातुपाक (Metabolism) हेतु समुचित द्रव्यों की उपलब्धि व मलों के यथोचित प्रमाण में उत्सर्जन (Excretion) हेतु जलापूर्ति की आवश्यकता निरन्तर रहती है। रक्त व लसीका का अधिकांश भाग जल ही है। अतः जलाल्पता व जलाधिक्यता के कारण, लक्षण व चिकित्सा को जानना आवश्यक है, जो निम्नानुसार हैं—

जलाल्पता (Dehydration)

कारण

मनुष्य शरीर में जलाल्पता (Dehydration) निम्न मुख्य कारणों से उत्पन्न हो सकती है—

- उदकमेह या मेह रोग (Diabetes insipidus)
- अंशुघात (Heat stroke)
- वृक्ष विकार (Glomerulonephritis)
- मुख मार्ग में निगलने में अवरोध (Dysphagia)
- भोजन नली का अवरोध (Oesophagus Constriction)
- मनोव्यसाद (Depression)
- सन्यास (Coma)
- वृद्धावस्था (Old age)
- अतिसार (Diarrhoea)

- विसूचिका (Cholera)
- अत्यधिक रक्तसाव (Excessive Bleeding)
- मांस पदार्थ, प्रोटीन एवं लवण का अत्यधिक सेवन आदि (Excess Protein and salt intake etc)
- छाँटि (Vomiting)
- दग्ध (Burn & Scald)

लक्षण

यदि जल या द्रव-तरल पदार्थों का अल्प मात्रा में सेवन किया जाय, ग्रीष्म ऋतु में स्वेद (Sweat) अतिमात्रा में उत्सर्जित होने लगे तो मूत्र में जल की मात्रा घटने से मूत्र का घनत्व बढ़ जाता है जिससे मूत्रागत मलभूत लवण (Salts) रूक्षता को प्राप्त होकर अश्मरी व शर्करा (Calculus & Gravel) रूप में परिणित हो सकते हैं। इसी प्रकार पित्ताशय में पित्त रूक्षता व घनता को प्राप्त होकर पित्ताश्मरी (Gall-Stone) को प्राप्त हो सकता है। महास्रोतस् (Gastrointestinal tract) में समुचित मात्रा में जल नहीं होने पर मल रूक्षता, शुक्कता व घनता को प्राप्त होकर ग्रथित रूप में मलावरोध (विबन्ध) आधान, आनाह, अर्श, उदावर्त आदि रोगों को उत्पन्न करता है। कभी-कभी जल की अत्यधिक कमी होने से मल अश्मरी रूप में परिवर्तित होकर मलाश्मरी (Fecolith) बनाता है। शरीर में जल की न्यूनता (Dehydration) होने से मल-मूत्र प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। विसूचिका (Cholera) रोग में मूत्राधात लक्षण पाया जाता है। शरीर में रस-रक्त की कमी होने से धमनी शैथिल्य होकर निम्न रक्तचाप (Hypotension) की उत्पत्ति हो जाती है। शरीर में जलाल्पता होने पर निम्न लक्षण व चिह्न (Signs/Symptoms) उत्पन्न हो सकते हैं—

- जिहा शुक्कता (Dry tongue)
- त्वचा पर झुर्रियां पड़ना (Wrinkling of Skin)
- त्वचा की तन्त्रता कम होना (Loss of skin elasticity)
- त्वक् पीता व शीतला (Yellow & Cold skin)
- तृष्णा (Excessive thirst)
- दौर्बल्य (Weakness)
- हृदद्रव (Palpitation)
- मूत्राधात (Decreased urinary output)
- स्वल्प चेष्टा (Reduced activities)
- मूत्र की विशिष्ट गुरुता बढ़ना (Increased-Specific gravity of Urine)
- मानसिक अशान्ति (Mental Confusion) आदि

चिकित्सा

- शरीर में जल अत्यधि उत्पन्न होने पर निम्न उपचार लाभकारी रहते हैं—
- मुखमार्ग से बार-बार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में जल पान
 - सिद्धोदक, पठंगपानीय का सेवन
 - विभिन्न यूप, पेय, मण्ड, विलेपी इत्यादि का सेवन
 - शर्करोदक व लवणोदक का सेवन
 - सद्यः संतर्पक द्राशा, खर्जूर, परुपक (फालसा) आदि फलों से तर्पण चिकित्सा
 - गुदमार्ग से सद्यः संतर्पक वस्त्र प्रयोग
 - शिरामार्ग से शर्करामिश्रित जलदान (Intravenous solutes fluid therapy e.g. Dextrose 5%, 10%)
 - वैद्युत अम्ल-क्षार (Electrolytes) का सन्तुलन बनाए रखना
 - निदान परिवर्जनम् (Avoidance of Cause)
 - कारण रोग की चिकित्सा व्यवस्था करना यथा अतिसार, विसूचिका, छट्टि आदि रोगों की चिकित्सा करना
 - ओ-आर-एस (Oral Rehydration Solution) घोल पिलाना
 - नाड़ी गति एवं रक्तचाप को सामान्य अवस्था में लाकर समअनुपात में बनाए रखना (To maintain normal Pulse rate & Blood pressure)

जलाधिक्यता

(Excess Water or Water Intoxication)

जब विभिन्न कारणों से शरीर में जल की मात्रा अत्यधिक बढ़ जाती है तो उसे 'जलाधिक्यता' या 'जलविपाकता' कहते हैं। इसके निम्न कारण हो सकते हैं—

- तीव्र वृक्षाघात (Acute Renal Failure)
- हामोन जन्य विकृतियाँ यथा
 - Glucocorticoid deficiency e.g. Addison's disease
 - Diminished Antidiuretic Hormone (ADH) Secretion
 - Myxoedema
- जीर्ण दारुण वृक्षाघात (Chronic severe-Renal Failure)
- जल एवं बीयर का अत्यधिक पान (Compulsive Water and Beer drinking)
- अव्यवस्थित शिरागत जल प्रतिपूरण (Inappropriate Intravenous fluid therapy)

- शोथ (Oedema)
- मूत्रालग्ना व मूत्रांपात (Oliguria & Anuria)
- औषध जन्य (Drug Induced-Carbamazepine etc.)

लक्षण

- उल्लेश (Nausea)
- छाँटि (Vomiting)
- शिरःशूल (Headache)
- आलस्य (Drowsiness)
- प्रलाप (Delirium)
- सन्नास (Coma)
- परिसरणीय शोथ (Peripheral edema)
- मृत्यु (Death)

चिकित्सा

शरीर में जलाभियत (Over-hydration) होने की स्थिति में निम्न सिद्धान्तानुसार चिकित्सा करना लाभकारी रहता है—

- निदान परिवर्जन
- लाशाणिक चिकित्सा व्यवस्था
- मूत्र विरेचन
- मल विरेचन
- स्वेदवर्धक या स्वेदल चिकित्सा
- जल एवं नमक के घोल का अन्तःशिरीय सूचीबोध (Intravenous Hypertonic Saline Solution)

Body Fluids

Body fluids are present in human body in following two forms.

- Extracellular (Interstitial) Fluid**

Tissue fluid or fluid occupying spaces between tissue cells or outside the cells is called as "Extra cellular (Interstitial) Fluid". It contains fluid derived from plasma in the adjacent capillaries. It is made up of blood, lymph, cerebrospinal fluid and tissue fluid etc. It contains mainly Sodium (Na^+). 20% of total body fluid is extracellular. It is diminished in Diarrhoea, Vomiting and Cholera etc. like conditions.

II. Intracellular Fluid

It is the fluid contained within cells and constitutes about 50% of total body weight. 80% of total body fluid is intracellular. It contains mainly Potassium (K^+). It is also called protoplasm of cell. It is diminished in conditions like ascites, oedema, hydrothorax and pericardial effusion etc. Muscles weakness is a symptom of Potassium (K^+) loss.

वैद्युत असन्तुलन

(Electrolytes imbalance)

परिचय

मुख्य रूप से निम्न तत्वों द्वारा शरीर का निर्माण होता है—

- i. कार्बन (C)
- ii. हाइड्रोजन (H)
- iii. आक्सीजन (O_2)
- iv. नाइट्रोजन (N_2)
- v. फास्फोरस (P)
- vi. सोडियम (Na)
- vii. पोटेशियम (K)
- viii. क्लोरीन (Cl)
- ix. कैल्शियम (Ca)
- x. लौह (Fe)
- xi. मैग्नीशियम (Mg)
- xii. गन्धक (S)

उपर्युक्त तत्व शरीर में विभिन्न यौगिक (Compounds) के रूप में उपस्थित होते हैं। इन यौगिकों को निम्न दो भागों में बांटा जा सकता है—

I. सेन्द्रिय यौगिक

II. निरिन्द्रिय यौगिक

I. सेन्द्रिय यौगिक

वे यौगिक जिनमें कार्बन तत्व होता है उन्हें सेन्द्रिय यौगिक कहा जाता है। इनमें प्रधान रूप से कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा, जीवतिक (Vitamins) व एन्जाइम्स का समावेश किया जाता है।

तरल-वैद्युत-अम्ल-क्षार असन्तुलन जन्य विकार

II. निरिन्द्रिय यौगिक

मानव शरीर में लगभग 5% खनिज लवण होते हैं। ये खनिज लवण धातु निर्माण (Tissue Formation) की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान निभाते हैं। शरीर में इनका आक्सीकरण नहीं होता है, अतः तापोत्पत्ति (उर्जा उत्पादन) इनके द्वारा नहीं होती है। ये खनिज लवण प्रायः आहार में सेन्द्रिय संयोग के रूप में मिलते हैं, जैसे कैल्शियम दुग्ध से, लौह व गन्धक मांस तत्व से।

ये खनिज लवण शरीर के विभिन्न स्थावों और रसों में घुले रहते हैं एवं उनकी अम्लीयता व क्षारीयता (Balanced pH) को स्थिर बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

विभिन्न वैद्युत असन्तुलन जन्य विकार (Electrolytes Imbalance)

वैद्युत असन्तुलन जन्य कुछ प्रमुख विकारों का वर्णन संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

I. सोडियम हास

(HYponatraemia)

सामान्य मात्रा (प्लाजमा/सीरम) = 137–144 m mol/Litre

सोडियम (Na) वहि: कोशिकीय द्रव (Extracellular Fluid) का मुख्य घटक तत्व है। सोडियम की क्षति होने पर शरीर के जल की मात्रा उसके (Na के) साथ सन्तुलित रहने की मात्रा तक घट जाती है। सोडियम हास के निम्न कारण होते हैं—

कारण

- (i) अत्यधिक स्वेद साव (Excessive Sweating)
- (ii) छर्दि (Persistent vomiting)
- (iii) अतिसार (Diarrhoea)
- (iv) ग्रहणी (Dysentery)
- (v) विसूचिका (Cholera)
- (vi) जलात्पत्ता (Dehydration)
- (vii) मधुमेह (Diabetes Mellitus)
- (viii) वृक्त रोग (Chronic Pyelonephritis, Addison's disease)

लक्षण

शरीर से सोडियम आयन हास होने की स्थिति में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

- (i) दुर्बलता (Weakness)
- (ii) भारक्षय (Loss of weight)

- (iii) तृष्णा (Excessive Thirst)
- (iv) त्वक्शुष्कता (Dry and inelastic skin)
- (v) जिह्वा शुष्कता (Dry tongue)
- (vi) मूत्राल्पता (Oliguria)
- (vii) मूत्ररंग परिवर्तन (Dark Urine)
- (viii) निम्न रक्त चाप (Hypotension)
- (ix) पिण्डिकोद्देष्टन (Muscles Cramps in legs)
- (x) शीतहस्तपाद (Cold Hand & feet)
- (xi) परिसरणीय रक्तवत्ता (Peripheral cyanosis)
- (xii) मूत्रविषमयता (Uraemia)
- (xiii) अन्तःप्रविष्ट अक्षिगोलक (Shrunken Eyes)
- (xiv) निम्न नेत्र दाब (Low Intraocular pressure)
- (xv) विभिन्न नाड़ी जन्य रोग (Nerve disorders)
- (xvi) तीव्र नाड़ी गति (Tachypnoea & weak pulse)

चिकित्सा

शरीर के अन्तर्गत रक्त में सोडियम की मात्रा में कमी (Serum Sodium Depletion) होने पर निम्न चिकित्सा सिद्धान्तों का पालन करें—

- (i) निदान परिवर्जन
- (ii) लाक्षणिक चिकित्सा व्यवस्था
- (iii) मुख मार्ग से लवण युक्त जल (Saline water) प्रयोग
- (iv) अन्तः शिरीय आइसोटोनिक लवण जल घोल प्रयोग (Administration of Isotonic Saline Sodium by Intravenous drip method)।

II. सोडियम आधिक्य

(HYPERNATRAEMIA)

सामान्यतः शारीरिक कोशाओं में जलाधिक्यता (Water Retention) के साथ ही कोशाओं में सोडियम का सामान्य से अधिक मात्रा में संचय होता है। इसके प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं—

कारण

- (i) हृदयाधात (Heart Failure)
- (ii) शिरावरोध (Venous obstruction due to Neoplasm, Thrombosis)
- (iii) शरीर में प्रोटीन की कमी (Protein Malnutrition)
- (iv) शरीर में सोडियम अवशोषण की मात्रा में कमी (Malabsorption of Sodium)
- (v) यकृत विकृति (Cirrhosis of liver)

तरल-वैद्युत-अम्ल-क्षार असन्तुलन जन्य विकार

- (vi) महास्रोतस् से प्रोटीन का क्षरण (Protein losing enteropathy)
- (vii) वृक्षरोग जन्य शोथ (Nephrotic-Syndrome)
- (viii) शरीर में लसीका संबहन में विकार (Lymphatic obstruction due to Neoplasm, Filaria)
- (ix) जीर्ण वृक्त आधात (Chronic Renal Failure)
- (x) मूत्राल्पता या मूत्राघात (Oliguria or Anuria)
- (xi) रक्तगत प्रोटीन/एल्बुमिन की मात्रा में कमी (Hypoproteinaemia/Hypoalbuminaemia)

लक्षण

शारीरिक कोशाओं में सीरम सोडियम की मात्रा में कमी के कारण शरीर में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

- (i) चेतना में कमी (Decreased level of consciousness)
- (ii) मूत्र निष्कासन में कमी (Decreased urinary output)
- (iii) परिसरणीय फुफ्फुसगत शोथ (Peripheral Pulmonary-Oedema)
- (iv) फुफ्फुसावरण जलसंचय (Pleural effusion)
- (v) जलोदर (Ascites)
- (vi) उच्चरक्तचाप (Hypertension)
- (vii) मूत्राल्पता (Oliguria)
- (viii) मांसपेशीगत स्फुरण अथवा घात (Muscle twitching with muscles paralysis)
- (ix) हृदयपेशियों की कार्य-अक्षमता (Decreased cardiac output)

चिकित्सा

रक्तगत (सीरम) सोडियम अधिकता की स्थिति में निम्न चिकित्सा व्यवस्था लाभकारी रहती है—

- (i) निदान परिवर्जन
- (ii) लाक्षणिक चिकित्सा व्यवस्था
- (iii) मूत्रल औषध प्रयोग (Diuretics)
- (iv) शरीर में प्लाज्मा प्रोटीन का शिरा मार्ग से प्रवेश (Plasma Protein infusion)
- (v) शिरामार्ग से शरीर में जलीयांश आपूर्ति (Fluid replacement e.g. Intravenous Dextrose, Ringer Lactate Solution)
- (vi) रक्तगत विषाक्त पदार्थों को शरीर से बाहर निकालना (Haemo or Peritoneal Dialysis)
- (vii) भोजन में अल्प सोडियम देना (Dietary restriction of Sodium)

III. पोटेशियम हास (HYPOKALAEMIA)

सामान्य मात्रा (प्लाजमा/सीरम) = 3.5-4.8 m mol/Litre

शारीरिक कोशाओं में सीरम पोटेशियम की मात्रा निर्धारित सीमा से अल्प हो जाने की अवरथा को सीरम पोटेशियम हास (Hypokalaemia) कहा जाता है। यह अन्तःकोशीय द्रव (Intracellular) का मुख्य घटक है। सीरम पोटेशियम हास के मुख्य कारण निम्न हैं—

कारण

- (i) तीव्रतासार (Severe Diarrhoea)
- (ii) छर्दि (Vomiting)
- (iii) भुक्त आहार में पोटेशियम की कमी (Inadequate dietary intake of Potassium)
- (iv) बृहद् आन्त्र शोथ (Colitis)
- (v) विरेचन कर्म का अत्यधिक प्रयोग (Frequent use of Laxatives)
- (vi) नाड़ीब्रण (Fistula)
- (vii) मधुमेह (एसिडोसिस) (Diabetes mellitus)
- (viii) मूत्रल औषध (Diuretics e.g. Thiazide)
- (ix) चयापचय विकृति जन्य क्षारीयता (Metabolic alkalosis)
- (x) डायलिसिस (Haemo-peritoneal Dialysis)

लक्षण

शारीरिक कोशाओं में सीरम पोटेशियम निर्धारित मात्रा से कम मात्रा में उपलब्ध होने की स्थिति में शरीर में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

- (i) मांसपेशी दौर्बल्य (Muscles weakness)
- (ii) भ्रम (Dizziness)
- (iii) तुष्णा (Thirst)
- (iv) प्रमोह (Mental Confusion)
- (v) आक्षेप (Tetany)
- (vi) क्लम (Fatiguability)
- (vii) अत्यधिक मूत्रसाव (Polyuria)
- (viii) हृदगति अनियमितता (Cardiac Arrhythmia)
- (ix) ई.सी.जी में हृदय रोग सदृश विकृतियाँ (ECG Changes-ST segment depression, flattening and inversion of the T wave, and prominent U wave)

चिकित्सा

शारीरिक कोशाओं में सीरम पोटेशियम की अल्पता की स्थिति में निम्न उपाय किए जाने आवश्यक होते हैं—

- (i) निदान परिवर्जन
- (ii) लाक्षणिक चिकित्सा व्यवस्था
- (iii) मुख मार्ग से पोटेशियम युक्त पदार्थों का अधिक सेवन (Oral potassium through milk, meat extracts, fruit juices, honey etc.)
- (iv) शिरागत मार्ग से शरीर में पोटेशियम प्रवेश (Administration of Intra Venous Potassium as Potassium Chloride)

IV. पोटेशियम आधिक्य

(HYPERKALAEMIA)

शारीरिक रक्त (सीरम/प्लाजमा) में जब पोटेशियम की मात्रा निर्धारित सीमा से अधिक हो जाती है तो परिणाम स्वरूप मूत्राल्पता, मूत्रकृच्छ्रता या मूत्राधात सदृश स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इन स्थितियों को (Hyperkalaemia) रोग कहा जाता है। इसके निम्न कारण होते हैं—

कारण

- (i) तीव्र वृक्षाधात (Acute Renal Failure)
- (ii) मूत्राल्पता (Oliguria)
- (iii) मूत्राधात (Anuria)
- (iv) जीर्णदारुण वृक्षाधात (Severe Chronic-Renal Failure)
- (v) एडिसन्स डिसीज (Addison's disease)
- (vi) हाइपोएल्डोस्टीरोनिजम (Hypoaldosteronism)
- (vii) चयापचय जन्य या श्वसन बंधी अम्लता (Metabolic or Respiratory Acidosis)
- (viii) पोटेशियम स्पेरिंग मूत्रल औषध का अति प्रयोग (Excess potassium sparing diuretics)
- (ix) पोटेशियम युक्त द्रव्यों का अति प्रयोग (Excess potassium supplements)
- (x) दग्ध (Burn) होना
- (xi) पिच्चित ब्रण (Crushing injury)
- (xii) जीर्ण संक्रमण होना (Severe infection)

लक्षण

शारीरिक कोशाओं में सीरम पोटेशियम निर्धारित मात्रा से अधिक उपलब्ध होने की स्थिति में शरीर में निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—

- (i) दुर्बलता (Generalised skeletal muscles-weakness)
- (ii) पक्षाघात (Paralysis)
- (iii) हृदय में वैद्युत संवहन में अनियमितता (Impaired electrical conduction in the heart)
- (iv) निलय फिब्रिलेशन (Ventricle fibrillation)
- (v) अचानक हृदयाघात (Sudden cardiac Arrest)
- (vi) आलस्य-तुक्रा (Drowsiness-Sleepiness)

चिकित्सा

शारीरिक कोशाओं में सीरम पोटेशियम की अधिकता की स्थिति में निम्न उपयोग किए जाने आवश्यक होते हैं—

- (i) निदान परिवर्जन
- (ii) लाक्षणिक चिकित्सा व्यवस्था
- (iii) शरीर में कैल्शियम ग्लूकोनेट का प्रवेश कराना
- (iv) शरीर में सोडियम बाइकार्बोनेट का प्रवेश कराना
- (v) इन्सुलिन व ग्लूकोज को शिरा मार्ग से देना
- (vi) वृक्षाघात में डायलिसिस (Hemodialysis in Chronic Renal Failure)

अन्य खनिज लवण अभाव जन्य रोग

- (i) फास्फोरस (P)—शरीर में फास्फोरस तत्व की कमी होने से शारीरिक वृद्धि रुक जाती है। अस्थि एवं दन्त का क्षीण विकास होता है।
- (ii) क्लोरीन (Cl)—शरीर में क्लोरीन क्लोराइड के रूप में उपस्थित रहती है। प्लाज्मा/सीरम में इसकी सामान्य मात्रा 96–108 m mol/litre रहती है। इसकी कमी होने पर शरीर का भार क्षय होकर पाचन विकार हो जाते हैं। शरीर की जल धारण शक्ति का भी झास हो जाता है।
- (iii) कैल्शियम (Ca)—मानव शरीर के सीरम/प्लाज्मा में कैल्शियम की सामान्य मात्रा 2.2–2.6 m mol/litre होती है। इसकी कमी होने से अत्यधिक रक्तस्राव होता है। अस्थि व दन्त का विकास रुक जाता है। अस्थि भंगुरता बढ़ जाती है। कभी-कभी अस्थिशोष (Osteoporosis) भी उत्पन्न हो जाता है।

तरल-वैद्युत-अम्ल-क्षार असन्तुलन जन्य विकार

(iv) लौह (Fe)—शरीर में सीरम/प्लाज्मा में लौह (Iron) की सामान्य मात्रा पुरुषों में 13–32 u mol/litre एवं स्त्रियों में 11–29 u mol/litre होती है। इसकी कमी होने पर पाण्डु व दुर्बलता हो जाती है। शरीर में लौह तत्व की अधिकता होने पर हीमोसिडेरोसिस (Hemosiderosis) नामक व्याधि उत्पन्न होती है। (Abnormal accumulation of Iron in tissues such as liver and spleen)

(v) मैग्नीशियम (Mg)—शरीर में सीरम/प्लाज्मा में मैग्नीशियम की सामान्य मात्रा 0.7–1.0 m mol/litre होती है। इसकी मात्रा सामान्य से कम होने पर मस्तिष्क दुर्बलता, पाचन विकार, शारीरिक दुर्बलता आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

(vi) गन्धक (S)—शरीर में गन्धक तत्व की कमी होने पर त्वक् विकार व शारीरिक वृद्धि का ह्रास हो सकता है।

(vii) आयोडीन (I₂)—शारीरिक सीरम/प्लाज्मा में T₃ (Tri-iodothyronine), T₄ (free Thyroxine) एवं TSH (Thyroid Stimulating Hormone) के रूप में रहता है। इनकी सामान्य मात्रा निम्नानुसार है—

T ₃	1.5	3.1 n mol/litre
T ₄	8.8	23.1 p mol/litre
TSH	0.40	4.8 u litre

शरीर में आयोडीन की कमी होने पर विभिन्न विकार उत्पन्न हो सकते हैं। इनमें से गलगण्ड (Goitre), अवटुगान्थि वृद्धि एवं चयापचय विकार मुख्य हैं।

(viii) ताम्र (Cu)—शारीरिक सीरम/प्लाज्मा में कॉपर की सामान्य मात्रा 8–24 u mol/litre होती है। शरीर में इसकी कमी होने पर रक्ताल्पता (Anaemia), यकृतविकार (Liver disorders), शिवत्र (Leucoderma) एवं अन्य त्वचा विकार उत्पन्न हो सकते हैं। शरीर में इसकी मात्रा की अधिकता से विल्सन डिसीज (Wilson's disease-Hepatolenticular degeneration) उत्पन्न हो सकता है।

(ix) मैनगनीज (Mn)—शरीर में मैनगनीज की कमी होने पर शारीरिक वृद्धि रुक जाती है।

(x) जस्ता-जिंक (Zn)—शारीरिक सीरम/प्लाज्मा में जस्ते की सामान्य मात्रा 9–17 u mol/litre होती है। शरीर में इसकी मात्रा कम होने पर शरीर की वृद्धि रुक जाती है, क्षुधा ह्रास, वृषण ह्रास एवं ब्रण भने में देरी हो सकती है। गर्भावस्था में जिंक की कमी होने पर बच्चे को विभिन्न वृद्धि विकार (Developmental disorders) हो सकते हैं।

अम्ल-क्षार के असन्तुलन जन्य विकार

(ACID-BASE DISTURBANCES)

परिचय

मानव शरीर में अम्लीयता व क्षारीयता का यथोचित प्रमाण (Balanced pH) में रहना अनेक शारीरिक क्रियाओं के लिये आवश्यक है। विषम प्रमाण में होने पर ये अम्ल व क्षार अनेक विकारों को उत्पन्न कर सकते हैं। ये अम्ल व क्षार जलाकर्षण शक्ति (Osmotic Pressure) के कारण, रस, रक्त, धातु, मल, मूत्र आदि में जल का सम्यक् प्रमाण बनाये रखते हैं।

I. ACID-BASE BALANCE

Acid & Base balance are maintained in the body by the mechanism by which the acidity and alkalinity of body fluids are kept in a state of equilibrium so that the pH of arterial blood is maintained at approx. 7.35-7.45. This is accomplished by the action of buffer system of the blood and the regulatory (Homeostasis) functions of the respiratory and urinary systems. Disturbances in acid-base balance result in acidosis or alkalosis.

संहिता ग्रन्थों में अम्ल, लवण व क्षार के अतिसेवन से विभिन्न विकारों का उत्पन्न होना उल्लिखित है जो निम्नानुसार है—

अम्ल रस अतिसेवन जन्य रोग

शरीर में अम्ल रस का निर्माण पृथक् व अग्नि महाभूत प्रधान द्रव्यों के सेवन से होता है। इसके अधिक मात्रा में सेवन से शरीर में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।—

- i. दन्तहर्ष
- ii. तृष्णा
- iii. रोमाञ्च
- iv. शोथ
- v. भ्रम
- vi. तिमिर

1. "स एवं गुणोऽप्येक..... । हृदयं च॥"
(च.सू. 26/43-2)

- vii. दाह
- viii. पित्त व रक्तज विकार आदि।

लवण रस अति सेवन जन्य रोग

शरीर में लवण रस का निर्माण जल व अग्नि महाभूत प्रधान द्रव्यों के सेवन से होता है। इसके अत्यधिक सेवन से शरीर में निम्न विकार उत्पन्न हो सकते हैं।—

- i. रुधिर वृद्धि
- ii. पिपासा
- iii. मूर्छा
- iv. ज्वर
- v. शोफ
- vi. बली-पलित
- vii. खालित्य
- viii. रक्टपित्त, अम्लपित्त, वातरक्त
- ix. विसर्प, विचर्चिका
- x. इन्द्रलुप्त
- xi. पुस्त्वशक्तिनाश
- xii. पितज विकार आदि।

क्षार अतिसेवन जन्य रोग

क्षार उष्ण-तीक्ष्ण होने से शरीर में क्लेद उत्पन्न करता है। इसके अतिसेवन से शरीर में निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।—

- i. केशपतन
- ii. पलित
- iii. खालित्य
- iv. दृष्टिनाश
- v. हृदपीड़ा
- vi. पुस्त्व शक्ति नाश आदि।

अम्ल उत्पादक पदार्थ

फास्फोरस (P), गंधक (S), क्लोरीन (Cl) आदि तत्वों से शरीर में अम्लीयता बनी रहती है। यह तत्व मांस, अण्डा, दालों, सूखे फल, दधि, तक्र, प्याज, चावल, जौ, मक्का आदि में प्रचुरता से पाए जाते हैं।

1. "स एवं गुणोऽप्येक..... । विकारानुपजनयति ॥"
2. "क्षारः । भुज्जीत ॥"

(च.सू. 26/43-3)

(च.वि. 1/17)

क्षार उत्पादक पदार्थ

कैल्शियम (Ca), पोटेशियम (K), सोडियम (Na), लौह (Fe) व मेग्नीशियम (Mg) आदि तत्व से शरीर में क्षारीयता बनी रहती है। ये तत्व पत्ते वाले शाक, पालक, फूलगोभी, आलू, मूली, नारंगी, सेव, केला आदि में प्रचुरता से पाए जाते हैं।

अम्ल असन्तुलन जन्य विकार (ACIDOSIS)

Acidosis is an actual or relative increase in the acidity of blood due to an accumulation of Acids (as in Diabetic-Acidosis or Renal Disease) or an excessive loss of bicarbonate ions (as in Renal-Disease) in the body.

In acidosis the hydrogen ion concentration of the fluid is increased & it results in lowered pH value. Acidosis is mainly of two types—

- I. Metabolic Acidosis
- II. Respiratory Acidosis

I. Metabolic Acidosis

It is the acidosis resulting from an increase in acid in the body other than the carbonic acid. The causes are—

Causes

(a) With High Anion Gap

- i. Ketoacidosis-Diabetic, Starvation, Alcoholic etc.
- ii. Lactic acidosis-shock, cardiac arrest, hypoxia, biguanide drugs etc.
- iii. Impaired liver functions.

(b) With normal Anion Gap

- i. GIT disturbances-Diarrhoea, Vomiting, Severe dehydration, fistula etc.
- ii. Renal tubular acidosis.
- iii. Excessive ingestion of acids or acid-salts.
- iv. Rapid Intravenous hydration etc.

Signs/Symptoms

- i. Lethargy
- ii. Drowsiness
- iii. Headache
- iv. Diminished muscle tone
- v. Diminished deep tendon Reflexes
- vi. Hyperventilation

- vii. Cardiac dysrrhythmias
- viii. Muscles weakness
- ix. Flaccidity
- x. GIT-Nausea, vomiting, diarrhoea, and abdominal pain etc

II. Respiratory Acidosis

It is the acidosis caused by retention of Carbon dioxide in the body due to pulmonary insufficiency. The causes are—

Causes

- i. Lung disorders-Chronic Obstructive Pulmonary Diseases (C.O.P.D.), Large airways obstruction, severe Asthma, Emphysema, Chronic Bronchitis etc.
- ii. Respiratory centre disorder-due to drugs such as Opiates, Barbiturates, Benzodiazepines, organic disease affecting respiratory control etc.
- iii. Neuromuscular and skeletal abnormalities such as poliomyelitis, myaesthenia gravis, motor neurone disease, severe obesity, acute infective-polyneuritis etc.

Signs/Symptoms

- i. Headache
- ii. Restlessness
- iii. Irritability
- iv. Somnolence (Prolonged Drowsiness)
- v. Disorientation
- vi. Blurred vision
- vii. Fine or flapping tremors
- viii. Depressed reflexes
- ix. Cardiac dysrrhythmias
- x. Dyspnoea (Hypoventilation)

Other Acidosis

- | | |
|------------------------------|------------------------------------|
| i. Diabetic acidosis | Due to Ketone bodies accumulation. |
| ii. Lactic acidosis | Due to Lactic acid accumulation. |
| iii. Renal acidosis | Due to impaired-kidney functions. |
| iv. Hyperchloraemic acidosis | Due to excessive chlorides |

Treatment of Acidosis

- i. निदान परिवर्जन (Avoidance of causes)
- ii. लाक्षणिक चिकित्सा व्यवस्था (Symptomatic treatment)



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By

Avinash/Shashi

**[creator of
hinduism
server]**

- iii. For metabolic acidosis
 - Intravenous Sodium Bicarbonate
 - Intravenous fluids
 - Insulin in Diabetic Acidosis
 - Oxygen therapy
 - Mechanical Ventilation
 - Promote Chest Expansion

- iv. For Respiratory acidosis
 - Mechanical Ventilation
 - Inhalation therapy
 - Intravenous fluids
 - Oxygen therapy

क्षार असन्तुलन जन्य विकार (ALKALOSIS)

Alkalosis can be defined as an actual or relative increase in blood alkalinity due to an accumulation of alkalis or reduction of acids. It is mainly of two types—

- I. Metabolic alkalosis
- II. Respiratory alkalosis

I. Metabolic alkalosis

Alkalosis in which plasma bicarbonate is increased and there is a proportionate rise in the plasma concentration of carbon dioxide. This is usually the result of increased loss of acid from the stomach or kidney, potassium depletion accompanying diuretic therapy, excessive alkaline intake or continued severe adrenal gland hyperactivity.

Signs/Symptoms

- i. Apathy
- ii. Confusion
- iii. Stupor
- iv. Tetany (+ve Chvosteks Sign)

Chvosteks Sign

Elicited by tapping over the facial nerve as it emerges from the front of Parotid gland. This causes twitching of the upper lip and drawing up of the angle of mouth.

Treatment

- i. निदान परिवर्जन (Therapy for primary-disorder).

- ii. Intravenous saline solution
- iii. Intravenous Potassium-in Hypokalaemias
- iv. Intravenous acidifying agents.

II. Respiratory Alkalosis

It can be defined as an Alkalosis with an acute reduction of plasma bicarbonate with a proportionate reduction in plasma carbondioxide.

Causes

- i. Hyperventilation due to hypoxia.
- ii. Anxiety.
- iii. Fever
- iv. Pulmonary embolism
- v. Carbon monoxide poisoning
- vi. Right to left heart shunt
- vii. Hepatic encephalopathy
- viii. Salicylate poisoning
- ix. Exercise
- x. Excessive mechanical assistance to breathing.
- xi. High altitude

Signs/Symptoms

- i. Hyperventilation
- ii. Paraesthesia
- iii. Dry oral mucosa
- iv. Numbness or tingling of the nose & extremities.
- v. Muscle twitching
- vi. Tetany
- vii. Hyper-reflexion
- viii. Light headnss
- ix. Inability to concentrate
- x. Mental confusion leading to lethargy and coma.

Treatment

- i. निदान परिवर्जन (Avoidance of causes)
- ii. The immediate treatment for acute hyperventilation
- iii. Patient breathe with one nostril closed off and the mouth closed.
- iv. Mechanical ventilation
- v. Treatment of Anxiety
- vi. Meditation therapy etc.

• • •